Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्र

प्रमाण
एक परिशीलन

डॉ० स्वामी मुक्तानन्द पुरी

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
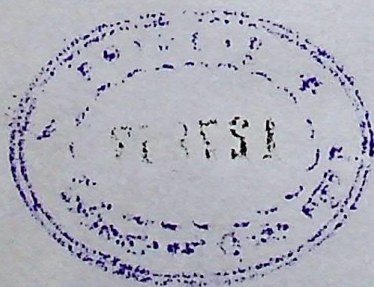
प्रमाण

प्रो० स्वतंत्र कुमार, कुलपति
दवारा प्रदत्त संग्रह

एक परिशीलन

लेखक :

डॉ० स्वामी मुक्तानन्द पुरी

अध्यक्ष -वैदिक अनुसंधान केन्द्र

२० बड़ा परिवार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

हरिद्वार, उत्तराञ्चल

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन के मूलस्रोत वेद हैं। वेदों से प्रसरित होने वाले इस स्रोत का प्रवाह जैसे बढ़ता गया वैसे–वैसे उसका रूप प्रखर होता गया। यह प्रवाह अनेक भागों में विभक्त होकर अपनी गति अधिक भी तीव्रतर बनाता चला गया। सभी भारतीय आस्तिक दर्शन वेदो को स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। जिनमें द्वैतवादीदर्शन न्याय,सांख्य,योग, मीमांसा, वैशेषिक तथा वेदान्त दर्शन की शाखा के मध्वसम्प्रदाय हैं। अद्वैतवाद में वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्य शंकर, रामानुज, वल्लभ और निम्बार्क माने जाते हैं।

भारतीय दर्शनो में तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा दर्शन की ये मुख्य दो धारायें मानी जाती हैं। आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों के कारण तत्व मीमांसा का महत्व कुछ न्यून सा हो गया है। परन्तु ज्ञानमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा का महत्त्व आज भी कम नही हुआ है।

ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होता है? उसके स्रोत क्या हैं ? वह कितने रूपों में विभक्त किया जा सकता है। आदि ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी अनेक प्रकार की ऐसी शंकायें तथा समस्यायें हैं जिनका गहनतम विवेचन भारतीय दर्शनों में उपलब्ध होता है।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय में वेदालङ्कार तथा एम०ए० में अध्ययन करते हुए नव–ज्ञान प्राप्ति के स्रोत को लेकर न्याय और अद्वैत वेदान्त की प्रक्रियाओं को जब कक्षा में समझाया जाता था तो उनमें साम्य और वैषम्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता था। वह साम्य और वैषम्य अनेक समस्याओं का समाधान करते हुए भी विभिन्न प्रकार की नई–नई शंकाओं को मस्तिष्क में जन्म दे देता था।

भारतीय परम्परा में तत्वमीमांसा दृष्टिकोण को लेकर द्वैतवादी और अद्वैतवादी विचार धारायें महोदधि की चचंल उर्मियों की तरह परस्पर टकराती रही है। यह द्वैतवादी और अद्वैतवादी मतभेद ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण में भी न्यून नही रहा है। यह द्वैतवादी और अद्वैतवादी के मध्य शास्त्रीय की धारा अनवरत रूप में बहती हुई मध्यकालीन दार्शनिक आचार्यों के समय तक सागर का रूप धारण कर चुकी थी।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसंधित्सु के मन में अध्ययन करते समय ज्ञान मीमांसा के सम्बन्ध में द्वैतवादी धाराओं के जो प्रत्यय मस्तिष्क में अनेक प्रकार की जिज्ञासायें उत्पन्न करते रहें है उन धाराओं के साम्य और वैषम्य को लेकर शोध किया जाये तथा यह अन्वेषण किया जाये कि कौन सी धारा अधिक उचित है। अतः एव इस शोध प्रबन्ध का उद्देश्य यह है कि ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण को लेकर जो भारतीय दर्शनों की मुख्य रूप से दो धारायें सतत प्रवाहित होती रही हैं उनका साम्य और वैषम्य शोध की दृष्टि से निरुपित किया जाये।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में मध्यकालीन द्वैतवादी एवं अद्वैतवादी आचार्यों तथा उनकी कृतियों का विवरण है। द्वितीय अध्याय में दोनों आचार्यों के अनुसार प्रमेय और प्रमाण कर निरुपण किया गया है। तृतीय अध्याय में दोनों आचार्यों के अनुसार प्रमाणों का वर्गीकरण किया गया है। चतुर्थ अध्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण की समीक्षा तथा उसके भेद व उपयोगिता का वर्णन किया गया है। पंचम अध्याय में ख्यातिवाद का वर्णन है। सर्वप्रथम ज्ञान और भ्रम में विभिन्न भेदों की व्याख्या करते हुए भारतीय दर्शन क्षेत्र में ख्यातिवाद सम्बन्धी विभिन्न मतों का विवेचन किया गया है। षष्ठ अध्याय में अनुमान प्रमाण का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। दोनों के मत में अनुमान प्रमाण के लिए व्याप्ति महत्त्व, अनुमिति का करणलिंग, लिंगी, साहचर्यज्ञान सपक्ष विपक्षपरामर्श ज्ञान, पक्ष पक्षता आदि का भी विवेचन किया है। सप्तम अध्याय में हेत्वाभास का वर्णन है। अष्टम अध्याय में उपमान प्रमाण का उल्लेख कर उसका अन्तर्भाव अन्य तीन प्रमाणों में किया है। नवम अध्याय के अन्तर्गत शब्द प्रमाण और शब्दशक्ति की परीक्षा की गई है। शब्द प्रमाण के स्वरूप तथा लौकिक और अलौकिक शब्द प्रमाण पर विचार किया गया है। दशम अध्याय में अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का वर्णन किया गया है तथा इनका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में किया है। एकादश अध्याय में प्रमाण्यवाद का वर्णन है। प्रामाण्य और अप्रमाण्य के स्वतः और परतः पर विवेचन किया गया है। अन्तिम द्वादश अध्याय में ''उपसंहार'' एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध की निर्विघ्न समाप्ति पर में उस परम पिता

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमेश्वर को अपना नमन करता हूं जिसकी असीम अनुकम्पा से मैं अपना शोध कार्य पूर्ण करने में समर्थ रहा।

इसके अनन्तर में अपने माता–पिता का भी आभार अभिव्यक्त करता हूं जिनका ऋण में कदापि नहीं उतार सकता।

तदनन्तर में अपने अग्रज श्री रामसिंहगोस्वामी एवं श्रीमती चन्द्रकान्ता गोस्वामी के चरणों में नमन करता हूं, जो पिता के अभाव में उनका उत्तरदायित्व ग्रहण कर पिता के अभाव को अनुभव नहीं होने दिया तथा सतत शिक्षा की ओर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान करते रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ गुरुकुल कागंडी विश्वविद्यालय के दर्शन विभागाध्यक्ष प्रो जयदेव वेदालंकार के निर्देशन में सम्पन्न हुआ हैं। प्रो जयदेव अपने विषय के प्रकाण्ड एवं उद्‌भट्‌ट विद्वान् हैं। भारतीय दर्शन के विद्वान् के रूप में आप सम्पूर्ण भारत में ख्याति प्राप्त हैं। आपने अनेक पुस्तकों का भी सृजन किया है। जो पुरस्कार से भीं पुरष्कृत की गई हैं। जब–जब भी मेरे समक्ष शोध–प्रबन्ध लिखने में कोई समस्या उपस्थित हुई तो आपने उसका समाधान ही नही किया अपितु विचार करने की एक नई दिशा भी दी। एतदर्थ में आपका सद्वेव आभारी रहूगाँ।

मैं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के तत्कालीन आचार्य एवं उपकुलपति प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार, एवं कुलसचिव प्रो० महावीर अग्रवाल, अध्यक्ष संस्कृत विभाग का भी हृदय से आभार अभिव्यक्त करता हूं जिन्होनें अपने स्नेह रूपी गंगा जल से मुझे सदा चरैवेति की शिक्षा दी तथा अध्ययन में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करने में मेरी सहायता की।

प्रो० वेद प्रकाश शास्त्री, डॉ० त्रिलोकचन्द तथा डॉ० यू. एस. विष्ट, का भी हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। जो समय–समय पर मुझे सुझाव देते रहे।

समादरणीय प्रो० विजयपाल शास्त्री, दर्शन विभाग का मैं सदा आभारी रहूंगा जिन्होंने समय–समय पर प्रेरणा की नदी बहाकर इस कार्य को पूर्ण करने के लिए मुझे उत्साहित किया। समय–समय पर अपने सुझाव प्रदान कर मेरे लिए भारतीय दर्शन का मार्ग सदा प्रशस्त किया है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो० स्वतन्त्रकुमार कुलपति गु०कां०वि0वि0 का भी मैं आभार प्रकट करता हूं जिनका स्नेह मुझ पर बना हुआ है।

अपने अनन्य सुहृत मित्रवर श्री बसन्त कुमार आर्य, रीडर, संस्कृत विभाग दयाल सिंह, कालेज करनाल तथा श्री प्रेमचन्द्र शास्त्री, राजकीय आयुर्वैदिक कालेज गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार का भी आभार प्रकट करता हूं, जिन्होंने हर–तरह की सहायता की है।

आचार्य सत्यदेव निगमालङ्कार वरिष्ठ प्रवक्ता वेद विभाग, गु०का०वि०वि०, श्री अरविन्द योग मन्दिर एवं वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर के अधिकारियों का मैं हृदय से धन्यवाद करता हूं, जिन्होंने एकान्त कुटी तथा पूर्ण सहयोग प्रदान कर मुझे उपकृत किया है। इसके साथ ही गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के समस्त कर्मचारियों का भी मैं हृदय से आभार अभिव्यक्त करता हूं।

श्री आनन्द कुमार, विरजा, हालिण्ड निवासी, श्री अरविन्द कुमार राठी, राजेन्द्र जिज्ञासु अवोहर का भी आभार प्रकट करता हूं।

स्वामी सत्यप्रकाश संस्थापक अध्यक्ष अन्तराष्ट्रिय दयानन्द वेद पीठ दिल्ली, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पूर्व परिद्रष्टा गु०का०वि०वि० ब्रह्मचारी गुरुदत्त, श्री भद्रसेन सहगल तथा अन्य सभी मान्य विद्वानों का भी हृदय से आभार प्रकट करता हूं।

अन्त में मैं उन सभी का हृदय से धन्यवाद करता हूं जिनका इस कार्य में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहयोग एवं मार्ग–दर्शन मिला है।

दिनांक : २/११/०२ **स्वामी मुक्तानन्द पुरी**
दीपावली पर्व

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय सूची

अध्याय, विषय एवं पृष्ठसंख्या

प्राक्कथन क–घ

१. **विषय प्रवेश** १-६

(क) द्वैतवादी और अद्वैतवादी आचार्यों की कृतियों तथा भाष्यों का संक्षिप्त परिचय। (ख) **द्वैतवादी आचार्य** – वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, उद्योतकर, जयन्त भट्ट, भासर्वज्ञ, उपस्कर, प्रशस्तपाद, श्रीधराचार्य, विश्वनाथ पंचानन, अनंगभट्ट, केशव मिश्र, विज्ञानभिक्षु, ईश्वरकृष्ण, माधवाचार्य। (ग) **अद्वैतवादी आचार्य** – आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज, चित्सुखाचार्य, आनन्दबोध, धर्मराजध्वरीन्द्र, वाचस्पतिमिश्र, रामकृष्ण, सदानन्द, मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द न्यायतीर्थ वेंकटनाथ, श्रीनिवास और बल्लभाचार्य आदि।

२. **प्रमेय और प्रमाण** १०-५१

द्वैतवादी आचार्यो द्वारा प्रमेय प्रमाण का निरूपण। उपरोक्त अद्वैतवादी आचार्यों द्वारा प्रमेय प्रमाण का निरूपण। प्रमेय और प्रमाण के विषय में अन्य दार्शनिकों का मत। समालोचना।

३. **प्रमाणों का वर्गीकरण** ५२-६५

द्वैतवाद दर्शन में प्रतिपादित प्रमाण। अद्वैतवाद दर्शन में प्रतिपादित प्रमाणों की संख्या। अन्य दर्शनों में प्रतिपादित प्रमाणों की संख्या। समालोचना।

४. **प्रत्यक्ष प्रमाण मीमांसा** ६६-१०६

द्वैतवादी आचार्यों के अनुसार प्रत्यक्ष की परिभाषा। अद्वैतवादी आचार्यों के अनुसार प्रत्यक्ष की परिभाषा। द्वैतवादी आचार्यों के अनुसार प्रत्यक्ष के भेद। अद्वैतवादी आचार्यों के अनुसार प्रत्यक्ष के भेद। प्रत्यक्ष के विषय में अन्य दार्शनिक मत। इन्द्रियों का वर्णन। इन्द्रियों के भेद, स्वरूप तथा लक्षण। प्रत्यक्ष में मन का उपयोग। लौकिक तथा अलौकिक सन्निकर्ष। समालोचना।

५. **ख्यातिवाद** १०७-१२६

ज्ञान और भ्रम के विभिन्न भेद। भारतीय दर्शनों में ख्यातिवाद संबन्धी विभिन्न मत। द्वैतवादी आचार्यों का ख्यातिवाद। अद्वैतवादी आचार्यों का ख्यातिवाद। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भ्रम व ख्याति। समालोचना।

६. **अनुमान प्रमाण** १३०-१८२

अनुमान की व्याख्या। द्वैतवादी आचार्यों के अनुसार अनुमान की व्याख्या।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैतवादी आचार्यों के अनुसार अनुमान की व्याख्या। अनुमान प्रमाण के लिए व्याप्ति का महत्त्व। द्वैतवादी आचार्यों के अनुसार अनुमिति का कारण। अद्वैतवादी आचार्यों के अनुसार अनुमिति का कारण। दोनों के अनुसार लिंग लिंगी सहचर्यों का ज्ञान, सपक्ष विपक्ष परामर्शज्ञान पक्षपक्षता आदि पर विचार। द्वैतवाद व अद्वैतवाद के अनुसार अनुमान के विभिन्न भेद। दोनों के दर्शनों व भाष्यों में अवगत वाक्य। अन्य दर्शनों में अनुमान का स्वरूप तथा उसकी तुलना। समालोचना।

७. **हेत्त्वाभास –** १८३-२००

द्वैतवाद में अवयव वाक्य। अद्वैतवाद में अवयव वाक्य। अन्य दर्शनों में हेत्वाभास। द्वैतवाद में हेत्वाभास। अद्वैतवाद में हेत्वाभास। व्याप्यत्वासिद्ध परिभाषा वर्गीकरण तथा भेद। दर्शन शास्त्र में हेत्वाभास की उपयोगिता। समालोचना।

८. **उपमान प्रमाण** २०१-२१५

उपमान प्रमाण की परिभाषा। द्वैतवादी आचार्यों की उपमान प्रक्रिया। अद्वैतवादी आचार्यों की उपमान समीक्षा। उपमान प्रमाण के विषय में विभन्न आचार्यो के मत। समालोचना।

९. **शब्द प्रमाण** २१६-२५४

शब्द शक्ति। शक्तिग्रहं के उपाय। द्वैतवाद व अद्वैतवाद के मत में शब्द प्रमाण एक स्वरूप एवं विचार। द्वैतवाद में शब्द प्रमाण। अद्वैतवाद में शब्द प्रमाण। द्वैतवाद और अद्वैतवाद में शब्द स्वरूप पर विचार। लक्षण भेद तथा उनका मूल्य। लौकिक और अलौकिक शब्द प्रमाण पर विचार। अन्य दर्शनों की दृष्टि में शब्द प्रमाण की परिभाषा एवं व्याख्या। समालोचना।

१०. **अर्थापत्ति और अनुपलब्धि** २५५-२७३

अद्वैतवादी आचार्यों के मत में अर्थापत्ति और अनुलब्धि प्रमाण का निरूपण। द्वैतवादी आचार्यों के मत में अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का अन्य प्रमाणों में अन्तर्भाव। समालोचना।

११. **प्रामाण्यवाद** २७४-२८४

प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध में दार्शनिकों के विभिन्न मत। अद्वैतवादी आचार्यों के मत में प्रामाण्यवाद। द्वैतवादी आचार्यों के मत में प्रामाण्यवाद ।समालोचना।

१२. **उपसंहार एवं निष्कर्ष।** २८५-२९४

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची २९५-२९८

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय
विषय प्रवेश

द्वैतवादी और अद्वैतवादी आचार्यों की कृतियों तथा भाष्यों का संक्षिप्त परिचय –

वात्स्यायन –

न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन हैं। वात्स्यायन के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कामन्दकीय नीतिसार की टीका के अनुसार कौटिलीय अर्थशास्त्र और न्यायभाष्य के रचनाकार एक ही हैं। परन्तु यह कथन इतिहास विरुद्ध है। कौटिल्य का समय वात्स्यायन से पूर्व है। कौटिल्य का समय ईसा पूर्व चतुर्थशती माना जाता है। जबकि वात्स्यायन को ईसा पश्चात् माना जाता है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन और कामसूत्रकार वात्स्यायन एक ही है। ऐसा भी विद्वानों का मत है। जैकोवी के अनुसार इनका समय 300 ई0 के आस–पास है। संभवतः इनका नाम पाक्षिलस्वामी था। वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में इस नाम का उल्लेख किया है। वात्स्यायन इनके गोत्र का नाम ही होगा।

न्यायसूत्रों के स्पष्टीकरण का श्रेय वात्स्यायन को ही जाता है। वस्तुतः आज जो न्याय के सिद्धान्तों का विकसित रूप हमारे सामने है उनके विकास का उपक्रम वात्स्यायन ने ही किया है।

उद्योतकर –

उद्योतकर ने वात्स्यायन भाष्य पर वार्तिक लिखा है। भाष्य के समान वार्तिक भी व्याख्या की एक स्वतन्त्र विधा है जिनमें उक्त अनुक्त और दुरुक्त पर विचार किया जाता है। उद्योतकर को भारद्वाज भी कहा गया है। संभवतः ये भारद्वाज गोत्रोत्पन्न रहे होगें। सुबन्धु ने अपने गद्यकाव्य वासवदत्ता में उनका उल्लेख किया है। सुबन्धु की वासवदत्ता का उल्लेख बाण ने अपने हर्षचरितसार में किया है। बाण का समय 650 ई0 माना जाता है। इसलिए उद्योतकर उसके पूर्व 5वीं या 6वीं शदी में होने चाहिए।

जयन्तभट्ट :–

जयन्तभट्ट न्यायमंजरी के कर्ता हैं। इन्होंने न्यायमंजरी ग्रन्थ के

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्त में अपने पिता का श्रीचन्द्र पण्डित के रूप में उल्लेख किया है। जयन्त ने न्यायमंजरी में आचार्य धर्मकीर्ति का उल्लेख किया है। धर्मकीर्ति का समय ई0 520 से 650 ई0 तक माना जाता है। इसके आधार पर जयन्त 650 के पश्चात् ही हैं। इनके पुत्र अभिनन्द पण्डित ने अपनी रचना कादम्बरीकथासार में अपने वंश का परिचय दिया है। इससे ज्ञात होता है कि जयन्तभट्ट काश्मीर नृपति मुक्तापीड के अमात्य शक्तिस्वामी के प्रपौत्र थे। इसलिए अनुमान किया जाता है कि मुक्तापीड नरपति के सौ वर्ष के भीतर इनका जन्म हुआ था। काश्मीराधिपति मुक्तापीड का समय 710 से 760 का है। उनके मंत्री शीतस्वामी का समय 725 से 750 पर्यन्त, उनके पुत्र कल्याणस्वामी का समय ई0 750 से 820 तक, उनके पुत्र श्रीचन्द्र का 810 से 870 तक का, और उनके पुत्र जयन्त का समय 850 ई0 से 910 ई0 तक का निश्चित होता है।

न्यायमंजरी में प्रथम न्यायसूत्र के अनुसार षोडश पदार्थ प्रतिपादक 16 प्रकरण है। उसमें 12 आह्निक हैं।

उदयनाचार्य –

जयन्त के उपरान्त न्यायशास्त्र के योगदाता के रूप में उदयनाचार्य उपस्थित होते हैं। उदयनाचार्य न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय के विलक्षण प्रतिभा वाले आचार्य हैं। इनका समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग है। इन्होंने अपनी "लक्षणावली" नामक ग्रन्थ की समाप्ति का समय दिखलाया है जो ई0 सम्वत् के अनुसार 984 हो सकता है। इन्होंने न्याय वैशेषिक पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। तात्पर्य टीका पर इनकी परिशुद्धि नामक एक विस्तृत टीका है। प्रशस्तपाद भाष्य पर किरणावली नामक व्याख्या है। इनके अतिरिक्त न्यायकुसुमांजली तथा आत्मतत्वविवेक इनके दो महत्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ हैं। न्यायकुसुमांजली में अनेक युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि की गई है तथा आत्मतत्वविवेक में आत्मा की सिद्धि की गई है।

भासर्वज्ञ –

भासर्वज्ञ के विषय में यह संभावना की जाती है कि ये काश्मीर के होंगे। न्यायसार के प्रथम श्लोकों में उन्होंने शिव की स्तुति की

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और उस समय शैव धर्म काश्मीर में अधिक प्रचलित था। उदयनाचार्य ने अपनी किरणावली नामक ग्रन्थ में उनके न्यायसार एवं न्यायसार की टीका न्यायभूषण के मत का निरसन किया है। इससे इनका काल उदयन से पूर्व है। उदयनाचार्य का समय 984 ई0 सन् है। परन्तु वाचस्पति मिश्र नें इनका कोई उल्लेख नहीं किया। अतः भासर्वज्ञ का काल 875 से 925 ई0 के मध्य होना चाहिए।

प्रशस्तपाद –

प्रशस्तपादाचार्य ने महर्षि कणाद के सूत्रों पर जो भाष्य लिखा है, वह प्रशस्तपादभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ भाष्य के लक्षण के अनुसार भाष्य नहीं है। क्योंकि जिसमें सूत्र के पदों के अनुसार सूत्रार्थ का वर्णन किया जाता है, उसे ही विद्वान् भाष्य कहते हैं। इसमें सूत्र के पदों के अनुसार सूत्रार्थ का वर्णन नहीं है। महर्षि ने इसे "पदार्थ धर्मसंग्रह ही कहा है परन्तु विद्वत्समाज में यह भाष्य के रूप में ही प्रसिद्ध है।

कीथ ने आचार्य प्रशस्तपाद को दिङ्नाग का उत्तरवर्ती माना है किन्तु जैकोबी ने यह सिद्ध किया है कि ये दिङ्नाग के पूर्ववर्ती है। विद्वानों का यह भी कहना है कि वसुबन्धु तथा दिङ्नाग पर प्रशस्तपाद भाष्य का प्रभाव परिलक्षित होता है। कुछ विद्वान् इस मत से ठीक विपरीत हैं। उनके मतानुसार प्रशस्तपाद का समय 5वीं शती में होना चाहिए।

श्रीधराचार्य –

वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य पर श्रीधर की न्याय कंदली टीका है। यह टीका महत्त्वपूर्ण है। इसमें कई नये सिद्धान्तों की उद्भावना की गयी है। न्यायकंदलीकार श्रीधर का जन्म इन्हीं की टीका के अन्त में प्रदत्त समयानुसार 1991 सं0 प्रतीत होता है। श्रीधराचार्य भूरीसृष्टि नामक ग्राम के वासी थे। जो दक्षिण बंगाल में पड़ता है। आचार्य ने अपने टीका में अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है। जो इस समय सर्वथा अनुपलब्ध हैं। वे ग्रन्थ हैं अद्वैतसिद्धि, तत्त्वप्रमोद, तत्त्वसंवादिनी तथा संग्रहटीका हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वनाथ पंचानन –

विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य बंगाल देश निवासी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम श्रीनिवास भट्टाचार्य था। इन्होंने अपने राजीव नामक शिष्य पर कृपा करके 1556 शालीवाहन शक में न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थ की रचना की थी।

केशव मिश्र –

केशवमिश्र ने अपने समय तथा स्थान आदि के विषय में कुछ नहीं लिखा है। केशवमिश्र ने असिद्ध हेत्वाभास के सन्दर्भ में नामोल्लेख करते हुए उदयनाचार्य का मत उद्धृत किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि केशवमिश्र के समय से पूर्व उदयनाचार्य का समय है। अर्थात् केशवमिश्र उदयनाचार्य के अनन्तर ही है। तर्कभाषा के प्रसिद्ध टीकाकार ने अपनी तर्क भाषा प्रकाशिका नामक टीका हरिहर महाराज के काल में लिखी है। इतिहास में हरिहर तथा बुक्काराय भाई–भाई हैं। उनका समय 1350–1400 ई0 तक माना जाता है। इससे यह निश्चित किया जा सकता है कि केशवमिश्र के समय की अपर सीमा 1400 ई0 हो सकती है। इस प्रकार केशवमिश्र का समय 1000 ई0 से 1400 ई0 के मध्य ही होगा।

ईश्वर कृष्ण –

इनकी सांख्यकारिका सांख्य का लोकप्रिय तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिक ने शारीरिकभाष्य में सांख्यमत के उपन्यास करने के समय सांख्यसूत्र का निर्देश न करके इन्हीं की कारिकाओं से उदाहरण दिया है। इस घटना से भी इसकी प्रामाणिकता तथा प्राचीनता की पुष्टि हो सकती है। चीनी भाषा में वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ का अनुवाद परमार्थ के द्वारा छटी शताब्दी में किया गया मिलता है। चीनी भाषा में इसे हिरण्यसप्तति या सुवर्णसप्तति कहते हैं। जापानी विद्वान् डा0 तर्काकुसु ने ईश्वरकृष्ण तथा विंध्यवासी की एकता मानी है परन्तु समय और सिद्धान्त में नितान्त पार्थक्य होने से इन आचार्यों में अभिन्नता कथमपि मानी नहीं जा सकती। ईश्वरकृष्ण का आविर्भाव काल चतुर्थ शतक में साधारणतया बतलाया जाता है। परन्तु वस्तुतः

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे कहीं अधिक प्रचीन है।

विज्ञानभिक्षु –

विज्ञानभिक्षु एक प्रकार से सांख्य के अन्तिम आचार्य हैं। 16वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में ये काशी में ही विद्यमान थे। भिक्षु नाम धारण करने पर भी न तो ये बौद्ध थे और न दशनामी सन्यासियों में अन्तर्गत थे। वे बड़े स्वतन्त्र विचार के सांख्याचार्य थे। इन्होंने उपनिषद् तथा पुराणों के युग के अनन्तर विमुक्त होने वाले सांख्य और वेदान्त में हृदयंगम सामंजस्य दर्शाया है। इन्होंने तीन दर्शनों के ऊपर भाष्य लिखे हैं। सांख्य पर– सांख्य प्रवचन भाष्य, योग पर– योगवार्तिक भाष्य, ब्रह्मसूत्र पर– विज्ञानामृतभाष्य। इनके अतिरिक्त "सांख्यसार" तथा "योगसार" में इन दर्शनों के सिद्धान्त का संक्षिप्त प्रतिपादन सरल ढंग से किया गया है।

माध्वाचार्य –

माध्वमत का दूसरा नाम "ब्रह्मसम्प्रदाय" है। वायु से यह मत हनुमान् को प्राप्त हुआ, हनुमान् से भीम को तथा अन्त में आनन्दतीर्थ को। आनन्दतीर्थ का ही प्रसिद्ध नाम मध्व, पूर्णबोध या पूर्णप्रज्ञ है। दक्षिण में 'उडुपी' नामक प्रसिद्ध स्थान के पास 1199 ई0 में उनका जन्म हुआ था तथा 1303 ई0 में इनकी मृत्यु मानी जाती है। भारत के प्रमुख तीर्थों में पर्यटन कर आपने अपने द्वैतमत का प्रचुर प्रचार किया। आपके 37 ग्रन्थों में से कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थ यें हैं– ब्रह्मसूत्रभाष्य, अनुव्याख्यान, ऐतरेय, छान्दोग्य, केन, कठ, वृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य, गीताभाष्य, भागवत्तात्पर्यनिर्णय, महाभारत तात्पर्यनिर्णय तथा तन्त्रसारसंग्रह।

वाचस्पति मिश्र –

वाचस्पति मिश्र मिथिला निवासी थे। अपनी विशेष शेमुषी के कारण ये "सर्वतन्त्रस्वतन्त्र" कहलाते थे। जिस विषय पर भी इन्होंने लिखा, उसे अपनी प्रकाण्ड प्रतिभा तथा विद्वता से प्रकाशित कर दिया। उन्होंने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि शास्त्र के व्याख्यान की प्रतिपादन शैली की विशेषता के कारण किसी भी ग्रन्थ रहस्यों का उद्घाटन करने में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कठिनाई नहीं आने दी। वाचस्पतिमिश्र का समय अविवादास्पद है। उन्होंने न्याय वार्तिक तात्पर्यटीका की समाप्ति पर गौतम के मूल न्यायसूत्रों का संपादन किया है और उनका "न्यायसूची" निबन्ध के नाम से उल्लेख किया है। वहां उपसंहार में संवत्सर का उल्लेख किया है। उनकी यह रचना 898 ई0 में हुई। अतः इनका समय नवमी शताब्दी का मध्य भाग है।

महामहोपाध्याय डा0 गंगानाथ झा ने सांख्यतत्वकौमुदी का एक संस्करण 1934 ई0 में ओरिएण्टल बुक एजेंसी, पूना प्रकाशन से संपादित किया है। इसकी भूमिका में डा0 झा ने यह सिद्ध किया है कि वाचस्पति मिश्र 841 ई0 में हुए किन्तु अपने एक निबन्ध में भी दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने डा0 झा के तर्कों पर आपत्ति प्रकट करते हुए यह सिद्ध किया है कि वाचस्पतिमिश्र का स्थिति काल 10वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में था परन्तु इन दोनों विद्वानों की समालोचना कर पं0 उदयवीर शास्त्री के मतानुसार वाचस्पति मिश्र का समय 841 ई0 (898) विक्रम है।

वाचस्पति मिश्र ने वैशेषिक दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों पर अपनी लेखनी चलाई है। उनके ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है –

न्याय – न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, न्यायसूत्री निबन्ध।

सांख्य – सांख्यतत्त्वकौमुदी युक्ति दीपिका (अप्राप्त)

योग – तत्त्ववैशारदी (व्यास भाष्य पर)

मीमांसा – न्यायकणिका तत्त्वबिन्दु

वेदान्त – भामती, तत्त्वसमीक्षा या ब्रह्मतत्त्व समीक्षा, ब्रह्मसिद्धि, वेदान्ततत्त्व कौमुदी। (अन्त के तीनों ग्रन्थ अप्राप्त)।

न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका –

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने जब उद्योतकराचार्य के न्यायवार्तिक का खण्डन किया तो उसका प्रत्युत्तर देने के लिए वाचस्पति मिश्र ने इस ग्रन्थ का सृजन किया। वाचस्पति मिश्र ने अपने पूर्ववर्ति धर्मकीर्ति के जिन सिद्धान्तों का खण्डन अपनी तात्पर्य टीका में किया है उनमें

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निग्रह स्थानों के विवेचन का मुख्य स्थान है।

अद्वैतवादी आचार्य –

आचार्य शंकर – ये अलौकिक मेधासम्पन्न पुरुष थे। इनकी अलौकिक विद्वता सर्वातिशायिनी शेमुषी, असाधारण तर्क पटुता देखकर किसी भी आलोचक का मस्तक गौरव से इनके सामने नत हुए बिना नहीं रहता। इनका जन्म 788 ई0 तथा निर्वाण काल 820 ई0 माना जाता है। 32 वर्ष की स्वल्प आयु में आचार्य ने वैदिक धर्म की उदार तथा प्रतिष्ठा का जो महनीय कार्य सम्पादन किया वह अद्वितीय है। इसलिए वे भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं। मालाबार प्रान्त के एक ब्राह्मण के घर जन्म लेकर इन्होंने काशी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। आचार्य गौडपाद के शिष्य गोविन्द भगवत्पाद के ये शिष्य थे।

प्रस्थानत्रयी के आद्य उपलब्ध भाष्यकार आप ही हैं उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं – उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, माण्डुक्यकारिकाभाष्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, सौन्दर्यलहरी, उपदेश सहस्री आदि। उनकी रचना शैली रोचक है। गम्भीर विषयों को सरल शब्दों में अभिव्यक्त करने में इनकी कला इतनी मनोरम है कि उनके "प्रसन्नगम्भीर" भाष्य साहित्यिक दृष्टि से भी अनुपम है।

आनन्दबोध –

ये 12वीं शताब्दी के आचार्य हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायमकरन्द वेदान्त का माननीय ग्रन्थ है।

चित्सुखाचार्य –

चित्सुखाचार्य 13वीं शताब्दी में हुए थे। ये अपनी कृति तत्त्वप्रदीपिका जिसका प्रसिद्ध नाम चित्सुखी है, से विख्यात हो गये हैं। पर इनकी अन्य रचनायें शारीरिकभाष्य पर भावप्रकाशिका, ब्रह्मसिद्धि पर अभिप्रायप्रकाशिका, नैष्कर्म्यसिद्धि पर भावतत्त्वप्रकाशिका कम महत्त्वशालिनी नहीं हैं।

मधुसूदन सरस्वती –

मधुसूदन सरस्वती 16वीं शतक में काशी के संन्यासियों में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्रगण्य थे। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ रत्न "अद्वैतसिद्धि" है। जिसके द्वारा द्वैतवादियों की युक्तियों का मार्मिक खण्डन कर अद्वैततत्त्व की प्रभा का सर्वत्र विस्तार किया गया है। वेदान्तकल्पतरु, सिद्धान्तबिन्दु, गीता टीका आज भी लोकप्रिय हैं।

धर्मराजध्वरीन्द्र –

ये नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य तथा वेंकटनाथ के शिष्य थे। इनकी "वेदान्त परिभाषा" वेदान्त प्रमाण शास्त्र पर एक अनुपम ग्रन्थ हैं। इसमें अद्वैताभिमत छः प्रमाणों का युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है। तत्त्वचिन्तामणि की दश टीकाविभंजन अभिनवाटीका के निर्माता होने से इस ग्रन्थकार की तार्किक विद्वता में किसी को संदेह नहीं हो सकता। ये अद्वैत के प्रसिद्व आचार्य हैं।

सदानन्द --

ये 16वीं शताब्दी के आचार्य हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है वेदान्तसार। वेदान्तसार को सरल विवेचन के कारण विद्वज्जन अद्वैतवेदान्त का प्रथम सोपान के रूप में स्वीकार करते हैं।

आचार्य रामानुज –

इनका काल 1037 ई0 से 1137 ई0 तक माना जाता है। ये यामुनाचार्य के पौत्र श्रीशैलपूर्ण के भागिनेय थे। आचार्य यादवप्रकाश से पहले वेदान्त पढ़ते थे परन्तु गुरु के अद्वैत मत में विपुल दोष देखकर इन्होंने पढ़ना छोड़कर अन्य आचार्यो से वैष्णवशास्त्र का अध ययन किया। ये यामुनाचार्य के अनन्तर प्रधान आचार्य बने। पत्नी से मतभेद, संन्यास ग्रहण, शैवमतानुयायी चोल नरेश के अत्याचारों से तंग आकर मैसूर में भाग आना, मेलकोट से लगभग बारह वर्ष तक निवास आदि इनकी जीवनघटनायें प्रसिद्ध हैं।

इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर विशिष्टाद्वैत मतानुयायी भाष्य की रचना की है। इनका ब्रह्मसूत्र भाष्य "श्रीभाष्य" के नाम से विख्यात है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं– वेदार्थसंग्रह, वेदान्तसार गद्यत्रय तथा गीताभाष्य। श्रीभाष्य रामानुज के पाण्डित्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का विस्तृत प्रामाणिक विवेचन है। ये विशिष्टाद्वैत मत के

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवर्तक थे।

वेंकटनाथ –

इनका समय 1269 से 1369 ई0 माना जाता है। इनकी कोटि का विद्वान् श्रीवैष्णवपन्थ में कोई नहीं हुआ। ये कवि तार्किक, विचारक, शास्त्रार्थ वावदूक के रूप में समभावेन आदरणीय हैं। इनके दार्शनिक ग्रन्थ–तत्त्वटीका, अधिकरण सारावली, तत्त्वमुक्ताकलाप, न्यायपरिशुद्धि और न्यायसिद्धांजन है। न्यायपरिशुद्धि में विशिष्टाद्वैतमत की प्रमाणमीमांसा वर्णित है।

श्रीनिवासः –

ये 16वीं शती के आचार्य हैं। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "यतीन्द्रमतदीपिका" के नाम से विख्यात है। इसमें प्रमाण तथा प्रमेय दोनों का विवेचन है।

वल्लभाचार्य –

ये शुद्धाद्वैत मत के प्रवर्तक माने जाते हैं। पद्मपुराण के अनुसार रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी थे। नामदास जी के भक्तमाल से पता चलता है कि विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में ही ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन आदि सन्त थे तथा वल्लभ ने इसी मार्ग का अनुसरण कर अपना शुद्धाद्वैत मूलक पुष्टिमार्ग चलाया। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वशाली यह कथन बतलाता है कि विष्णुस्वामी का समय ज्ञानदेव से पहले है। ज्ञानदेव का समय 1275 से 1296 ई0 तक का है। सकलाचार्यभावसंग्रह में भी श्रीनिवास के कथनानुसार ये शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक थे।

वल्लभ का जन्म 1479 ई0 में हुआ था। इनकी जीवन घटनायें प्रयाग, काशी तथा वृन्दावन से सम्बद्ध हैं। विजयनगराधीश श्रीकृष्णराय (1500–1525 ई0) के दरबार में द्वैतमत के आचार्य व्यासतीर्थ की अध यक्षता में इन्होंने अद्वैतवादियों को परास्त कर अपनी विद्वता का पूर्ण परिचय दिया था। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं – ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य, तत्त्वदीपनिबन्ध तथा सुबोधिनी टीका।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय
प्रमेय और प्रमाण

द्वैतवादी आचार्यों द्वारा प्रमेय प्रमाण का निरूपण –

महर्षि गौतम ने द्वादश प्रमेय स्वीकार किये हैं जो क्रमशः आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग नाम से जाने जाते हैं।

आत्मा सबका देखने वाला, सबका भोक्ता, सर्वज्ञ और सर्व अनुभव करने वाला है। इस आत्मा के भोग के आयतन को शरीर कहते हैं, भोग के साधनों को इन्द्रियाँ कहते हैं। भोग्य विषय अर्थ है। भोग अर्थात् सुख–दुःख के अनुभव को बुद्धि कहते हैं। सम्पूर्ण प्रकार के अर्थ की उपलब्धि में इन्द्रियाँ समर्थ नहीं होती। अतः सर्वविषयग्राहिता आन्तरिक कारण मन है। शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि तथा वेदना सम्पादन का कारण प्रवृत्ति कहलाती है। दोष नामक प्रमेय भी प्रवृत्ति सदृश ही है। आत्मा का शरीर अपूर्व तथा अनुत्तर अर्थात् पूर्व शरीरों का आदि नहीं है और उत्तर शरीरों का अपवर्ग अन्त है यह ही प्रेत्यभाव है। साधनों सहित सुख और दुःख उपभोग फल हैं। दुःख नामक प्रमेय अनुकूलवेदनीय सुख की प्रतीति का प्रत्याख्यान नहीं है तो क्या है? जन्म से लेकर सुख साधन सहित उसका दुःख से सम्बंन्ध होने से, दुःख से अविप्रयोग होने के कारण विविधवासना संयोग से यह सुख दुःख ही है, समाधि भावना हेतु उपाद हुआ है। समाहित भावना करता है। भावना से खिन्न होता है। खिन्नता से वैराग्य होता है, विरक्तता से अपवर्ग प्राप्त होता है।

---

(1) आत्माशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनप्रवृत्ति दोषप्रेत्ययाफलदुःखायापवर्गस्तु प्रमेयम्। न्या० सू० 1/1/9

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्ममरण प्रवाह का उच्छेद, सर्वदुःखनाश जहां हो वह अपवर्ग है।[1]

वात्स्यायन ने द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेष समवायों को प्रमेय के रूप में स्वीकार कर लिया। परन्तु इन्हीं द्वादश के जानने से मोक्ष और विपरीत ज्ञान से संसार उत्पन्न होता है। अतः इनका ही विशेष उपदेश किया है।[2]

इस प्रकार प्रमेय का यह लक्षण सिद्ध हुआ। **"प्रकृष्टं मेयं प्रमेयम्"**। अर्थात् जो अन्य मेय पदार्थों से उत्पन्न हो, मोक्ष प्राप्ति के लिए जानना जिसका आवश्यक हो वह प्रमेय है। उसी अभिप्राय से जयन्तभट्ट का कथन है कि जिसके यथार्थ ज्ञान से मोक्ष और

---

(1) तत्राऽहं सर्वस्य दृष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभवी च तस्य भोगायतनं शरीरम्। भोगसाधनानीन्द्रियाणि। भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः। भोगो बुद्धि सर्वार्थोपलब्धो नेन्द्रियाणि प्रभवन्ति–इति सर्वविषयमन्तःकरणं मनः।शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखवेदनानां निवृतिकारणं प्रवृत्तिः दोषाश्च। नाऽस्येदं शरीरमपूर्वमनुत्तरं च, पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति उत्तरेषामपवर्गोऽन्त इति प्रेत्यभावः। ससाधनसुखदुःखोपभोगः फलम्। दुःखमिति नेदमनुकूलवेदनीयस्य सुखस्य प्रतीतेः प्रत्याख्यानम्। किं तर्हि? जन्मन एवेदं सुखदुःखसाधनस्य दुःखानुषगांत् दुःखेनाविप्रयोगाद्विविधवाधनायोगाद् दुःखमिति समाधिभावनमुपदिश्यते। समाहितो भावयति, भावयन्निर्विद्यते, निर्विण्णस्य वैराग्यं विरक्तस्यापवर्ग इति। जन्ममरण प्रबन्धोच्छेदः सर्वदुःखप्रहाणमपवर्ग इति। वात्स्यायनभाष्य न्या०सू० 1/1/9.

(2) अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम् तद्वेदेन चापरिसंख्येयम्। अस्यातु तत्त्वज्ञानादपवर्गो मिथ्या ज्ञानात्संसार इत्यी तदुपदिष्टं विशेषेणेति। न्या० सू० वा०भा० 1/1/9

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिथ्याज्ञान से बन्धन होता है। वह ही यहां प्रमेय नाम से अभीष्ट है। इसी कथन को उद्योतकर ने अपने न्यायवार्तिक में कहा है।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि केवल प्रमाण का विषय होने से ही कोई पदार्थ प्रमेय नहीं होता है। यदि सूत्र की प्रवृत्ति सामान्य प्रमेय का अवधारण करने के लिए होती है तो सूत्रकार विधान किये का पुनः विधान करने के कारण अकुशल हो जाता क्योंकि प्रथम सूत्र से ही प्रमेयों का विधान किया जा चुका है इसलिए फिर प्रमेय का कथन करने से यह वाक्य प्रमत्त का वाक्य हो जाता है। इस अर्थ का बोध करने वाले सूत्रकार ने यहां "तु" शब्द का प्रयोग किया है। जिससे सिद्ध होता है कि अन्य भी प्रमेय है किन्तु जिसके सम्यक् ज्ञान से मोक्ष होता है वह यह प्रमेय है यही "तु" शब्द से सूत्रकार सूचित करता है।

यहां इतना स्मरण रहे कि उपरोक्त द्वादश प्रकार का प्रमेय पदार्थ है तथा उपादेय भेद से दो प्रकार का होता है।[3]

---

(1) ज्ञातं सम्यगसम्यग्वा यन्मोक्षाय भवाय वा।
तत्प्रमेयमिहाभिष्टं न प्रमाणार्थमात्रकम्।।

(2) यदनेन प्रमाणेन यथावत् परिज्ञायमानमपवर्गाय अनवगम्यमानं च संसारायेति।

(3) तद्व द्वादशविधत्वेऽपि हेयोपादेयभेदतः।
द्विधोच्यते सुसूक्ष्माणं तथैवध्यानासिद्धये।
तत्तदेहादिदुःखान्तं हेयमेव व्यवस्थितम्।
उपादेयापवर्गास्तु द्विधावस्थितिरात्मनः।।
सुखदुःखादि भोक्तृत्वस्वभावो हेय एव सः।
उपादेयस्तुभोगादि व्यवहारपदाऽमुखः।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी अभिप्राय से जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी में कहा है कि प्रमेय पदार्थ के हेयोपादेयरूप तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान के निवृत होने पर मिथ्याज्ञान जन्मराग पर मिथ्याज्ञानजन्य राग द्वेषादि सब दोषों की निवृति हो जाती है और दोषों के निवृत होने पर धर्माधर्मात्मिका प्रवृत्ति की निवृत्ति द्वारा तत्कार्यभूत शरीरादिकों के अत्यन्त निवृत होने पर जो शरीर रहित आत्मा के दुःखों के उपयोग की अत्यन्त निवृत्ति होती है वही अपवर्ग है और बारह प्रकार के प्रमेय पदार्थों में वह अपवर्ग मुख्य प्रमेय कहलाता है।

विश्वनाथ ने इस सूत्र की इस प्रकार व्याख्या की है कि आत्मा से लेकर मन पर्यन्त पहले छः प्रकार के कारण प्रमेय तथा प्रवृत्ति आदि छः कार्य प्रमेय हैं। अतः एव जो जिसकी अपेक्षा प्रधान है उसका निर्देश प्रथम तथा अप्रधान का पश्चात् किया है। जिनमें सर्वप्रथम आत्मा का लक्षण इस प्रकार किया गया है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के बोधक हैं।[2] अर्थात् जहां ये छः होगे वहां आत्मा होगा। उसकी चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थ का आश्रय शरीर है।[3] भूतों से उत्पन्न होने वाली घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा तथा श्रोत्र इन्द्रियां हैं।[4] गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये अर्थ हैं[5]।

---

(1) तत्त्वज्ञानेन तेनास्य मिथ्याज्ञानेनापबाधिते।
रागद्वेषादयो दोषास्तन्मूलः क्षयमायुषः।।
क्षीणदोषस्य नोदेति प्रवृति पुण्यात्मिका।
तदयावान्नतत्कार्य शरीरायुवजायते।।

(2) अशोचदुःखयोपरस्त्वपवर्गोऽभीधीयते।
इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्।। न्या०द० 1–1–10

(3) चेष्टेन्द्रियार्थाय शरीरम्। न्या० द० 1–1–11

(4) घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। न्या०द० 1,1,12

(5) गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः। 1,1,14

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्धि और ज्ञान का पर्यायवाची बुद्धि है।[1] वाणी, मन और शरीर की क्रिया का आरम्भ या व्यापार ही प्रवृत्ति है।[2] जो प्रवृत्ति का हेतु है वही दोष है।[3] और उसका पुनः उत्पन्न होना ही प्रेत्यभाव है।[4] प्रवृत्ति तथा दोष से उत्पन्न होने वाला अर्थ फल है।[5] पीड़ास्वरूप दुःख होता है।[6] और उस दुःख से अत्यन्त विमोक्ष होना ही अपवर्ग है।[7]

इस प्रकार न्याय इन बारह प्रमेयों का ही वर्णन करता है। वैशेषिक में प्रमेय के रूप में पदार्थों का ग्रहण किया गया है जो संख्या में छः है। जिनको द्रव्य,गुण,कर्म,सामान्य,विशेष तथा समवाय नाम से जानते हैं। कोई दार्शनिक अभाव को भी एक प्रमेय स्वीकार करते हैं। परन्तु महर्षि कणाद ने इसका ग्रहण नहीं किया है।

आचार्य शंकर के अनुसार प्रमेय तथा प्रमाण

शंकराचार्य के दर्शन में ज्ञानविषयक अवधारणा को द्विविध प्रकार से विचार किया गया है पारमार्थिक तथा लौकिक दृष्टिकोण से।

पारमार्थिक दृष्टिकोण से पूर्ण सत्य, शाश्वत, अनन्त अनादि अविकारी, अजन्म, अजर, अमर, नित्य और अवाधितज्ञान एक मात्र ब्रह्म है। यही ज्ञेय है जो स्वयंप्रकाश है।

---

(1) बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्मयान्तरम्। 1,1,15
(2) प्रवृतिर्वा बुद्धिशरीरारम्भः। 1,1,17
(3) प्रवर्तनालक्षणा दोषाः। न्या०द० 1,1,18
(4) पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। 1,1,19
(5) प्रवृति दोषजनितोर्थः फलम्। 1,1,20
(6) बाधनालक्षणम् दुःखम्। 1,1,21
(7) तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। 1,1,22

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा स्वानुभूति–मात्रगम्य है।

लौकिक दृष्टि से वेदान्त में प्रमेयादि व्यवहार यद्यपि मिथ्या हैं पुनरपि वेदान्त में व्यवहारिक दृष्टि से संसार तथा सांसारिक वस्तुओं को स्वीकार किया गया है। अतः ये भी ज्ञान विषयक हैं।

अचार्य शंकर के अनुसार एक ब्रह्म ही सत्य है। इन्द्रियों से गृहीत होने वाला यह नानात्मक जगत् मिथ्या है। माया के कारण इसकी प्रतीति हो रही है तथा यह जीवात्मा भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता सत्य नहीं है। अतः सर्वप्रथम ज्ञेय यही है जो ज्ञाता भी है और ज्ञान भी।

आचार्य शंकर के अनुसार यह आत्मा विश्व आत्मा, ब्रह्म पूर्ण और परात्पर चेतन तत्त्व है। इसकी सत्ता को नकारा नहीं जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति स्व अस्तित्त्व को असंदिग्ध समझता है। कोई व्यक्ति यह नहीं जानता कि मैं नहीं हूं। यदि किसी व्यक्ति को ऐसी अनुभूति हो तो प्रत्येक को ही ऐसा अनुभव होना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं होता।

ज्ञान के समस्त साधन आत्मा के अस्तित्त्व पर ही निर्भर करते हैं। अतः समस्त प्रमाणादि व्यवहारों से पूर्ण इसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है। निराकरण आगन्तुक का होता है न कि स्वरूप का या तो जिसका निराकर्ता है वही उसका स्वरूप है। अग्नि की उष्णता अग्नि से भिन्न नहीं की जा सकती है उसी प्रकार आत्मा का स्वतः सिद्धत्व भी निराकृत नहीं किया जा सकता।[2]

---

(1) श०भा० 1–1–1

(2) आत्मा तु प्रमाणादि व्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादि व्यवहारातसिध्यति न चेदृशस्य निराकरणं भवति। आगन्तुकं वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता सदैव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरोषण्यमग्निना निराक्रियते। (शा०भू०सू०2/3/7)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह आत्मा जो ब्रह्म नाम से जाना जाता है। सत्य, ज्ञान और अनन्त है।[1] अर्थात् ब्रह्म पारमार्थिक रूप में सत्य है, ज्ञान स्वरूप से शुद्ध है और आनन्दमय है अकर्ता, अभोक्ता, निष्क्रिय तथा कूटस्थ है। निष्कल, निष्क्रिय, निरंजन, अमृत का सेतु।[2]

वेदान्तशास्त्र में ब्रह्म के दो रूप वर्णित है। यद्यपि ब्रह्म एक ही है किन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता से उसको दो रूपों में ग्रहण किया जाता है। सगुणब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म।

ईश्वर –

वेदान्त में द्वितीय प्रमेय ईश्वर है। अद्वैत वेदान्त में ईश्वर की कल्पना जगत् की स्थिति, सृष्टि और प्रलय के रूप में की गई है।[3] निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म भी जब माया के द्वारा सगुण और सविशेष भाग को धारण करता है, तब वही ब्रह्म ईश्वर कहलाता है।[4]

---

(1) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।

(2) निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्। अमृतस्य सेतुर्दग्धेन्धनमिवानलम्।

(3) अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेक कर्तृभोक्तृ संयुक्तप्रति–नियतदेशकालनिमित्त क्रिया फलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभंग यतः सर्वज्ञात् सर्वेश्वरात् कारणम् भवति तद् ब्रह्म। ब्र०सू०शा० मा० 1/1/3

(4) अव्याकृतं नामरूपबीजं शक्तिरूपं भूतसूक्ष्मम् ईश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतम्।। शा०भा० 1–2–22।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार स्वयं निष्क्रिय, निरवयवी निष्प्रपंच ब्रह्म जिस क्षण अपनी माया नाम्नी शक्ति से उपहित हो जाता है उसी क्षण वह ईश्वर से ज्ञान वाला होता है।[1] वेदान्तसार में इस प्रकार से वर्णन आता है कि इस उत्कृष्ट उपाधि से युक्त चैतन्य को सर्वज्ञता सबका ईश्वर तथा सर्वनियन्ता आदि गुणों वाला अव्यक्त अन्तर्यामी जगत् का कारण ईश्वर इस नाम से व्याकृत किया जाता है जो सम्पूर्ण अज्ञान का अवभासक है।[2]

इसकी व्याख्या करते हुए भी रामतीर्थयति अपनी विद्वन्मनोरंजनी नामक टीका में लिखते हैं कि अज्ञान समष्टि के सम्पर्क से ब्रह्म चैतन्य अध्यस्त सम्बन्ध के अज्ञान द्वारा सबको अवभासित करने से सर्वमर्यादा धारक सत्ता के रूप से सर्व जीवों के सर्वज्ञत्वादिगुणों को प्राप्त होने से सत् अव्यक्त और अन्तर्यामी का "ईश्वर" आदि व्यपदेश होता है।[3]

विश्व की सृष्टि स्थिति तथा लय का कारण यही ईश्वर है। अब यहां प्रश्न उठता है कि ईश्वर का जगत् की सृष्टि करने में कौन सा उद्देश्य सिद्ध होता है[1] क्योंकि बुद्धि पूर्णकारी चेतन की प्रवृत्ति बिना किसी प्रयोजन के सिद्ध नहीं होती है और श्रुति में ईश्वर को सर्वकाम कहकर अभिव्यक्त किया है। अर्थात् परमात्मा परितृप्त है। अब यदि जगत् की सृष्टि करने में ईश्वर का कोई आत्म प्रयोजन माना जाये तो कृति से विरोध आता है और यदि बिना उद्देश्य के प्रवृत्ति की कल्पना मानी जाये तो ईश्वर का सर्वज्ञत्व घटता है क्योंकि जो वस्तुओं का ज्ञाता है वह स्वयं सृष्टि के उद्देश्य से कैसे अपरिचित रह सकता है? अतः परमेश्वर का यह सृष्टि व्यापार लीला मात्र है।

---

(1) मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।

(2) एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरात् सर्वनियन्तृत्वादि गुणकमव्यक्त...... जगत्कारकीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात् यः सर्वज्ञ सर्ववित इति श्रुतेः।

(3) परमार्थतो संगस्यापि चैतन्यस्याध्यासिकसम्बद्धाज्ञान द्वारा सर्वावभासकत्वेन सर्वमर्यादाधारण सत्तारूपत्वेन सर्वलब्ध सर्वकृत्त्वादि गुणकस्य सदव्यक्तमन्तर्यामीश्वर इत्यादि व्यपदेशी भवतीत्यर्थः।

(वेदान्तसार वि०टी०पृ०109)

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे लोक में सकल मनोरथ की सिद्धि होने वाले पुरुष के व्यापार और सर्वज्ञ ईश्वर की यह सृष्टि व्यापार की लीला विलास है।[1]

जीवात्मा

व्यष्टि अज्ञान की निकृष्ट उपाधि से युक्त अर्थात् अन्तःकरण से अथवा छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं।[2] विद्वन्मनोरंजनी नामक टीका में श्रीरामतीर्थ ने उसी विचार को पुष्ट किया है।[3] आचार्य शंकर के अनुसार शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं।[4] तात्त्विक रूप से तो जीवात्मा को ब्रह्म ही कहा गया है– वह तू है।[5] परन्तु उपनिषदों में कहीं–कहीं आत्मा के उत्पत्ति विषयक वाक्यों का भी दर्शन होता है।[6]

---

(1) लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। ब्र०सू० 2/1/33
एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजतानन्तरं स्वयावादेह केवलं लीलारूपाप्रवृत्तिर्भविष्यति। न हीश्वरस्य प्रयोजनानन्तरं न्यायतः श्रुतितो वा संभवति। न च स्वभावपर्यनुयोक्तुं शक्यते। यद्यप्यस्याकमियं जगद्विम्बादिरचना गुरुतरसं.... तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम् अपरिमितशक्तित्वात्। ब्र०सू०आ०भा०2/1/33

(2) एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादि गुणकं प्राज्ञ इत्युच्यत एकाज्ञानावभासकत्वात्। पृ० 112

(3) ज्ञान प्रति बन्धकवरणवान् जीवो निकृष्टस्तस्योपाधितयेत्यर्थः। पृ०112

(4) अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियोपाध्यक्षः। कर्मफल सम्बन्धी। शा०भा० 1/1/17

(5) तत्त्वमसि।छां०

(6) यथाग्ने क्षुद्राः विस्फुलिंगव्युच्चरन्त्येवमेवात्मादात्मनः सर्वे प्राणाः। वृ 2/1/20

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि आत्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव माना जाता है तो उसकी उत्पत्ति कैसे मानी जाती है। इसके उत्तर में सूत्रकार का स्पष्ट कथन है कि शरीरादि की ही उत्पत्ति होती है नित्य आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता।[1] आचार्य शंकर स्वयं लिखते हैं कि आत्मा जीव उत्पन्न नहीं होता। किससे? इससे कि श्रुति नहीं है।[2] इस जीवात्मा की उत्पत्ति ही संभव नहीं हो सकती क्योंकि श्रुतियां इसको नित्य ही स्वीकार करती हैं।[3]

सूत्रभाष्य में आत्मा के परिणाम का विशेष विचार किया है। अनेक श्रुति वाक्यों के आधार पर पूर्व पक्ष का कहना है कि आत्मा अणु है जैसे कि श्वेतश्वतरोपनिषद् में विवेचित है।[4] भाष्यकार उसको स्वीकार नहीं करते। परब्रह्म के विभु होने से तदव्यपदेश आत्मा की विभुपरिमान ही सिद्ध होता है।[5] क्योंकि अनन्त आत्मा गति नहीं कर सकता। यद्यपि वह एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाती हुई देखी जाती है। शंकर के अनुसार यह वाक्य आत्मा के संबंध में नहीं है किन्तु प्रतिबन्धों के विषय में है। आचार्य शंकर ने अणुत्व की

---

(1) चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तव्यपदेशो भावतस्तद्वावभावित्वात्। 2/3/16

(2) एवं प्राप्ते ब्रूमः— नात्माजीव उत्पद्यत इति। कस्मात?
अश्रुतेः। शा० भा० 2/3/17।।

(3) उत्पत्तिरव्यक्तस्य न संमवतीति वदामः। कस्मात्? नित्यत्वाच्च वास्य 2/3/17।

(4) बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्यायकल्पते। श्वेतः— 5/6।।

(5) परमेव चेद् ब्रह्म जीवस्तस्माद्यावत्परं ब्रह्म तावानिव जीवो भवितुमर्हति परात्परब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम् तस्माद्विभुर्जीवः। शा०भा०।। 2/3/29।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पत्ति बुद्धि के गुण से तद्‌गुण होकर ही दिखायी है। क्योंकि उसके परिणाम और उत्क्रमणादि स्वाभाविक नहीं है।[1]

आचार्य शंकर आत्मा में कृतत्त्व भी केवल उपाधि से मुक्त होने पर ही स्वीकार करते हैं। क्योंकि आत्मा कर्ता और कर्मफल भोग दोनों ही अवस्थाओं से मुक्त है। क्योंकि आत्मा का कर्तृत्त्व स्वाभाविक नहीं है।[2]

आत्मा चैतन्य, जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति त्रिविध अवस्थाओं में तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों दोषों में उपलब्ध होता है। परन्तु आत्मा का शुद्ध चैतन्य इन कोश पंचक से अत्यन्त परे है। इसी प्रकार स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर के व्यष्टि अभिमानी जीव की विश्व तैजस् और प्राज्ञ संज्ञाये होती हैं और इन्हीं शरीरों के समष्टि अभिमानी ईश्वर की वैश्वानर (विराट्) सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर संज्ञायें दी गई हैं। व्यष्टि तथा समष्टि के अभिमानी पुरूष परस्पर में अभिन्न है, परन्तु आत्मा इन तीनों से परे स्वतन्त्र सत्ता है।

जीव की वृत्तियां उभयमुखी होती हैं। यदि वे बहिर्मुखी होती हैं तो विषयों को प्रकाशित करती हैं और जब वे अन्तर्मुखी हैं तो कर्ता को अभिव्यक्त करती हैं। जीव की उपमा नृत्यशाला के दीपक से बड़े सुन्दर से रूप दी जा सकती है। जिस तरह रंगस्थल में दीपक सूत्रधार सभा तथा नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है और इनके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है उसी तरह साक्षी आत्मा अंहकार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है और इनके अभाव में स्वतः द्योतित होता है[3] बुद्धि में चाञ्चल्य होता है और बुद्धि से युक्त होने पर चञ्चल सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह शान्त है।

---

(1) कथं तर्हगुणत्वादिव्यपदेश इत्यत आह तद्‌गुणसारत्वस्तु तद्व्यपदेशः इति। तस्मा बुद्धेर्गुणस्तदगुणा इच्छाद्वेषसुखं दुःखमित्येषमादयस्तद्‌गुणाः सारः प्रधानं यस्यात्मनः संसारित्वे संभवति सतगुण सास्तरयतद्‌गुणसारत्वम्।........ तदुत्क्रान्तयादिभिश्चास्योत्क्रान्तयादिव्यपदेश नस्वतः। शा०भा० 2/3/29

(2) न स्वामाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति अनिर्मोक्षप्रसंगाव। कर्तृत्वस्वभावत्वेनात्मनो न कर्तुस्वान्निर्मोक्षः संमवति, अग्नेरिवोष्ण्यात् शा०भा०2/3/40

(3) अहङ्कारः प्रभुः सभा विषय नर्तकी मतिः।
तालादिधारीण्यक्षानि दीपः साक्ष्यवलभासकः।। पञ्चदशी 10/140।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रि
१४
पुरी-प्र

आचार्य शंकर के अनुसार सच्चिदानन्दान्ताद्वय ब्रह्म ही एकमात्र सत् वस्तु हैं, इसके अतिरिक्त सब अवस्तु हैं। तथा उसी एक सत्ता के विवर्तमात्र हैं। अब प्रश्न उत्पन्न होता हैं कि जब यह निर्विशेष सच्चिदानन्दानन्ताद्वय ब्रह्म ही एक मात्र सत् वस्तु है तो इस निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष लक्षण जगत की उत्पत्ति कैसे हुई?, इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर है – अज्ञान अथवा माया। और इसके स्वरूप को जानना अत्यावश्यक है।

पुस्तकालय 127857 गुरुकुल कांगड़ी

परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम "माया" है। माया रहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न यह जगत् की सृष्टि करता है। यह अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्ति परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुषुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शमन किया करते हैं।[1] अग्नि की दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया भी ब्रह्म के साथ संग रहने वाली शक्ति है। त्रिगुणात्मिकामाया ज्ञान विरोधी भावरूप पदार्थ है सत् और असत् अनिर्वचनीय है।[2] भावरूप कहने का अभिप्राय यह है कि वह अभावरूप नहीं है। सत् और असत् इन दोनों से विलक्षण होने के कारण इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। सत् वह है जो सदा एक ही प्रकार का हो और किसी ज्ञान से भी उसका बाध न हो, निर्बाध वस्तु सत् होती है। और यदि अन्य ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु का बाध हो जाता

---

1. आविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराक्षया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूप प्रतिवोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। ब्र०सू०शां०भा० 1–4–3
2. अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयत्रिगुणामत्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपम्। वेदान्तसार

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है वह वस्तु असत् कहलाती है। माया के विषय में ये दोनों ही नहीं हैं क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान होने पर माया का बाध हो जाता है अतः सत् नहीं है क्योंकि सत् का कभी बाध नहीं होता और ब्रह्मज्ञानी को कभी भी माया का ज्ञान नहीं होता। माया को असत् भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि असत् पदार्थ की कभी प्रतीति नहीं होती परन्तु माया की प्रतीति तो अवश्यमेव होती है अतः उसे असत् भी नहीं कह सकतें। इस प्रकार माया में दोनों विरूद्ध धर्म होने से उसको अनिर्वचनीय कहा है, आचार्य शंकर ने माया के विषय में लिखा है कि माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं हैं उभय रूप भी नहीं है, वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभयरूप है, न अङ्गसहित है, न अङ्ग रहित और न उभयात्मिका ही है अपितु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीया है।[1] तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है।[2] सूर्योदय में अन्धकार की भांति ज्ञान के उदय काल में माया टिक नहीं सकती। अतः नैष्कर्मसिद्धि का कहना है कि यह भ्रान्ति आलम्बन हीन तथा सब न्यायों से नितान्त विरोधिनी है। जिस प्रकार अन्धकार सूर्य को नहीं सह सकता उसी प्रकार माया विचार को नहीं सह सकती।[3] इस प्रकार प्रमाण को सहने और विचार को न सहने पर भी इस जगत् की उत्पत्ति के लिये माया का मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त कि माया

---

1. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्याभिन्नाप्युभमात्मिका नो।
   साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महद्भूताऽनीर्वचनीयरूपा।।नि.यू.।।
2. अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्।
   यत्प्रमाण सहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्।।वृहदारण्यकवार्तिक।।
3. सेयं भ्रान्तिरनालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।
   सहते न विचारं सा तयो यद्वद्दिवाकरम्।। ने०क०3/66

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युक्ति युक्त है इसलिए शंकराचार्य ने माया का स्वरूप दिखलाते समय लिखा है भगवान् की अव्यक्त शक्ति है, जिसके आदि का पता नहीं चलता, वह गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी है। उसका पता उसके कार्यों से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है।[1]

माया की दो शक्तियां होती है आवरण तथा विक्षेप।[2] वेदान्तसार ने भी इस माया की दो शक्तियों का ही वर्णन किया है।[3] इन्हीं की सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तविक रूप को छिपाकर उसमें अवस्तु रूप प्रकृति का उदय होता है। आवरण शक्ति अज्ञान की वह सामर्थ्य है, जिसके बल से सीमित भी अज्ञान दृष्टा की बुद्धि का अवरोधक होकर असीम असंसारी आत्मा को उसी प्रकार आच्छन्न जैसा बना देता है। जिस प्रकार एक छोटा सा मेघखण्ड दृष्टा के नेत्रमार्ग में अवरोधक बनकर अनेक योजन तक फैले हुए सूर्यमण्डल को अच्छन्न सा बना देता है, जैसा कहा है– जैसे अति मूढमनुष्य बादल से अपनी दृष्टि ढ़क जाने पर सूर्य को ही बादलों से ढ़का और प्रभावहीन मानने लगता है, ठीक उसी प्रकार मोहग्रस्त बुद्धि वाले मनुष्य को जो नित्यचैतन्यरूप आत्मा अज्ञान से बंधा हुआ दीखता है, वही उसका "अहम" अपना स्वरूप है।[4] अज्ञान की इस आवरण शक्ति से अवच्छिन्न होने से ही आत्मा में कर्तृत्त्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख, मोह

---

1. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते।।वि.चू.।।
2. शक्ति द्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।–दृग्दृश्यविवेक श्लोक।3
3 अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्तिद्वयम्। वेदान्त सार।
4 आवरण शक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलो–कयितृनयनपथापि धायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमसंसारिणणवलोकयित् बुद्धिपिधायक तथाच्छादयतीव तादृश्यं सामर्थ्यम्। तदुक्तम् "घनच्छन्नदृष्टि घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यतेनिष्प्रभं चातिमूढः। तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिवस्वरूपोऽहमात्मा।। वेदान्तसार–118

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि मिथ्या सांसारिक धर्मो के उदय की सम्भावना ठीक उसी प्रकार होती है, जैसे अज्ञान से आवृत रज्जू–रज्जू से अवच्छिन चैतन्य में सर्वधर्म के उदय की सम्भावना होती है।

अविद्या की दूसरी शक्ति है विक्षेप जब माया की आवरण नामक शक्ति वस्तु के वास्तविक स्वरूपों को आच्छादित कर लेती है तो विक्षेप शक्ति उसके स्थान पर दूसरी वस्तु का आरोप कर देती है। इन दोनों शक्तियों के बल पर माया भी ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति करती है। वेदान्तसार में विक्षेप शक्ति का तात्पर्य लिखते हुए कहा है कि विक्षेप शक्ति मिथ्या पदार्थों को उत्पन्न करने की अज्ञानगत सामर्थ्य का नाम है। जैसे रज्जु–रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य का अज्ञान अपनी आवरण शक्ति द्वारा अपने से आवृत रज्जु–रज्जु से अवच्छिन्न चैतन्य में मिथ्या सर्य आदि को उत्पन्न करता है वैसे ही ब्रह्म का अज्ञान अपनी आवरण शक्ति द्वारा अपने से आवृत व्यवहार के योग्य समाहित आत्म ब्रह्म में अपनी विक्षेप शक्ति से आकाश आदि मिथ्या जगत् को उत्पन्न करता है। जैसे कहा गया है कि विक्षेप शक्ति लिङ्ग सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत् की रचना करती है।[2] आशय यह है कि अज्ञान की आवरण शक्ति उसके विशेष स्वरूप के भाव को अवरूद्ध कर विक्षेप शक्ति के लिए यज्ञापेक्ष कार्य

---

1. अनयैवावरणशक्यवच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्त्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहत्म्क तुच्छसंसार भावनापि सम्भाव्यते यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पात्वसंभावना। .. वेदान्तसार पृष्ट 122
2. विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भाव–यत्येञ्यमुदभावयति तादृश्यं सामर्थ्यम्। तदृक्त्– "विक्षेपशक्तिलिगदि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजे दिति।" वेदान्तसार–पृष्ट 122

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षेत्र बना देती है और विक्षेप शक्ति उस क्षेत्र में अज्ञान को अनेक प्रकार के मिथ्या कार्यों के रूप में परिणत करती है। अज्ञान तथा उसकी द्विविध शक्ति के विषय में उक्त तथ्य का प्रतिपादन संडक्षेप शारीक में भी इसी प्रकार किया गया है। वहां पर कहां गया है कि अज्ञान अपने विषय और अज्ञान के रूप में अकेले आत्मा मात्र का बल पाकर अपनी आवरण और विभ्रम शक्ति के द्वारा आत्मा के स्वयं प्रकाश स्वरूप को आधारित कर उसमें जीव, ईश्वर और जगत् के आकार में मिथ्या प्रपञ्च को उत्पन्न करता है।

उक्त दोनों शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य ब्रह्म अपनी प्रधानता से जगत् का विभिन्न कारण तथा अपनी उपाधि अज्ञान की प्रधानता से जगत का उपादान कारण होता है। प्रश्न हो सकता है कि जो जिस कार्य का निमित्त है वही उस कार्य का उपादान कैसे हो सकता है, क्योंकि लोक में कार्य के निमित्त और उपादान कारणों में भेद देखा जाता है, जैसे मिट्टी घट का उपादान होता है और कुलाक आदि उसके निमित्त होते है। उस प्रश्न का समाधान लूता अर्थात् मकड़ी के दृष्टान्त से हो जाता है। प्रत्यक्ष है कि मकड़ी जिस जाल को बुनती है उसका स्वयं वह निमित्त कारण भी होती है और उपादान कारण भी है क्योंकि वह जाल बुनने के लिए अपने बाहर से कोई उपादान ग्रहण नहीं करती किन्तु अपने शरीर से ही जाल बनाती है।[2] अतः जैसे वह अपने शरीर

1. आच्छाद्यविक्षपति संस्फुरदात्मरूपं जीवेश्वरजगदाकृमिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगादात्मत्वमात्रविषयाश्रयता बलेन।।
2. शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधि प्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तु कार्यं प्रति स्वप्रधानतया निभित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से जाल का उपादान और अपने चेतन स्वरूप से जाल का निमित्त कारण होती है वैसे ही अज्ञानोपहित चैतन्य भी अपने अज्ञान रूप शरीर से जगत का उपादान और अपने सहज चैतन्य रूप से जगत् का निमित्त कारण हो सकता है, निमित्त और उपादान में भेद वहीं होता है जहां कर्त्ता को अपने बाहर से उपादान लेने की आवश्यकता होती है, जैसे कुलाल को घट बनाने के लिए अपने बाहर मिट्टी से कपाल रूप उपादान का ग्रहण करना होता है।

प्रश्न हो सकता है कि मकड़ी द्वारा बुना जाने वाले जाल का उपादान जब उसका शरीर अथवा शरीर से निकलने वाला आतान वितानयुक्त तन्तु होता है निमित्त कारण उसके शरीर को सचेष्ट बनाने वाला उसमें विद्यमान चेतन अंश होता है, तब यह बात कैसे कही जा सकती है कि मकड़ी के जाल का उपादान और निमित्त एक ही होता है और जब यह बात मकड़ी से नहीं सिद्ध होती तब उसके दृष्टान्त से एक ही पदार्थ में जगत् की उपादानता और निमित्तता का समर्थन कैसे किया जा सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जाल का उपादान और निमित्त उसका शरीर और उसमें विद्यमान चेतन जीव नहीं होता, क्योंकि यदि उसका शरीर उपादान होगा तो शरीर तो मकड़ी के मृत हो जाने पर भी रहता है। पर उस समय वह जाल का उपादान नहीं होता, इसी प्रकार उस शरीर में विद्यमान चेतन जीव मकड़ी के जाल का निमित्त भी नहीं होता क्योंकि जो चेतन जीव मकड़ी के शरीर में रह चुकता है उस शरीर से निकलकर अन्य शरीर में पहुंचने पर वहां भी वहीं रहता है पर उस समय वह मकड़ी के जाल का निमित्त नहीं होता, अतः वास्तविकता यह है कि मकड़ी के जाल का निमित्त उपादान एवं निमित्त स्वयं मकड़ी ही होती है जो एक विशेष प्रकार के शरीर और चेतन जीव के विशिष्ट स्म्पर्क से प्रादुर्भूत

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक इकाई है, और उस इकाई में ही अंश भेद से जाल की उपादानता एवं नित्यता दोनों विद्यमान है।

ठीक मकड़ी ही जैसी स्थिति अज्ञानोपहित चैतन्य रूप ईश्वर की भी है, वह भी अज्ञान और चैतन्य के अनादि सम्बन्ध से निष्पन्न एक इकाई है जो अंशभेद से जगत का उपादान और निमित है। क्योंकि केवल अज्ञान का अस्तित्व न होने से उसे केवल उपादान नहीं माना जाता एवं केवल चेतन्य के निर्व्यापार होने से केवल उसे निमित्त नहीं माना जा सकता। जगत् के उपादान और निमित्त के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त मुण्डकोपनिषद् में प्रतिपादित होता है। वहां वर्णन है कि जैसे नाभि में अर्णा–तन्तुओं का पिण्ड छिपाये रहने वाली मकड़ी अपने भीतर से ही जाल को बुनती है और अपने भीतर से ही समेटती है जैसे औषधियां पृथ्वी में ही उत्पन्न होती हैं, और जैसे बाल सत् पुरुष–जीवित शरीर से उत्पन्न होता हैं उसी प्रकार विश्व अक्षर ब्रह्म से यह विश्व उद्भव होता है।[1] आर्चाय शंकर ने भी "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाट" नामक सूत्र के भाष्य में जगत् की उपादानता और निमित्तता को एकनिष्ठ कहा है कि ब्रह्म को जगत् का प्रकृति उपादान कारण मानना चाहिए और निमित्त कारण भी, क्योंकि ऐसा मानने पर ही उपनिषद् में उक्त प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त उपरोध बाध नहीं होगा।[2]

इस प्रकार आचार्य शंकर के यहां माया का अपना महत्त्व है और यह भी व्यवहार काल में प्रमेय के रूप में स्वीकार की जाती है।

---

1. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
   यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।।
2. प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च, न केवलनिमित्तकारणमेव, कस्मात्? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।
   ब्र०सू०शां०भा० 1/4/23।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य रामानुज के अनुसार प्रमेय

आचार्य शंकर प्रमेय के रूप में केवल एक मात्र ब्रह्म को ही स्वीकार करते हैं आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र वस्तु है, अतः वही प्रमेय है। परन्तु आचार्य रामानुज इस मत से सहमत नहीं। प्रमेयगत दृष्टि से आचार्य रामानुज तीन तत्त्वों को स्वीकार करते है।[1] श्री वेंकट नाथ ने अपने ग्रन्थ न्यायपरिशुद्धि में जड़ और चेतन रूप से प्रमेय के दो भेद किये हैं। उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है कि वह प्रमेय दो प्रकार का होता है द्रव्य और अद्रव्य। जो आगन्तुक धर्म का आश्रय है वह द्रव्य और जो अतथाभूत हो वह अद्रव्य कहलाता है। द्रव्य दो प्रकार का होता है जड़ और अजड़। जड़ के दो भेद होते है प्रकृति और काम। अजड़ के भी दो भेद होते हैं प्रत्यक तथा षराक्। प्रत्यक् के भी दो भेद किये है जीव और ईश्वर।[2]

अतः मुख्यरूय से आचार्य रामानुज के अनुसार प्रमेय के रूप में स्वीकारित तत्त्व तीन ही है जो क्रमश, ईश्वर, जीव और प्रकृति के नाम से जाने जाते हैं।

ईश्वर

वह ब्रह्म एक ही है और आद्वितीय है, ऐसा श्रुति का मत है।[3] आचार्य शंकर के अनुसार उस श्रुति का तात्पर्य यही है कि उस एक ब्रह्म की ही सत्ता है और उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। परन्तु

---

1. ईश्वरश्चिदयिच्येति पदार्थ त्रितयं हरिः।
   ईश्वरशिचिदिति प्रोक्तो जीवोद्दश्यमाचित्पुनः।। स.द.सं.पृ.161
2. तद्विविधं द्रव्याद्रव्य भेदात्। आगन्तुकधर्माक्षयो द्रव्यम्। अतद्वाभूततयद्रव्यम् द्रव्यं द्वेधा जडमजड़मिति। जड़श्च द्विधा प्रकृतिः काम इति। अजडं च तथा प्रत्यक् परगिति। प्रत्यगपि द्विविधं जीव ईश्वर इति। न्या०परि०
3. एकमेवाद्वितीयम् – धा.उ. – 6/2/1।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामानुज इस अर्थ को अभिष्ट नहीं मानते। उनका कथन है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म एक ही है, और आत्मा या प्रकृति की कोई सत्ता नहीं है। उनके अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के समान और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। जैसे कि सिद्धित्रय में कहा है – चोलनृप सम्राट पृथ्वी पर अद्वितीय है "इसका तात्पर्य उस राजा के समान दूसरे राजा का निवारण किया गया है। न कि उसके भृत्य, पुत्र, कलत्र आदि का भी निषेध। रामानुज के अनुसार वह ईश्वर चित् तथा अचित दोनों से युक्त होता है। जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य एवं स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तथापि वे ईश्वर के आधीन ही होकर रहते हैं। क्योंकि ईश्वर भोक्ता तथा योग्य इन दोनों के अन्तर अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है। इसलिए चित् तथा अचित ब्रह्म के शरीर या प्रकार माने जाते है। जीवात्मा तथा प्रकृत्ति प्रभु की तत्त्व की एकता में समाविष्ट हैं, और सर्वोपरि ब्रह्म के साथ उसका सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि गुणों का सम्बन्ध द्रव्यों के साथ है या जैसे सम्पूर्ण इकाई के साथ उसके अवयवों का सम्बन्ध है, अथवा शरीर का सम्बन्ध उसमें जीवन डालने वाली आत्मा से है।[2]

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को निगुर्ण रूप से स्वाकार किया गया है, क्योंकि उपनिषद् में से प्रज्ञान धन कहा है।[3] परन्तु रामानुज यह स्वीकार नहीं करते है। वे कहते है कि चेतन ब्रह्म का गुण है। केवल प्रज्ञानघन कहने मात्र से आत्मा का और चेतनता का ऐक्य नहीं हो जाता। अन्यत्र भी ब्रह्म के गुणों का निर्देश मिलता है।[4] इसमें ज्ञान बल और क्रिया स्वाभाविक हैं।[5]

---

1. "यथा चोलनृपः सम्राडद्वितीयो भूतले" इति तत्तुल्य–नृपति निवारणपरं वचो नतु तद्भृत्य पुत्रकलत्रादि निषेधकम्। सिद्धित्रय
2. य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्, यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथिवी शरीरम्।— वृ०उ० 3/7/1
3. अयमात्मा..........प्रज्ञानघन एव। वृ०उ० 4/5/13/1
4. यः........सर्वज्ञः सर्वविदिव्यादिज्ञातृत्वश्रुतेः। वेदार्थ संग्रहपृ41
5. स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च। श्वेता उ० 6/8/1

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः ईश्वर सगुण व सविशेष है। निर्गुण वस्तु की कल्पना ही असम्भव है, क्योंकि विश्व के समग्र पदार्थ विशिष्ट ही होते हैं। यहाँ तक की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी सविशेष वस्तु की प्रतीति होती है।[1] ब्रह्म शुभ गुणों से युक्त है। वहीं उस जगत का कर्ता, भर्ता और हर्ता है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। जो इस विश्व का नियन्त्रण करता है। रामानुज उसी ईश्वर को विष्णु कृष्ण या बासुदेव आदि नामों से भी ग्रहण करते हैं।

ये ही वासुदेव सबसे अधिक दयालु, भक्तो से वात्सल्य प्रेम रखने वाले तथा सर्वोच्च पुरुष हैं अपने उपासकों के गुण के अनुसार विभिन्न फल देने के लिए एक या तीन या बहुत हो जाते है।[2] अपनी लीला दिखलाते हुए वे अर्चा, व्यूह, सूक्ष्म, विभव और अन्तर्यामी इन पदों के कारण पांच रूप में अवस्थित रहते हैं। यद्यपि आचार्य रामानुज ने तीन का ही वर्णन किया है।[3] अर्चा प्रतीमा आदि को कहते हैं। राम आदि अवतार विभव कहलाते है। व्यूह चार प्रकार का है बासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध। सूक्ष्म छहों गुणों से युक्त वासुदेव नाम के पर ब्रह्म को कहते हैं। अन्तर्यामी ये सभी जीवों का नियमन करते है। वेद वाक्य भी है जो आत्मा में स्थित होकर भीतर से ही आत्मा को नियन्त्रित करता है।[4] इस प्रकार ईश्वर का यह संक्षिप्त वर्णन आचार्य रामानुज के अभिष्ट मत के अनुसार है।

---

1. सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषयतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते। सर्व.द.से.पृ
2. स एकधा भवति त्रिधा भवति। छा० 7/26/1
3. तद्धि वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म सूक्ष्यव्यूहविभवभेदभिन्नं......। विभवा अर्चनाद्व्यूहं प्राप्य व्यूहार्चनाद् परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सूक्ष्मं प्राप्यत इति वदति।
4. यः आत्मनितिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति। वृ०अ० 3/7/22

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवात्मा – आचार्य रामानुज ईश्वर को चिदचिद्विशिष्ट के रूप में स्वीकार करते हैं तथा उसकी परिपूर्णता सोपाधिक है, जिसके कारण उसकी सर्वव्यापी गतिविधि के क्षेत्र में स्वतन्त्र आत्माओं की सत्ताओं का भी स्थान हैं वह आत्मा देह, इन्द्रिय मन प्राण और बुद्धि से विलक्षण, अनन्त, आनन्द रूप, नित्य, अणु, अव्यक्त अचिन्त्य, निरवयव निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय है। ज्ञान के बिना स्वयमेव प्रकाशित होने से वह अजड़ है। मुण्डक और श्वेताश्वतर के आधार पर समग्र वैष्णव सम्प्रदाय जीव को अणु मानता हैं।[1] यह जीव का गुण ज्ञान है। ज्ञान का आत्मा से व्यतिरेक हैं क्योंकि मैं जानता हूं ऐसी प्रतीति होती है।[2] इसकी अपनी वास्तविक सत्ता है यह एक ही साथ चिद्रूप भी है और चैतन्यगुणात्मक भी है।[3] चिद्रूप का अर्थ है स्वयं प्रकाश।[4]

जीव और ईश्वर एक नहीं हैं क्योंकि जीव मुख्य लक्षणों में ईश्वर से भिन्न है उसे ब्रह्म का अंश कहा जाता है। यद्यपि यह सम्पूर्ण विश्वात्मा से पृथक् भूत भाग नहीं है उसी के अन्दर समाविष्ट है देह तथा देही के समान जीव ब्रह्म से कथमपि अभिन्न नहीं है। जीव दुःख त्रय से नितरां पीड़ित है। ऐसी दशा में ब्रह्म के साथ उसकी अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है। श्रुति में भी स्पष्ट है कि "ब्रह्म जगत् का कारण तथा करूणाधिय जीव का अधिपति है। "जो आत्मा के भीतर संचरण करता है वही अन्तर्यामी अमृत तुम्हारा आत्मा है। दोनों अणु है एक ईश है दूसरा अनीश, एक प्राज्ञ हैं दूसरा अज्ञ" अतः दोनों का भेद बतलाना उचित नहीं है।

---

1. बालाग्रशतभास्य शतधाकल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।। मु०उ०
   ख. अतोऽणुरेवायमात्मा......श्रीभाष्य 2–3–23
2. यथा पृथिव्या गन्धस्यगुणत्वेनोपलभ्यमानस्य ततोव्यतिरेकः तथा जानामीति ज्ञातु– र्गुणत्वेन प्रतीयमानस्य ज्ञानस्यात्मनो व्यतिरेकः सिद्धः दर्शयति च श्रुतिर्जानात्येवायं पुरुषः इति। श्रीभाष्य–2–3–27
3. एवायमात्मा चिद्रूप एव हि चैतन्य गुणात्मकः।
4. चिद्रूपता हि स्वयं प्रकाशता। स्वयं प्रकाशोऽयमात्मा ज्ञातैन प्रकाशमात्रम्। श्रीमाष्य

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अचित् – अचित् शब्द से दृश्य जगत् का बोध होता है जो भोग्य योगोपकरण और योगायतन से त्रिविध प्रकार का है। लोकाचार्य ने तत्त्वत्तम में अचित् तत्त्व के तीन भेद किये है शुद्ध सत्व, मिश्रसत्व, और सत्वशून्य। शुद्धसत्त्व का दूसरा नाम नित्य विभूति भी है। मिश्रसत्व रजोगुण तथा तमोगुण से मिश्रित होने के कारण सृष्टि का उपादान है। इसी का दूसरा नाम माया अविद्या या प्रकृति है। सत्त्वशून्य तत्व काल कहलाता है। शुद्ध सत्व से तात्पर्य है कि इसमें रजोगुण और तमोगुण का लेशमात्र भी नही है। यह नित्य ज्ञानानन्द का जनक निरवधिक तेजोरूप द्रव्यविशेष है। भगवान् के ब्यूह, विभवादि रूप इसी शुद्ध सत्त्व के उपादान से निर्मित होते है। वे प्रकृति जन्य न होने से अप्राकृत है। क्योंकि रामानुज की यह अवध ारण है कि आत्मा कभी भी और किसी भी अवस्था में शरीर से विभाग नही रह सकता अतः कैवल्य अवस्था में यह शुद्ध सत्त्व से निर्मित शरीर में ही रहता है।

आचार्य रामानुज प्रकृति को नित्य मानते है। वे आचार्य शंकर के अनुसार उसे अनिर्वचनीय तत्त्व स्वीकार नही करते। माया जगत् का मूलकरण है। और यह मूलकारण विचित्र पदार्थो की सृष्टि करने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति है न कि अनिर्वचनीय भावरूप अज्ञान। आचार्य रामानुज शंकर के इस मत से बिल्कुल भी सहमत नही है कि यह जगत प्रपञ्च है, मिथ्या है, और इसका बोध होने पर इसकी कोई सत्ता नही रहती। आचार्य रामानुज जगत् को उतना ही सत् स्वीकार करते है जितना कि ईश्वर। हाँ इतना अवश्य है कि यह अजड़ भी है और ईश्वर का अंश भी।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्लभाचार्य के अनुसार प्रमेय निरूपण

आचार्य बल्लभ ने शुद्धाद्वैत वाद सिद्धान्त की स्थापना करते हुए ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व माना है। श्रुति तथा स्मृति ब्रह्म को सत् चित् तथा आनन्दस्वरूप प्रतिपादित करती है। पुरूषोत्तम ने अपने प्रस्थान रत्नाकर नामक ग्रन्थ में अनेक स्मृति व श्रुति के प्रमाणों को उद्धृत करते हुए, समस्त वस्तुओं को ब्रह्म को ही एकमात्र प्रमेय माना है। भूत और भविष्य तथा वर्तमान की व्यवहार दशा में भी समस्त वस्तुएँ ब्रह्म का स्वरूप ही मानी जाती है। अतः ब्रह्म ही एक मात्र प्रमेय है।[1]

प्रंपच तो जन्य है तथापि प्रपंच की उत्पत्ति स्वीकार करने पर और प्रपञ्च के अनित्य होने से प्रपञ्च का अब्रह्मत्व सिद्ध नही होता, क्योकि जगत की उत्पत्ति व विनाश इन शब्दों का अर्थ केवल आविर्भाव व तिरोभाव मात्र है। यदि घृत में द्रव्यत्व के समान ब्रह्म में प्रपञ्च की आगन्तुक धर्म मान लें तो भी ब्रह्म धर्म का नाश नही होता क्योकि धर्म का धर्मी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है।[2] प्रंपञ्च को मायाजन्य मानकर अनित्यता की शंका भी निराधार है, क्योकि प्रथम तो माया केवल दर्शयित्री है, जनयित्री नही। फिर माया भी ब्रह्म की शक्ति है और शक्ति तथा शक्तिमान में अभेद सम्बन्ध है। अतः एवं ब्रह्म ही एकमात्र प्रमेय है।[3]

---

1. प्रस्थानरत्नाकर – पुरूषोत्तम पृ० 157
2. घृत द्रव्यवत् प्रपञ्चस्यागुन्तकत्वेऽपि ब्रह्म धर्मत्वान पायार्द्धभव्य धर्मितादाभयाद् दोषात्।– प्रस्थान रत्नाकर पृ० 158
3– मायामा अपि भगवच्छनितत्वेन शक्तिमदाभिन्नत्वातत्तथात्वेऽपि भागवद्रूपत्वानपायात्। तत्रैव पृ० 159

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म निराकार है। सच्चिदानन्दमय, सर्वभवनसमर्थ, विना किसी निमित्त के, अपने अंश से, धर्म के रूप से, तदन्तर क्रिया रूप से और तत्पश्चात प्रपंच रूप से प्रकट होता है। इस प्रकार वास्तव में मूल ब्रह्म से अभिन्न ब्रह्म की शक्ति रूप माना है। भगवान् की सर्वभवन सामर्थ्यरूप शक्ति को माया कहते है और वह भगवान में ही स्थित है। यही ब्रह्म की माया रूपी शक्ति ब्रह्म के संदश से युक्त होने पर "क्रियारूपा" तथा ब्रह्म के चिदंश से युक्त होने पर व्यामोहिका माया कहलाती है। माया त्रिगुणात्मिका है। यही संसार को उत्पन्न करने वाली माया अशं भूत है। और आनन्द रूप से जगत् की उत्पत्ति का कारण है। माया के समस्त रूप भगवत्सम्बन्ध से है। और माया में देश काल व वस्तुरूप जगत् कर्तृत्व स्थल मुल कर्तृव्य भी भगवाछिच्छा से ही होता है यह शक्ति अपने तीनो रूपो में (क्रिया, व्यामोह, उत्पादयित्री) सचिदानन्दपदवाच्य है।

सृष्टि पुरूषोत्तम ने दो प्रकार की मानी है नाम सृष्टि और रूप सृष्टि। नाम सृष्टि में सूत्ररूप भगवान् सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से अभिव्यक्त हो कर घोषात्मक शब्द ब्रह्म के रूप में प्रकाशित होता है।[1] रूप सृष्टि का कारण पंचात्मक भगवान है उनके पाचँ अगं है–द्रव्य, काम, रूप, स्वभाव और जीव।[2]

1– माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता। – तत्तवदीपार्थनिबन्धन– शास्त्रार्थ प्रकाश पृ० –77

2– प्रस्थानरत्नाकर– पुरूषोत्तम पृ० 161–162

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान यद्यपि बोधरूप है तथापि धर्मरूपज्ञान के अभाव से वे व्यामुग्ध हो जाते है। इस अवस्था में आनन्द से पृथक् होने के कारण, माया के सम्बन्ध से आनन्द प्राप्त हो जायेगा। ऐसी बुद्धि से माया के साथ सम्बद्ध हो जाते है। तत्पश्चात् व्याकुल होकर आनन्द से उत्पन्न की गई सृष्टि में दशविध प्राणरूप सूत्रात्मा का आश्रय लेकर स्थित रहते है। तब प्राण धारण करने की प्रयत्नेच्छा की कारक इसीचिदंश रूप ब्रह्म को जीव कहते है।

प्रमाण द्वारा जो जाना जाता है। उसे प्रमेय कहते हैं। प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के आधीन है आर्थात प्रमाण वाक्यों के द्वारा जिसकी निष्पत्ति होती है उसे प्रमेय कहते है। सभी प्रमाणों का अभिधेय परमतत्त्व ही है। अतएव परमतत्त्व परमात्मा ही एकमात्र प्रमेय है उपपत्ति तथा उत्पत्ति दोनों दृष्टियों से विचार करने वाले तत्त्व वेत्ताओं की दृष्टि में भी परमतत्व ब्रह्म ही प्रमेय सिद्ध होता है।

आचार्य बल्लभ ने भी स्पष्ट घोषित किया है कि प्रमेय केवल हरि ही है।

1– प्रमेयं हरिरेवैकः।

——तत्त्वार्थदीपनिवन्धः सर्वनिर्णयप्रकरण कारिका पृ०–34

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायदर्शन के अनुसार प्रमाण निरूपण

प्रमा अर्थात यथार्थ ज्ञान के उत्पन्न में जो सहामक होता है इसको प्रमाण कहते है। उदयनाचार्य अपने ''तात्पर्यपरिशुद्धि ''नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि पदार्थो के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान ''प्रमा'' है और इस प्रकार के ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते है। अर्थात प्रमाता पुरूष जिसके द्वारा जानने योग्य विषय को जानता है वह प्रमाण है। पदार्थो का वास्तविक स्वरूप अर्थात तत्व क्या है? यह जो पदार्थ है उसकी विद्यमानता और जो पदार्थ नही है उसके अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी पदार्थ का जो स्वयं एक विद्यमान पदार्थ के रूप में ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अर्थात् उसके यथार्थ रूप में जाना जाता है और उससे विरोधी रूप में नहीं जाना जाता अर्थात् यथाभूत और अविपरीत ज्ञान प्राप्त होता है तो वह उस पदार्थ का यथार्थ स्वरूप है। इसी प्रकार दूसरी ओर जब असत् का अभावात्मक अनुभव किया जाता है तो उसका वही वास्तविक स्वरूप होता है।[4] प्रमाणों के स्वरूप पर विचार करते हुए न्याय वार्तिक में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है। प्रमाणों का प्रमाणत्व क्या है? और प्रमाण (इस शब्द) से क्या कहा जाता है? यथार्थ ज्ञान का हेतु प्रमाण है। और उसका भाव प्रमाणत्व है। जो ज्ञान का निमित्त होता है वह प्रमाण होता है।[5]

---

1. यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्।
2. स येनाऽर्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्। न्या०द०वा०भा०पृ०3
3. सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः। न्या०भा०पृ०8
4. सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चाऽसदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। न्या०भा०पृ०3
5. प्रमाणस्वरूपावधारणं कर्तव्यम्। किं पुनः प्रमाणस्य प्रमाणत्वम्? किं चोक्तं भवति प्रमाणमिति? उपलब्धि हेतुः प्रमाणम् उपलब्धि हेतुत्त्वम् यदुपलब्धि निमित्तं तत्प्रमाणमिति। न्या०द०वा०पृ०10

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यकार वात्स्यायन भी इस प्रकार ही प्रमाण की परिभाषा करते हैं। उन्होंने अपने भाष्य में कहा है कि उपलब्धि अर्थात् प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं यह बात प्रमाण संज्ञा के निर्वचन के आधार पर जान लेनी चाहिए। जिसके द्वारा प्रमा की जाती है। इस व्युत्पत्ति से प्रमाण शब्द करण अर्थ को कहाता है। भाव यह है कि "प्र" उपसर्ग पूर्वक मा धातु से करण अर्थ में ल्युट (अन) प्रत्यय होकर प्रमाण शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं।[1] न्याय मंजरी में उस सामग्री को प्रमाण कहा है जो अव्यभिचारिणी, असन्दिग्ध, अर्थोपलब्धि का साधक बोधाबोध स्वभाववाली हो।[2] अथवा जो कर्तृ कर्म से विलक्षण तथा संशय और विपर्यय से रहित हो वह सामग्री प्रमा है।[3] सर्वदर्शन संग्रह में प्रमाण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि प्रमाण उसको कहते हैं, जो साधनों जैसे आंख, कान, नाक बुद्धि आदि जो यथार्थानुभव के साधन हैं, आश्रय यथार्थानुभव के आश्रय अर्थात् आत्मा से व्यतिरिक्त (पृथक्) न हो और जो प्रमा के द्वारा व्याप्त भी हो।[4] प्रमा का आश्रय परमेश्वर भी नित्य सम्बद्ध है किन्तु दूसरा आश्रय जीव नित्य सम्बद्ध नहीं होता, उसे भ्रम हो सकता हैं। इसकी व्यावृत्ति के लिए "प्रमाव्याप्त" पद रखा गया है जिससे जीव से पृथक् न रहने पर भी प्रमाण को यथार्थ अनुभव से नित्य सम्बद्ध रहना अनिवार्य है।

---

1. उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचन सामार्थ्यात् बौद्धव्यम्। प्रमीयतेऽनेनेति करण र्थाभिधानों हि प्रमाणशब्दः। न्या०भा०1/1/3/1
2. अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधतीबोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। न्या० मंजरी 1—12
3. कर्तृ कर्म विलक्षण संशयविपर्ययरहितार्थको बोधाबोधयिनि बोधाबोधस्वभावा प्रमाणमिति। न्या०म० 1—14
4. साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्। स०द०सं०पृ०389

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदयनाचार्य ने भी न्यायकुसुमांजली में प्रमा की परिभाषा इसी रूप में आख्यात की है। सम्यक् रूप से (यथार्थ रूप में) ज्ञान प्राप्त कर लेना (परिच्छित्तिः) मिति या यथार्थ ज्ञान है। उससे युक्त प्रमाता होता है। उस मिति या प्रमा से सम्बन्धाभाव न रहना अर्थात् मिति से आवश्यक सम्बन्ध रहना ही गौतम के अनुसार प्रामाणिकता है, अर्थात् वही प्रमाण है।[1] न्यायसार के कर्ता भा सर्वज्ञ से सम्यक अनुभव के साधन को प्रमाण कहा है। सम्यक् अनुभव संशय और विपर्यय से रहित है।[2]

अद्वैत दर्शन के अनुसार प्रमाण निरूपण

इस लोक में धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थो में मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। श्रुति में कहा है कि यह आत्यज्ञ पुनः उस संसार में जन्म नहीं लेता।[3] इस श्रुति से मोक्ष की नित्यता ज्ञात होती है। वह नित्य मोक्ष, ब्रह्मज्ञान रूप साधन से ही प्राप्त होता है।

---

1. मिति सम्यक्परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
   तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते।। न्या०कु० 4/5
2. सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्। सम्यग्ग्रहणं संशयविपर्ययापोहार्थम् न्या०सा०
3. न स पुनरावर्तते – छान्दोग्य उपनिषद् 8–15–1

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः ब्रह्म, उसका ज्ञान और उसमें प्रमाण का ज्ञान होना भी आवश्यक है। प्रमाण क्या है? इसकों समझाते हुए वेदान्त परिभाषाकार लिखते है कि प्रमा का जो करण अथवा साधन है वह प्रमाण है।[1] यहां शंका हो सकती है कि करणम् इतना ही प्रमाण का लक्षण न करके **"प्रमा करणम्"** इतना लक्षण क्यों किया?

"करणं प्रमाणम्" इतना ही यदि प्रमाण का लक्षण किया जाता तो "दण्डादिभी घटादिकों का करण हुआ करता है तो दण्डादि को भी प्रमाण कहना पडेगा अर्थात् प्रमाण का लक्षण दण्ड आदि में अतिप्रसक्त होगा। यह अतिव्याप्ति दोष न आने पावे इसलिए "प्रमा का जो करण है, वह प्रमाण है ऐसा कहना आवश्यक हो जाता है। "व्यापारवत् असाधारण कारणं करणम् "व्यापारवान् होकर किसी कार्य के प्रति जो असाधारण कारण होता है। उसे ही "करण" कहते हैं। प्रमा का अर्थ है " यथार्थ ज्ञान" यथार्थ ज्ञान, स्मृति और अनुभव भेद से दो प्रकार का है। परन्तु कुछ लोग प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला जो अनुभव रूप ज्ञान है उसी को प्रमा कहते है। स्मृति साक्षात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न नहीं होती, किन्तु प्रत्यक्षादि अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है और संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती है। संस्कारों, में प्रमाणत्व न होने से स्मृति में भी प्रमाण ही माना जाता। इसीलिए इस मत में स्मृति को छोड़कर केवल अनुभवात्मक प्रमा का लक्षण किया है और इसमें प्रमात्व का लक्षण

---

1. तत्र प्रमाकरणम् प्रमाणम्। वे०परि० पृ० 9

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है कि अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है।[1] अनधिगत पूर्व ज्ञात न हुआ, अवधित दूसरे प्रमाणों से मिथ्या सिद्ध न होने वाला जो विषय उसका ज्ञान ही प्रमा कहलाता है। स्मृति का विषय पूर्व अधिगत हुआ करता है, क्योंकि बिना अनुभव के स्मरण नहीं होता। इसलिए लक्षण में विषय का अनधिगत यह विशेषण लगा देने से स्मृति के विषय की व्यावृत्ति हो गई। उसी प्रकार "शुक्तौ वेदं रजतम्" शुक्ति में रजत का ज्ञान होता है। इस ज्ञान का विषय रजत है। परन्तु उसका प्रमाण के द्वारा विवेचन किये जाने पर बाध होता है। अतः शुक्ति में होने वाला रजत ज्ञान "प्रमा" नहीं हैं ऐसे बाधित विषय की निवृत्ति करने के लिए लक्षण में विषय का "अबाधित" यह विशेषण लगाया है। अर्थात् अनधिगत और अवाधित विषय का जो ज्ञान वही प्रमा है।

कुछ लोग ऐसी स्मृति को भी प्रमाण मानते है। जिस स्मृति का विषय यथार्थ होता है अर्थात् उत्तर ज्ञान से बाधित नहीं होता। उसका लक्षण इस प्रकार से किया है अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है यह स्मृति साधारण प्रमा है।[2] साधारण अर्थ है अनेक में रहने वाला। उत्तर ज्ञान से बाधित न होने वाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है" यह लक्षण अनुभव और स्मृति उन दोनों ज्ञानों में समान रूप से घटित होता है। इसलिए प्रमा का यह लक्षण स्मृति साधारण है। प्रथमतः "अयं घटः" यह घट है ऐसा ज्ञान होता है। और उसका किसी उत्तर ज्ञान से बाध भी नहीं हो तो उस ज्ञान से अन्तःकरण में सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों से आगे चलकर

---

1. अनधिगताबाधित विषयज्ञानत्वम्। वे०परि०पृ०2
2. स्मृतिसाधारणं तु अवाधित विषयज्ञानत्वम्। वे०परि०सृ०9

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ समय के अनन्तर उसी घट का स्मरण होता है। इस स्मृति का विषय अबाधित घट होने से यह स्मृति प्रमा है। इसी प्रकार अबाधित घट का ज्ञान भी प्रमा है।

'अयं घटः' अयं घटः यह घट, यह घट, इस धाराबाहिक अनुभव ज्ञान में "यह घट" यह ज्ञान दूसरे, तीसरे चौथे आदि सभी ज्ञानों में क्रमशः पूर्व–पूर्व ज्ञान विषय है। इसलिए द्वितीयादि ज्ञानों में अधिगत विषयत्व है। इस कारण "अनधिगत विषय ज्ञानत्व यह पहला लक्षण धारावाहिक प्रमा ज्ञान में रूपरहित काल को हम इन्द्रिय विषयत्व मानते हैं। अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से काम का प्रत्यक्ष होने वाले जो द्वितीय, तृतीयादि क्षण तद्विषयकत्व है, अतः धारावाहिक बुद्धि में प्रथम लक्षण की अव्याप्ति नहीं है।

जिस द्रव्य में महत्त्व परिमाण और उद्भूत रूप रहता है। वही द्रव्य, चक्षु का विषय होता है। अर्थात् आंख को दिखाई देता है। यह तार्किकों का सिद्धान्त है। किन्तु इस समय घट है। यह अनुभव सभी को होता है। उपर्युक्त वाक्य में इस समय यह पद वर्तमान काल का बोध करा रहा है। अर्थात काल का प्रत्यक्ष होता है। यह बात सिद्ध हो रही है। इसलिए द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में महत्त्व और उद्भूत रूप कारण हुआ करता है। यह न्यायका सिद्धान्त कामारूप द्रव्य को छोडकर इतर द्रव्यो के बारे में है। ऐसा समझना चाहिये। क्योकि तार्किकों के अनुसार जिसमें महत्त्व और उद्भूत रूप नही होते उसका चक्षु से प्रत्यक्ष नही होता है। ऐसा यदि मान लिया जाये तो रूप रहित रूप का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता है। यह कहना पड़ेगा। परन्तु रूप तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है किन्तु उसमें उद्भूत रूप तथा महत्त्व नही होता। क्योकि वैशेषिक लोग "गुण' में

---

1. नीरूपस्यापि कालस्योन्द्रियचवेद्यत्वाभ्युपगमेन धारावाहिक–बुद्धेरापि पूर्व–पूर्व ज्ञानाविषयतत्तक्षणविशेष–विषयकत्नेन न तत्राव्याप्ति। के० परि० 12

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुण की स्थिति नही मानते। रूप "गुण" है इसलिए "रूप नामक गुण में उद्भूत नामक दूसरा गुण रहता है। यह कदापि नही कह सकते। इसी न्याय से रूप रहित काम भी चक्षुरिन्द्रिय का विषय होता है।" अयं घटः अयं घटः अयं घटः" यह धारावाहिक बुद्धि भी, पूर्व–पूर्व ज्ञान का विषय न होने वाला जो उत्तर–उत्तर क्षण उसको विषय करती है। अर्थात–" यह घट" इस प्रकार प्रथम क्षण में होने वाले ज्ञान का विषय प्रथम क्षण में स्थित घट होता है। दूसरे तीसरे क्षण में होने वाले ज्ञान का विषय बनने वाला "घट" पूर्व क्षण के ज्ञान का विषय बने हुए घट से भिन्न है। प्रथम क्षण में जिस घट का ज्ञान हुआ था, वह "घट" प्रथम क्षण के साथ ही निवृत्त हुआ इसी प्रकार तृतीय क्षणीय ज्ञान का विषयभूत "घट" द्वितीयक्षणिक ज्ञान की विषयभूत घट से भिन्न है। अतः धारावाहिक ज्ञान कितने ही क्षण तक होते रहने पर भी प्रत्येक क्षण के ज्ञान का विषय "घट" भिन्न–भिन्न होने से धारावाहिक ज्ञान में अधिगत विषयत्व नहीं आ पाता। इसलिए अनधिगत ज्ञान विषयत्व में प्रमा का लक्षण धारावाहिक बुद्धि में भी ठीक घटित हो जाता है। इसलिए धारावाहिक बुद्धि में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती।

अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार धारावाहिक ज्ञान में वस्तुतः ज्ञान का भेद नहीं है। बल्कि जब तक घटादि एक ही विषय का स्फूरण होता रहता है तब तक घटादि विषयाकार में परिणत् हुई अतः कारण वृत्ति एक ही रहती है। एकार ज्ञान में अन्तःकरणवृत्ति अपने अनेकाकार हो यह नहीं माना जा सकता। क्योंकि अन्तःकरण की कोई भी वर्तमान वृत्ति, उसके विरूद्ध दूसरी वृत्ति उत्पन्न होने तक स्थाई रहती है। इसलिए "अनधिगतविषयज्ञानत्व" इस प्रमा के लक्षण की धारावाहिक बुद्धि स्थल में अयाति नहीं हो पाती। अतः प्रमा का लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है। इस प्रमा का कारण प्रमाण होता है।

रामानुजचार्य के अनुसार प्रमाण निरूपण

रामानुज सम्प्रदाय के विख्यात दार्शनिक वेंकटनाथ ने कहा है कि प्रमाण उसे ही कहते हैं, जिसके द्वारा सही ज्ञान उपलब्ध होता

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष के यथार्थ ज्ञान के लिए दोष रहित नेत्र, ध्यान सहित मानसिक व्यापार एवं विषय की योग्य निकटता, इत्यादि के संयुक्त स्वरूप से प्रत्यक्ष "प्रमाण" की उपलब्धि होती है। किन्तु शब्द प्रमाण में ज्ञान की प्रमाणता, बोलने वाले की दोष रहितता से है। वेदों की प्रमाणता हमारे ज्ञान के साधनों की दोष रहितता पर आश्रित नहीं है। यह कैसी भी हो, प्रमाण ज्ञान के अन्तिम निश्चय प्रमा द्वारा या सत्यज्ञान द्वारा ही होता है। जिससे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वही प्रमाण है। वेद प्रमाण है क्योंकि वे ईश्वर द्वारा कहे गये हैं, जिसे सच्चा ज्ञान है। उस प्रकार ज्ञान की सत्यता ही अन्त में प्रमाण की सिद्धि निश्चित करती है।[1] वात्स्य श्री निवास जो रामानुज संप्रदाय के श्री वेंकटनाथ के उत्तराधिकारी हैं, प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रमाण, यथार्थ ज्ञान की तात्कालिक नित्य एवं ऐकान्तिक कारण की पूर्ववर्ती स्थिति होने के फलस्वरूप समग्र कारणों में सबसे विशिष्ट सिद्धकार उपकरण हैं। अतः उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष में चक्षु इन्द्रिय के प्रमाण द्वारा यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि सम्भव है। यद्यपि इस क्रिया में बीच की सक्रिय क्रिया (अवान्तर व्यापार) के माध्यम से आंख का वस्तु से सम्पर्क होता है।[2] न्याय के सुविख्यात लेखक जयन्त ने अपनी "न्याय मञ्जरी" में इस विषय पर भिन्न ही मत प्रकट किया है। रामानुज और न्याय के मत में भेद यह है कि न्याय उत्पादक सामग्री के प्रत्येक तत्त्वों को समान महत्त्व देता है, रामानुज का मत उसी निमित्त कारण को विशेष महत्त्व देता है जो व्यापार से साक्षात् सम्बन्धित है।

---

1. करण प्रमाण्यस्याश्रय प्रामाण्यस्य च ज्ञान प्रामाण्याधीनज्ञानत्त्वात्रदुभय प्रामाण्य सिध्यर्थमपि ज्ञानप्रामाण्यमेव विचारणीयम्। न्यायसार पृ०35
2. प्रमा करणं प्रमाण मित्युक्तमाचार्यैः सिद्धान्तसारे प्रमोत्पादक सामग्रीमध्ये यः अति शयने प्रमागुणकं तत्तस्याः कारणं अतिशयश्च व्यापारः यद्धि यत् जनयित्वैव यद् जनयेत् तत्तत्र तस्यावान्तर व्यापारः। साक्षात्कारे प्रमामा इन्द्रिय कांरणमिन्द्रियार्थ संयोगोऽवान्तर व्यापारः। रामानुज सिद्धान्त गव०ओ०हस्तु०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राख्यदर्शन – सांख्यदर्शन में पुरुष और प्रकृति तथा प्रकृति से उत्पन्न होने वाले पदार्थों को प्रमेय कहा है। दुःखयोगात्मक बन्ध नाश के लिए पुरुष बुद्धि संयोगनाश की अपेक्षा होती है, पुरुषबुद्धिसंयोगनाश के लिए पुरुष के अविवेकनाश की अपेक्षा होती है। बुद्धि पुरुष के विवेकज्ञान को ही सत्त्व पुरुषाऽन्यताज्ञान भी कहते हैं।

सांख्य दर्शन में कुल पच्चीस पदार्थ बतलाये गये हैं। वे पच्चीस पदार्थ हैं – चेतन, प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश ये ही प्रमेय तत्त्व हैं। ये तत्त्व जिससे जाने जाते हैं, उनको प्रमाण कहते हैं।

मीमांसा में प्रमेय और प्रमाण – भट्ट के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये छः माने हैं। प्रभाकर के अनुसार अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है, शेष पांच हैं। न्याय के षड्विध सन्निकर्षों में से भट्ट संयोग, संयुक्त, तादात्म्य, संयुक्ततातादात्म्य सन्निकर्षों को मानता है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रमाण वह है जिसके द्वारा किसी विषय का यथार्थ ज्ञान होता है, यथार्थ ज्ञान वह हैं, जो अज्ञात तत्त्व का अर्थज्ञान है। अर्थात् अनधिगत के ज्ञान में प्रकृष्टतम साधन प्रमाण है। इसके अनुसार वहीं ज्ञान जो पहले ज्ञान नहीं हैं। उस रूप में जिसमें वस्तु नहीं है, यथार्थ रूप से यहां अभिप्रेत है, वहीं प्रमाण है।

प्रभाकर के मत से स्मृति से भिन्न "संवित्" अर्थात् अनुभूति ही प्रमाण है। "स्मृति" संस्कार जन्य ज्ञान है और "स्वप्न" स्मृति से अभिन्न है। संशय स्मृति के ही अन्तर्गत है। ज्ञान मात्र यथार्थ है, पर अनुभूति ही प्रमाण है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध दर्शन में प्रमेय और प्रमाण की व्याख्या –

धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु पर टीका लिखते हुए कहा है, "सम्यग् ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाण वह है जो पुरुषों के प्रयोजन पूरा करने के लिए "सम्यग्" अर्थात् युक्तियुक्त एवं यथार्थ ज्ञान देता है जब किसी विषय को प्रतीति के अनुसार ही पाते हैं, और वह उसके प्रयोजन को पूरी तरह सिद्ध करने में समर्थ होता हे। तो वह प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार ज्ञान प्रक्रिया अर्थ की प्रतीति से प्रारम्भ होकर अर्थाधिगम पर समाप्त हो जाती है। बौद्ध न्याय में दो प्रमाण माने जाते हैं। प्रमाणों का वर्गीकरण करने का विषय के अतिरिक्त कोई अन्य आधार नहीं हो सकता जब दो ही विषय हैं तो किसलिए तृतीय प्रमाण को स्वीकार किया जाय? धर्मकीर्ति ने प्रमाणों में दो प्रमाणों का प्रतिपादन किया हैं। प्रमेय की प्रत्यक्ष प्रमाण में व्याख्या की है।

समालोचना

न्यायदर्शन की प्रमाण और तत्त्वमीमांसा दार्शनिक जगत् में सर्वथा विवाद रहित ही है ऐसी बात नहीं है। प्रमाणों और प्रमेयों की संख्या तथा उनके स्वरूप को लेकर चार्वाक् से लेकर वैष्णव दार्शनिकों तक ने उसकी आलोचना की हैं किन्तु फिर भी न्याय के प्रमाण विवेचना का अपना विशिष्ट महत्त्व है जिसकी उपेक्षा कथमपि नहीं की जा सकती। न्याय का वैशिष्ट्य तो यह है कि उसने हेत्वाभासों की सूक्ष्म कल्पना करके प्रमाणों के लक्षण को इतना निर्दुष्ट बना दिया है जिसके निकषोपल पर आरूढ़ होकर प्रमेयों की सिद्ध बज्रलेपायित हो जाती है।

उपर्युक्त वैशिष्टय के होते हुए भी दार्शनिक जगत् में न्याय प्रमाण

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीमांसा की आलोचना की जाती है। प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणों का निर्दुष्ट लक्षण करना तो कोई दोष नहीं है किन्तु नैयायिकों ने पर पक्ष का शातन करने के लिए जिस वितण्डा छल जाति और निग्रह स्थान रूपी षड्यन्त्र का आङ्गिगार किया है। वह सचमुच ही गौतम के ऋषित्व पर एक प्रश्न चिन्ह लगाता है। आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने तो स्पष्ट रूप से महर्षि गौतम का उपहास करते हुए कहा है कि वह कैसा ऋषि है जो दूसरों के मर्म का छेद करने के लिए छल जाती हर स्थानों की माया का उपयोग करता है। (अ0 यो0 व्या0 द्वा0का10) वस्तुतः समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर गौतम का मन्तव्य तत्व गहराई तक पहुंचने के लिए उपयुक्त ही जान पड़ता है। जब तक छल जाति निग्रहस्थानादि का ज्ञान नहीं होगा तब तक प्रतिपक्ष का शातन तो दूर रहा निज पक्ष का साधन भी असम्भव हो जायेगा इसलिये यदि ऋषि ने तत्त्व बुभुत्सा के उद्देश्य को दृष्टि में रखकर यदि हेत्वाभास छल जाति आदि माया का ज्ञान अनिवार्य कर दिया है तो इसमें अनौचित्य की आशंका नहीं होनी चाहिए इसलिए गौतम को ऋषि न मानना ईर्ष्या का सूचक है।

न्याय की प्रमाण मीमांसा पर दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि न्याय ने प्रमेयों के ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता स्वीकार की है। किन्तु यह उचित नहीं है। क्योंकि प्रमाण और प्रमेय दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। प्रमाणों की सत्ता प्रमेय की सत्ता कर आधारित है और प्रमेयों की सत्ता प्रमाणों की सत्ता पर आधारित है। क्योंकि प्रमेय ही न होगें तो प्रमाणें की आवश्यकता किस के लिए होगी और यदि प्रमाण ही न होगें तो प्रमेयों का ज्ञान कैसे होगा? इसलिए न्याय का यह दायित्व था कि वह दोनों की समान अपेक्षा स्वीकार करता किन्तु न्याय ने तो प्रमाणों के मोह में प्रमेय को कुछ उपेक्षित सा कर दिया है। इसलिए न्यायशास्त्र को प्रमाणशास्त्र की भी संज्ञा दी गई है।

यदि हम विचार करें तो न्याय का प्रमाणों के प्रति पक्षपात भी उचित ही प्रतीत होता है। न्याय यह नहीं कहता कि प्रमाणों ने प्रमेयों

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उत्पन्न किया है। प्रमेय तो प्रमाणों से पहले ही विद्यमान है। किन्तु न्याय तो यह कहता है कि प्रमेयों की सत्ता को हम तब तक नहीं जान सकते थे जब तक प्रमाण उनके होने का ज्ञान नहीं कराता। प्रमाण और प्रमेयों में उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध नहीं है। अपितु बोध्य बोधक या ज्ञाप्य ज्ञापक सम्बन्ध है। इसलिए "मानाधिना मेयसिद्धिः न्याय का यह सिद्धान्त युक्तियुक्त ही है।

आचार्य शंकर ने भी ब्रह्म को शास्त्रयोनि कहा है। शास्त्र योनिशब्द से आचार्य शंकर का यह अभिप्राय नहीं है कि शास्त्र ने ब्रह्म को उत्पन्न किया है। उत्पत्ति तो ब्रह्म ने ही शास्त्रों की की है। किन्तु हम क्षुद्र प्राणियों के लिए ब्रह्म अज्ञात ही रहता, यदि शास्त्र ब्रह्म का ज्ञान हमें नहीं कराता। इसलिए किसी वस्तु का होना उतना आवश्यक नहीं है। जितना उसका ज्ञान कराना। ज्ञान कराने वाले का महत्त्व ज्ञात होने के प्रमेय से अधिक है। इसलिए हमारे शास्त्रों में परमेश्वर से पहले गुरु को महत्त्व दिया है। क्योंकि वही ज्ञानचक्षुओं को खोलकर हमें ब्रह्म के दर्शन कराता है। इसलिए शंकर कहते है। "मानाधिनामेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्चलक्षणात् तच्चाध्यक्षादिमानेषु गीर्वाणैरप्यवारणम्।।

वि०प्र०से०प्र० परिः अर्थात् प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों के अधिक है और प्रमाण की सिद्धि प्रमाण के लक्षण पर आधृत है। यदि वह लक्षण प्रत्यक्षादि प्रमाणों में उपलब्ध हो गया तो देवता भी उन प्रमाणों का कारण नहीं कर सकते। क्योंकि लक्षण किसी वस्तु का प्राण होता है। लक्षण ही नहीं होगा। तो लक्ष्य किसके अबलम्ब पर स्थित ही नहीं होगा। तो लक्षण किसके अवलम्ब पर स्थित रहेगा। न्याय भी यह ही कहता है कि "त्रिधा चास्य शास्त्रस्य प्रकृति उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति "वा0भा0प्र0सू0भू0। इसलिए न्याय के प्रमाणों के प्रति दुराग्रह को असमीचीन नहीं कहा जा सकता है।

प्रमाण और प्रमेयों का स्वरूप भी कुछ संशय में डालने वाला है। सामान्य रूप से प्रमा के करण को प्रमाण कहा गया है और प्रमा के विषय को प्रमेय कहा गया है। किन्तु जिज्ञासा यह होती है कि

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण प्रमा का विषय है या नहीं? प्रमा का विषय होना तो चाहिए यदि प्रमाण भी प्रमा का विषय है तब तो प्रमाण भी प्रमेय हो गया। यह तो निश्चित है। प्रमाण को जाने बिना प्रमेय में उसकी प्रवृत्ति कथमपि नहीं होती इसलिए प्रमाण की प्रवृत्ति से पहले प्रमाण का ज्ञान अनिवार्य है। प्रमाणों का यथार्थ ज्ञान तो होना ही चाहिए क्योंकि जब तक प्रमाणों का ही ज्ञान नहीं होगा तो उनका उपयोग कैसे हो सकता है। ऐसी स्थिति में प्रमाण और प्रमेय समानस्थिति में आ जाते है। अर्थात् प्रमाण भी प्रमेय ही हो जाते है।

इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए हमें प्रमाण और प्रमेयों को पृथक् करके देखना होगा। यहां यह जानना चाहिए। कि प्रमाण इसलिए प्रमाण है क्योंकि वे प्रमेयों की प्रमा कराते हैं प्रमाणों की प्रमा नहीं कराते। प्रमाणों की प्रमा तो स्वयं प्रमाण से ही होती है। प्रमाण अपना ज्ञान स्वतः कराता है। दीपक यदि सबको दिखाता है। तो वह स्वयं को भी दिखाता है। दीपक को देखने के लिए किसी अन्य प्रमाणों को जानने के लिए कोई अन्य प्रमाण अपेक्षित नहीं है। यद्यपि प्रमाणों का प्रामाण्य तो न्यायदर्शन में परतः स्वीकार किया गया है किन्तु प्रमाणों का ज्ञान परतः नहीं होता अपितु वे स्वयं ज्ञात है। न्यायशास्त्र को तो समस्त विद्याओं का दीपक ही कहा गया है। प्रदीपः सर्वविद्यानाः उपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता। इसलिए यद्यपि प्रमाण ज्ञात होकर ही प्रमेयों का ज्ञान कराते है। किन्तु इतने से ही वह प्रमेय नहीं हो जाते प्रमाण फिर भी प्रमाण ही रहते हैं। चक्षु वृक्ष को देखता है। उससे चक्षु वृक्ष नहीं हो जाता।

प्रमेयों की संख्या और स्वरूप के विषय में भी अनेक जिज्ञासायें अध्येताओ के मन में उठती हैं। न्यायदर्शन में कहीं छः पदार्थ माने गये है। कही सात पदार्थ माने गये है।? प्रमेय बारह माने गये है। और तत्त्व सोलह माने गये है। द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय, विशेष, सामान्य और अभाव ये सात पदार्थ है, आत्मा, शरीर इन्द्रिय अर्थ, बुद्धि, मन, अपवर्ग ये बारह प्रमेय तथा न्याय सूत्र के प्रथम सूत्र में पठित प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवगुण, तर्क, निर्णय, वाद,

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्य, वितण्ड, दृष्टान्त, सिद्धान्त अवयव, तर्क, निर्णय बाद, जन्य, वितण्ड, हेत्वाभास, धन, जाति और निप्रस्थान में सोलह तत्त्व है जिसके ज्ञान से मुक्ति बतायी गई है। अब यहां पदार्थ प्रमेय और तत्त्वों के नामकरण और उनकी संख्याओं को लेकर मन में शंकायें उठती है कि इनका रहस्य क्या है? यदि सात ही पदार्थ हैं तो उनमें संशय प्रयोजनादि तत्त्वों की परिगणना किसके अन्तर्गत होगी क्योंकि न ये द्रव्य हैं, न गुण है और न कर्म हैं। यदि प्रमेय बारह ही हैं तो पृथ्वादि पंच महाभूत क्या प्रमेय नहीं है? और क्या उनका ज्ञान अपेक्षित नहीं है। सांख्य तो पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान से मुक्ति कहता है। तब फिर न्याय के इन विरुद्ध, कथन का क्या अभिप्राय लाया जाये? तत्त्वों की संख्या, सोलह मानी जाय या बारह मानी जाये या सात मानी जाये, अथवा पदार्थ शब्द का अर्थ कुछ भिन्न है। प्रमेय शब्द का अभिप्राय कुछ अन्य है। और तत्त्व शब्द का अर्थ कुछ और ही है? यह शंका अकारण नहीं है। इसका समाधान तो होना ही चाहिए।

वस्तुतः न्याय ने पदार्थ और प्रमेय में भेद माना हैं। पदार्थ शब्द के द्वारा तो वह उन सब विषयों का परिगणन करना चाहता है, जो भी पद से या वाणी से संकेतित हो सकता है। वाणी का समस्त प्रयञ्च ही पदार्थ शब्द में सन्निविष्ट है। जितने भी पद है उनका कोई न कोई अर्थ अवश्य है और जितने भी अर्थ है वे पद से ही ज्ञात हो सकते है अन्यथा नहीं। भर्तृहरि इस तथ्य को वाक्यपदीय में बड़े उहापोह के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनका यह कथन है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो शब्द के बिना प्रकट हो सकता है। जिन–जिन अर्थों का ज्ञान हम करते है उन सब में शब्द उसी प्रकार अनुप्रविष्ट रहता है जैसे सूर्य की किरणों में प्रमा अनुप्रविष्ट रहती है।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।

चाहे हमारा ज्ञान जागृत कालीन हो, स्वप्न का ज्ञान हो सुषुप्ति का ज्ञान हो या मूर्च्छा कालीन ज्ञान हो शब्द का अनुगम तो उसके साथ लगा ही रहता है। यहां तक कि जो हम मन में सोचते हैं वह

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोचना भी शब्द के बिना नहीं हो सकता, चुंकि पशु शब्दज्ञान से रहित है, इसलिए वे सोचते भी नहीं है। यह सम्पत्ति तो मनुष्य को ही प्राप्त है कि वह पद के अर्थ को जानता है, इसलिए सोचता भी है। कहने का अभिप्राय यह है कि समस्त अर्थ पद से ही द्योति हैं। पद और अर्थ का सम्बन्ध शाश्वत है। और नित्य है। यह बात पदवेत्ता महाकवि कालिदास भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने शिव और शक्ति के अभेदन की तुलना पद और अर्थ के सम्बन्ध से की है।

वागर्थाविवसंपृक्तौ वागर्थप्रत्तिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ। रघुवंश

इसलिए पदार्थ शब्द से न्याय का अभिप्राय उन समस्त वस्तुओं से है जिसको वाणी कह सकती है और जहां तक वाणी का व्यापार जा सकता है। हम किसी भी अर्थ का नाम ले वह हमें कहीं न कही इन सात पदार्थों में उपलब्ध हो जायेगा। शंका हो सकती है कि संशय, प्रयोजन दृष्टान्तादि का परिगणन तो सात पदार्थों के अन्तर्गत किया नहीं गया तो क्या ये पृथक् तत्त्व है? इस जिज्ञासा का समाधान दुष्कर नहीं है। न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र में संशयादि जिन चौदह तत्त्वों का परिगणन किया गया है। उनको शब्दतः तो सात पदार्थों में कहीं कहीं किया गया किन्तु वस्तुतः संशयादि बुद्धि के ही व्यापार है अतः बुद्धि नामक गुण में ही इन संशयादि का अन्तर्भाव होता है। इस प्रकार सात पदार्थ मानने वाला न्याय का सिद्धान्त समीचीन ही है।

पुनः जिज्ञासा होती है कि यदि पदार्थ सात हैं तो प्रमा के विषय बारह ही क्यों बताये गये? इन बारह पदार्थो में पृथिव्यादि का नाम तो कही नही किया गया जबकि पृथिव्यादि भी प्रमेय है। इस शंका का निवारण भी समीक्षात्मक दृष्टि से किया जा सकता है। प्रमेय का अर्थ है। प्रमा का विषय और प्रमा का अर्थ यथार्थ ज्ञान। यही यथार्थ ज्ञान मोक्ष के लिए उपयोगी है। क्योंकि न्याय के अनुसार मोक्ष तत्त्वों के ज्ञान से नही होता अपितु यथार्थ ज्ञान से मोक्ष होता है। तो मोक्ष के लिए जिन पदार्थो का यथार्थ ज्ञान उपयोगी हो सकता है। उन्ही का परिगन प्रमेयों के अन्तर्गत होना चाहिए था। चूकिं आत्मा शरीर

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियादि द्वादश पदार्थों के ज्ञान से ही मोक्ष हो सकता है। इसलिए प्रमेयों में बारह पदार्थों का ही परिगणन किया गया है। इसका अर्थ यही है कि यद्यपि पदार्थो की संख्या तो बयालीस है नो द्रव्य, चौबीस गुण, पाचँकर्म, सामान्य विशेष, समवाय और अभाव जिन्हें संक्षेप में सात संख्या दी गई है। किन्तु मोक्ष की प्राप्ति आत्मा आदि बारह पदार्थ के ज्ञान से होती है, इसलिए बारह ही पदार्थो है।

जहाँ न्याय ने षोडश तत्त्वों की चर्चा की है वहाँ भी मुख्य रूप से इन बारह पदार्थो की ही उपयोगिता है अन्य की नही। प्रधान रूप से तो प्रमेयों का ज्ञान ही उपयोगी है। चूकिं प्रमेयों का ज्ञान प्रमाणों से होता है इसलिए उससे पहले प्रमाण को भी तत्त्व मानना पडा। चूंकि प्रमाणों की प्रकृति संशयादि चौदह तत्त्वों के बिना सुचारू रूप से नही हो सकती इसलिए उन चौदह का भी परिगणन सूत्रकार ने कर दिया हैं इसलिए पदार्थ प्रमेय और तत्त्वों में कोई विरोध या व्याघात नही समझना चाहिए।

हाँ प्रमेयों के अन्तर्गत जो आत्मा का स्वरूप है वह अवश्य ही चिन्तनीय है। आत्मा को ज्ञान से रहित मानकर न्याय ने एक बहुत बडा असन्तोष दार्शनिक जगत में उत्पन्न कर दिया है। ज्ञान से शून्य होकर आत्मा जड ही हो जाता है। और मुक्तावस्था का आत्मा भी शीलाशकलकत् जड़ हो जाता है। मुक्तात्मा की जडता सहृदयों को उचित प्रतीत नहीं होती। दार्शनिक विशेष रूप से इस मत से अरूचि रखते है।

वस्तुतः आलोचकों की यह बात समझ में आती है। न्याय के इस पक्ष से हम भी रूचि ही रखते हैं। मुक्ति तो परमानन्द की अवस्था है। वह यदि सकल संज्ञाओं सकल संवेदनाओं और समस्त सुखों से रहित हो तो इससे तो संसार की अवस्था ही श्रेष्ठ है। क्योंकि उससे बीच–बीच में कुछ तो सुख किमत ही है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय
प्रमाणों का वर्गीकरण

यथार्थानुभव प्रभा है और उसका असाधारण कारण प्रमाण होता है। प्रमा के भेद के अनुसार ही प्रमाणों का भेद है। प्रमा के कितने भेद हैं? उस पर सभी दार्शनिक सम्प्रदाय एक मत से सहमत नहीं हैं। प्रत्येक के अपने भिन्न–भिन्न विचार हैं। चार्वाक् केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। जैन, बौद्ध और वैशेषिक सम्प्रदाय के व्यक्ति प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण स्वीकार करते हैं। योग तथा सांख्य में तीन प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। न्याय में चार, प्रभाकर मीमांसको ने पाँच प्रमाण स्वीस्कार किये हैं भाट्ट सम्प्रदाय और अद्वैत में छः प्रमाण स्वीकार किये हैं। इस प्रकार प्रमा के भेद से प्रमाणों की संख्या में भी भेद हो जाता है।

न्याय में यथार्थ अनुभव रूप प्रमा के चार भेद दिखलाये हैं अतः प्रमाणों की संख्या भी चार ही है। प्रमाणों की संख्या के विषय में प्राचीन नैयायिक और मध्यनैयायिक दोनो ही एक मत हैं और ये चार प्रमाण हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इनके विभाग का प्रयोजन है इनका नियमन होना, यदि विभाग न होगा तो नियमन जाना जायेगा कि न्यायदर्शन में चार ही प्रमाण हैं। जैसे कि उद्योतकर ने अपने न्याय वार्तिक में कहा है कि **चत्वार्येव प्रमाणानि** अर्थात् नियम से यह जाना गया कि न्याय में चार ही प्रमाण स्वीकृत हैं।[1]

प्रत्यक्ष–

एक–एक इन्द्रिय की प्रत्येक विषय में जो वृत्ति है वह प्रत्यक्ष है। यहाँ 'वृत्ति' का अर्थ सन्निकर्ष अथवा ज्ञान है। जब सन्निकर्ष अर्थ लिया जाता है तब तत्त्व ज्ञान फल है और जब ज्ञान अर्थ लिया जाता है तब त्याग,

---

1. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। – न्या० द० 1–1–3

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहण और उपेक्षा की मति फल है। अथवा गंगेश उपाध्याय के शब्दों में वह ज्ञान जिसका ग्रहण हमें साक्षात् हो प्रत्यक्ष कहलाता है। जो ज्ञान हमें साक्षात् होगा उसका ज्ञानेन्द्रियों का अपने–अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होना आवश्यक है इसलिए महर्षि गौतम प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि वह ज्ञान जो इन्द्रिय के साथ पदार्थ का संयोग होने से प्रादुर्भूत होता है। जिसका व्यपदेश्य या कथन न किया जा सके, जो व्यभिचार रहित या भ्रम रहित तथा निश्चयात्मक हो वह प्रत्यक्ष कहलाता है। जब हम आँखों से घट का ज्ञान प्राप्त करते हैं, तब यह शुद्ध ज्ञान है, ज्ञान के समय घट शब्द का कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि ज्ञान अशब्द और निर्विकल्पक है। दूसरे, प्रत्यक्षज्ञान निश्चयात्मक होता है, दूर से देखकर किसी पदार्थ को धूल या धूप मानने की भूल होने पर उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहेगें। निश्चय होने पर ही उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कह सकते हैं। आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के लिए तीन सम्बन्धों की आवश्यकता होती है। आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से तथा इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होना आवश्यक होता है। आत्ममनः संयोग ज्ञान मात्र के लिए आवश्यक होता है घट के प्रत्यक्ष में प्रथम घट के साथ इन्द्रिय का संयोग तदनन्तर मन का इन्द्रिय के साथ संयोग और अन्त में जब मन आत्मा से संयुक्त होता तभी हमें प्रत्यक्ष होता है।

---

1. अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम् । वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा। यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः । यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षा–बुद्धयः फलम्।........न्या० द०ला०भा० 1/2/3
2. प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्त्वं लक्षणम्/ तत्वं–1 चिन्तामणि पृ० 552
3. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यः मन्व्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्या०द०सू० 1/1/4

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमान–

वह ज्ञान जो किसी अन्य ज्ञान के पश्चात् होता है उसको अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे कि वात्स्यायन कहते हैं कि ज्ञात लिंग से लिंगी का पश्चात् ज्ञान करना अनुमान है। तर्कभाषा में भी लिंग परामर्श को ही अनुमान कहा है।[2] जिससे अनुमिति की जाती है वह अनुमान है। लिंग परामर्श से अनुमिति की जाती है। अतः लिंग परामर्श अनुमान है। व्याप्ति की सहायता से वस्तु का बोध कराने वाले को लिंग या हेतु कहते हैं।[3] जैसे धूप,अग्नि का लिंग है। व्याप्ति का अर्थ साहचर्य नियम है जैसे जहाँ–जहाँ धूप है वहाँ–वहाँ अग्नि भी है। जब व्याप्ति से विशिष्ट लिंग का ज्ञान पक्ष में उत्पन्न होता है उसे ही लिंग परामर्श कहते हैं। लिंग शब्द की उत्पत्ति है **लीनमर्थं गमयति इति** जो लीन अर्थात् परोक्ष अर्थ का बोध कराता है। व्याप्ति के सामर्थ्य से अर्थ का सहायक लिंग है, यहाँ व्याप्ति के सामर्थ्य का अभिप्राय है व्याप्ति का निश्चय तथा स्मरण। यह परोक्ष अर्थ का ज्ञापक हेतु होता है। जैस पर्वतादि में धूम परोक्ष अग्नि का ज्ञापक होता है, यह धूम अग्नि का लिंग है। किन्तु धूम तभी अग्नि का बोध कराता है। जब हम धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति का निश्चय कर लेते हैं और उसका स्मरण करते हैं और इसका यह तृतीय ज्ञान परामर्श कहा जाता है – जैसे प्रथम पाकशाला में कोई व्यक्ति बार–बार धूम को देखता हुआ अग्नि को देखता है। इस बार–बार दर्शन में धूम और अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध का निश्चय करता है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है। यह प्रथम लिंग दर्शन है फिर पर्वत आदि में धूम को देखना द्वितीय लिंग दर्शन है और प्रथम लिंग दर्शन से गृहीत व्याप्ति के ज्ञान से यह निश्चय करना कि पर्वत वन्हिमान् है यह तृतीय लिंग है और यही तृतीय लिंग परामर्श अनुमान कहलाता है।

---

1. मितेन लिंगेन लिंगिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्। न्या०द०वा०भा० 1–1–3
2. लिंगपरापर्शोऽनुमानम्। तर्क भाषा पृ० 78
3. व्याप्तिवलेनार्थगमकं लिंगम्। तदैव पृ० 79
4. तस्य तृतीय ज्ञानं परामर्शः। तर्क भाषा पृ० 80

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपमान –

ज्ञान के सामर्थ्य से ज्ञेय की सिद्धि करना उपमान है।[1] प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु का साधन होना उपमान कहलाता है। जैसे यह सुनकर कि गवय गौ के समान होता है, हम अनुमान करते हैं कि वह पशु जो गौ के समान है गवय है।[2] यहाँ गौ के सदृश गवय का ग्रहण संज्ञा के सम्बन्ध के ज्ञान से है, तथापि गवय में सादृश्य के प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है, वही प्रमाण जन्य है, उपमान का फल है। केशवमिश्र ने अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ गौ की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान ही उपमान माना है। अतिदेश वाक्य का अर्थ है समानता आदि का बतलाने वाला वाक्य अथवा वह वाक्य अतिदेश वाक्य कहलाता है, जिसके द्वारा एक पदार्थ के धर्म का दूसरे में सम्बन्ध दिखलाया जाता है, यह वाक्य गौ तथा गवय के सादृश्य को बतलाता है अतः अतिदेश वाक्य है। यह वाक्य भी उपमान प्रमाण का अंग है। इस प्रकार वह ज्ञान जो किसी प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य से सभी अप्रसिद्ध वस्तु का प्रत्यक्ष कर उसके विषय में अनुमान करना कि वही है जिसको मैंने किसी पुरुष की वाणी से सुनाया और इसी आधार पर गवय का ज्ञान होता है।

शब्द –

आप्त वाक्य शब्द कहलाता है। जैसा पदार्थ है वैसा ही उसका उपदेश करने वाला पुरुष आप्त कहा जाता है।[3] हम ऐसी अनेक वस्तुओं के अस्तित्व को जिन्हें हमने स्वयं नही देखा, न जिनके विषय में विचार ही किया अन्य पुरुषों के प्रामाणिक कथन के आधार पर स्वीकार कर लेते हैं। हमें प्रचलित साक्ष्य,ऐतिहासिक परम्परा तथा धर्मशास्त्रों की दिव्य वाणी के आधार पर बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

---

1. प्रसिद्धसाधर्म्यात्–साध्यसाधनमुपमानम्। न्या०द० 1–1–6
2. प्रसिद्धवस्तु साधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम्।।
   उपमानं समाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा। हरि० सम० 23
3. आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। तर्कभाषा पृ० 122

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार की ज्ञानप्राप्ति की विधि में तार्किक दृष्टि से भी विवेचनीय विषय सन्निविष्ट है उनके विषय में शाब्द अथवा आप्तप्रमाण के अन्तर्गत हम विचार करते हैं। गौतम ने अपने सूत्र में यही कहा है कि आप्तों का उपदेश अर्थात् वचन या यथार्थवक्ता द्वारा उच्चरितवाक्य शब्दप्रमाण है।[1] यथाभूत अर्थ को बतलाने वाला साधारण जन हो अथवा कोई विशिष्ट पुरुष सभी आप्त कहलाते हैं।[2] और उसी प्रकार सबके व्यवहार चलते हैं।

माध्वमत के अनुसार प्रमाणों का वर्गीकरण

मध्वाचार्य ने द्विविध प्रमाण स्वीकार किये हैं। केवल प्रमाण और अनुप्रमाण। उनमें यथार्थ ज्ञान अनुप्रमाण है। यथार्थ का अर्थ संशय, विपर्यय आदि से रहित ज्ञान से है। ज्ञान का अर्थ गत साधनों से है और यह साक्षाज्ज्ञेय विषयी कारित्व होने से केवल प्रमाण है।[3] प्रमाणचन्द्रिका में भी प्रमाण के दो भेद किये हैं। केवल प्रमाण और अनुप्रमाण। केवल प्रमाण को यथार्थज्ञान स्वीकार किया है।[4]

केवल ज्ञान के चार भेद किये हैं। ईश्वरज्ञान, लक्ष्मीज्ञान, योगीज्ञान और आयोगीज्ञान। सर्वार्थ विषयक ज्ञान ईश्वर ज्ञान है। जो स्वभाव से यथार्थ है। उसका स्वरूप अनादि, नित्य, स्वतन्त्र और

---

1. आप्तोपदेशः शब्दः। न्या०सू० 1–1–7
2. ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। न्या० भा० 1–1–7
3. द्विविधं प्रमाणं केवलमनुप्रमाणं चेति तत्र यथार्थं ज्ञानं केवलप्रमाणम्। यथार्थमिति संश्रायादिव्युदासः। ज्ञानमितिप्रत्यक्षस्य————————। इदं च साधानज्ज्ञेयविषयीकारित्वात् केवलमित्युच्यते। प्रमाणपद्धति पृ० 6
4. प्रमाणं द्विविधं केवलं मनुप्रमाणं चेति। तत्र यथार्थज्ञानं केवल प्रमाणम्। प्रमाणचन्द्रिका पृ०। 34

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरतिशय स्पष्ट है।[1] ईश्वर के आधीन ज्ञान ही लक्ष्मीज्ञान है।[2] योग के प्रभाव से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह योगिज्ञान कहलाता है।[3] यह तीन प्रकार का होता है – ऋजुयोगिज्ञान, तात्विकयोगिज्ञान और अतात्त्विकयोगिज्ञान।

इसके अतिरिक्त जो जीव हैं वे अयोगी हैं। उनका ज्ञान अयोगिज्ञान है। ईश्वर से भिन्न अज्ञान भी प्रचुरता से युक्त ज्ञान अयोगिज्ञान कहलाता है। वह भी दो प्रकार का है– उत्पत्ति और विनाश वाला। अयोगी तीन प्रकार के होते है– मुक्तयोग्य, नित्यसंसारी और तमो योग्य। मुक्तयोग्य का ज्ञान यथार्थ का ज्ञान यथार्थ है, नित्य संसारी का ज्ञान मिश्रित है और अन्यों का ज्ञान अयथार्थ ही है।[4]

अनुप्रमाण के तीन भेद हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।[5] प्रमाणचन्द्रिका में भी अनुप्रमाण के तीन ही भेद किये हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।[6]

---

1. तत्र सर्वार्थविषयकमीश्वरज्ञानम्। नि० यथार्थ तत्स्वरूप अनादिनित्यम्, स्वतन्त्रम्, निरतिशयस्पष्टं च। प्रमाणचन्द्रिका पृ० 6
2. ईश्वरोक्ताधीनं ज्ञानं लक्ष्मीज्ञानम्। प्रमाणचन्द्रिका पृ०
3. योगप्रभावलब्धातिशयं योगज्ञानम्। प्र० प० पृ० 6
4. तदव्यतिरिक्ता जीवाः अयोगिनः। ईश्वरादन्मत्रज्ञान प्रचुरं तज्ज्ञानं। तदपि पूर्ववत् द्विविधम्। उत्पत्तिविनाशश्च अयोगिनोऽपि त्रिविधः। मुक्तियोग्या स्वरूपज्ञानं यथार्थमेव, नित्यसंसारिणं तु मिश्रम्। अन्येषामयथार्थ मेव। प्र०प०पृ० –7
5. त्रिविधमनुप्रमाणम् प्रत्यक्षमनुमानगमश्चेति। प्र0प0पृ0 –8
6. अनुप्रमाणं त्रिविधं प्रत्यक्षम् अनुमानम्, आगमश्चेति। प्र0प0पृ0 138

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैतवादी आचार्यों के अनुसार प्रमाणों का वर्गीकरण

तार्किकरक्षा ने अपने ग्रन्थ में प्रमाणों के भेद को इस प्रकार से निरूपित किया है कि चार्वाक के मत में केवल प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। कणाद,वैशेषिक और बौद्ध के मत में प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं। सांख्य के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द–तीन प्रमाण हैं। नैयायिक के मत में तीन और उपमान चार प्रमाण हैं। प्रभाकर मीमासंक के मत में पूर्वोक्त चार और अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण हैं । वेदान्त के मत में पूर्वोक्त पाँच और अनुपलब्धि ये छः प्रमाण हैं। पौराणिक के मत में 'सम्भव और ऐतिह्य' तथा पूर्वोक्त छः प्रमाण मिलाकर आठ प्रमाण होते हैं।[1] वेदान्तपरिभाषा में भी क्रमशः छः ही प्रमाणों का वर्णन आता है जो क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि के नाम से जाने जाते हैं।[2]

आचार्य शंकर मुण्डक उपनिषद् में प्रथम मुण्डक के द्वितीय खण्ड के बारहवें मन्त्र की व्याख्या करते हुए चार प्रमाणों का वर्णन करते हैं कि ब्राह्मण इन कर्मचित् लोकों को प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम[3] आदि प्रमाणों से परीक्षा कर सर्वत्र यथार्थता का अवधारण कर इनसे विरक्त हो जाये।

---

1. प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादः सुगतो पुनः।
   अनुमानञ्च तच्चाथ सांख्याः शब्दञ्चतेऽपि।।
   न्यायिकदेशिनोऽप्येषमुपमानंच केचन।
   अर्थापत्या सहेतानि चत्वार्यहि प्रभाकरः।।
   अभावषष्ठान्येतानि भाट्टावेदान्तिनस्तथा।।
   सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिकाः जगुः।।
2. तानि च प्रमाणानि षट् प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्युपलब्धि भेदात्। वे०प०प० 2
3. तानेतान् परीक्ष्य प्रत्यक्षानुमानोपमानागमे। इत्येतत्। मुण्ड उ०शा०भा० 1–2–12

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बृहदारण्यक उपनिषद् का भाष्य करते हुए इस उपनिषद् के तृतीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण के प्रथम मन्त्र की भूमिका में आचार्य शंकर ने अर्थापत्ति नामक प्रमाण का भी उल्लेख किया है। यहाँ पर कर्म द्वारा मोक्ष के विषय में विचार है कि विद्या सहित कर्मों से मोक्ष का आरम्भ होता है। आचार्य शंकर का उत्तर है कि यह उचित नहीं है क्योंकि बन्धन का नाश ही मोक्ष है, मोक्ष कार्यभूत नहीं है। और बन्धन अविद्या के कारण है और अविद्या का कर्म से नाश नहीं होता है। क्योंकि कर्मों की सामर्थ्यता दृष्ट विषय तक ही सीमित है। उत्पत्ति, प्राप्ति, विवाह और संस्कार ही कर्म की सामर्थ्य के विषय हैं, इसके अतिरिक्त विषय कर्म की सामर्थ्य से भिन्न है। अब तो पूर्व पक्षी शंका करते हैं कि हमने माना कि केवल कर्मों का ही यह स्वभाव है। परन्तु विद्यायुक्त निरभिसन्धि का तो अन्य स्वभाव होता ही है। देखा भी जाता है कि अन्य शक्तित्व से विषदधि आदि निर्ज्ञात पदार्थों का भी विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्त अन्य पदार्थों में सामर्थ्यता होती है। और यदि ऐसे ही कर्मो को भी सामर्थ्यता हो तो? इसका उत्तर आचार्य शंकर इस प्रकार देते हैं कि यह युक्त नहीं है। क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। न प्रत्यक्ष है, न अनुमान है, न उपमान, न अर्थापत्ति और नहीं शब्द प्रमाण।[1] यदि अनुपपत्ति को अनुपलब्धि का ही अन्य रूप माना जाये तो एक और प्रमाण का आचार्य द्वारा वर्णन प्रस्तुत हो जाता है। क्योंकि वे अन्यथानुपपत्ति को भी कर्म की इस सामर्थ्यता में प्रमाण नहीं मानते।[2]

---

1. तथा कर्मणोऽप्यस्त्विति चेत्। न। प्रमाणभावात्। तत्र हि कर्मणः उक्तविषयव्यतिरेकेणेह विषयान्तरे सामर्थ्यास्तित्वे प्रमाणं न प्रत्यक्षं नानुमानं नोपमानं नार्थापत्तिर्न शब्दोऽस्ति। वृ० 3 शा० भा० 3–3–1।
2. ननु कालान्तराभावे चोदनान्यथानुपपत्तिः प्रमाणमिति। न हि नित्यानां कर्मणां विश्वस्मिन्न्यायेन फलं कल्प्यते।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार आचार्य शंकर द्वारा छहों प्रमाणों की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् आचार्य शंकर को ये छहों प्रमाण अभीष्ट हैं। उनका संक्षिप्त वर्णन हम प्रकार है –

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष प्रमा के कारण को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।[1] वेदान्त सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ही है। जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है।[2] प्रत्यक्ष का तात्पर्य इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्पर्क होने से तत्काल और साक्षात् ज्ञान से है। प्रमा का तात्पर्य यथार्थ अनुभव से है। जब हम चक्षु इन्द्रिय से वट को देखते हैं जो अन्तःकरण उसकी ओर अग्रसर होता है। उसे अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है। उसकी आकृति धारण करता है और उसका बोध कराता है। इस आन्तरिक व्यापार के कारण ही हमें अपनी प्रत्येक इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत विषयों का साक्षात् और अपरोक्ष ज्ञान होता है।

अनुमान

अनुमिति प्रभा के कारण को अनुमान प्रमाण कहते हैं।[3] जो व्याप्तिज्ञान जन्य है। **अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्।** जिस ज्ञान के कारण अग्न्यादिकों का अनुमान किया जाता है, जिस व्याप्ति ज्ञान से अनुमिति प्रमा पैदा की जाती है वह व्याप्ति ज्ञान अनुमान है। व्याप्ति की परिभाषा यह है कि यह हेतु तथा साध्य के मध्य निरन्तर साहचर्य रूप से रहने वाला सम्पर्क है जो हेतु की समस्त आधारों अर्थात् पक्षपद में विद्यमान रहता है। प्रथम हम अग्नि और धूम्र का संबंध महानस में प्रत्यक्ष देखते हैं और इस आधार पर हम यह जान जाते हैं कि जहां–जहां धूम्र

---

1. तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। वे०परि०।
2. यत्साक्षादपरोधाद् ब्रह्म। वृ०उ० 3–4–1
3. अनुमिति करणमनुमानम्। वे0 परि0 द्वितीय परिच्छेद।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा वहां वहां अग्नि अवश्य ही होगी। यह साधारण नियम बना लेते हैं। अब फिर जब हम दूर से किसी पर्वत पर धूम्र को देखते हैं तो जो हम महानस में दृष्ट अग्नि और धुऐं के संबंध के आधार पर वहां अग्नि होने का अनुमान लगाते हैं।

उपमान

सादृश्य प्रमा के कारण को उपमान कहते हैं।[1] जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं और उसे देखकर अन्य पदार्थ का स्मरण करते हैं तो इस देखे गए पदार्थ के साथ स्मृत पदार्थ के सादृश्य का जो ज्ञान हमें होता है यह उपमान प्रमाण के साधन से हुआ कहलाता है। वह गाय जिसे मैंने नगर में देखा था उस गाय के समान है जिसे मैं अब देखता हूँ। उपमान द्वारा प्राप्त ज्ञान उस ज्ञान से भिन्न है जो प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त होता है, क्योंकि हम स्मृति द्वारा किसी ऐसी वस्तु का बोध ग्रहण करते हैं जो इन्द्रियों के सम्पर्क में नहीं है। क्योंकि जिस समय अलग दिखाई दिया उस समय गाय नहीं देखी गई। यह अनुमान से भिन्न है क्योंकि अनुमान के लिए आवश्यक अवयवों में से एक अवयव भी यहां उपस्थित नहीं है।

आगम

जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता वह वाक्यप्रमाण होता है।[2] वाक्य जन्य ज्ञान में, आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य– ये चार कारण होते हैं। यहां पर वाक्य के संसर्ग में मानान्ताराबाधित्व और तात्पर्य विषयी भूतत्व ये दो विशेषण दिये गये हैं। मानान्तराबाधित्व विशेषण के न देने पर **बह्निना सिंचेत**–अग्नि से

---

1. तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्। वे०परि० पृ० 179।
2. यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न वाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। वे0 परि0 पृ0 189।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेचन करें। इस वाक्य में अति–व्याप्ति होगी। क्योंकि इस वाक्य का अग्नि सेचन रूप अर्थ, वक्ता के तात्पर्य का विषय है। उपर्युक्त विशेषण के देने पर उसका निवारण हो जाता है। क्योंकि अग्नि साध्य सेचन, यद्यपि तात्पर्य का विषय है तथापि प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित हो रहा है। इसी प्रकार तात्पर्यविषयीभूतरूप विशेषण के देने पर **''स प्रजापतिरात्मनो वपामुदस्विदत''** उस प्रजापति ने अपनी त्वचा को खरोच कर निकाला, इत्यादि श्रुति वाक्य पर अव्याप्ति दोष आता है। क्योंकि अपनी दशा का स्वयं उच्छेद करना रूप अर्थ, प्रमाणान्तर से बाधित है क्योंकि वपोच्छेद होने पर जीवित रहना ही असंभव है।

अर्थापत्ति

उस प्रमाण रूप अर्थापत्ति में उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति प्रमा है। इन दोनों में से उपपाद्य ज्ञान प्रमाण है और उपपादक ज्ञान प्रमा (फल) है जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है वह उपपाद्य और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है वह वहां उपपादक होता है। जैसे रात्रि भोजन के बिना दिन में भोजन न करने वाले पुरुष का पीनत्व अनुपपन्न है, इस कारण वैसा पीनत्व उपपाद्य है और रात्रि भोजन के अभाव में वैसे पीनत्व की अनुपत्ति है, इस कारण रात्रि भोजन उस पीनत्व का उपपादक है।[1]

---

1. तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादक–कल्पनमर्थापत्तिः। तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम्। उपपादकं ज्ञानं फलम्। येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यं यस्याभावे यस्यानुपत्तितत्तत्रोपपादकम्। यथा रात्रि भोजनेन विना दिवा भुंजानस्य पीनत्त्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम्।। व० परि० पू० 267।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुपलब्धि

ज्ञानरूपकरण से उत्पन्न न होने वाला जो अभावानुभव का असाधारण कारण हो वही अनुपलब्धि है।[1] जब हम कहते हैं इस स्थान पर घड़ा नहीं है। तो हम घड़े के अभाव का बोध ग्रहण करते हैं अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि उसमें एक उपस्थित पदार्थ के साथ इन्द्रिय संपर्क होना आवश्यक है जो उस विषय में संभव नहीं है। अन्य प्रमाणों द्वारा भी अभाव का ज्ञान नही हो सकता। अनुपलब्धि ऐसे पदार्थ के सम्बन्ध में जिसका निषेध बताया गया है, ज्ञान का एक साधन है।

आचार्य रामानुज के अनुसार प्रमाणों का वर्गीकरण

रामानुजाचार्य ज्ञान प्राप्ति के साधनों में तीन प्रकार के साधन अथवा प्रमाण स्वीकार करते हैं जो प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द नाम से जाने जाते हैं।[2] वेदान्तकारिकावली में भी इन्हीं तीनों प्रमाणों को ग्रहण किया गया है।[3] श्रीमत्वेंकटनाथ ने न्यायपरिशुद्धि में भी तीन ही प्रमाणों को गिनाया है।[4] मनु महाराज ने भी इन्हीं तीन प्रमाणों का वर्गीकरण किया है।[5] आचार्य रामानुज ज्ञान की प्राप्ति के स्रोतों में से इन्हीं स्रोतों को स्वीकार करते हैं। यतीन्द्र मतदीपिका में श्रीनिवासाचार्य ने भी तीन ही प्रमाण स्वीकार किये हैं। वे प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन ही हैं।[6]

---

1. ज्ञानकरणजन्या भावानुभवासाधारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्। वे०परि०–279।
2. प्रत्यक्षानुमानागमाख्यं प्रमाणजातम्। श्रीभष्य।
3. मानं प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात्। वेदान्तकारिकावली। 1–2
4. त्रिविधं प्रमाणं प्रत्यक्षानुमानशब्दभेदात्। न्या०पृ०68।
5. प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्र च विविधागमम्/त्रयं सुविदितं कार्यम् धर्म० मनु० स्मृति।
6. तानि प्रमाणणनि प्रत्यक्षानुमानशब्दा0 – यतीन्द्र0 पृ0 14।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य वल्लभ के अनुसार प्रमाणों का वर्गीकरण

आचार्य वल्लभ के अनुसार भी तीन ही प्रकार के प्रमाण हैं। पुरुषोत्तम ने, प्रस्थानरत्नाकर में स्वयं में तीन प्रमाण माने हैं।

अन्य दार्शनिकों के मत में प्रमाणों का वर्गीकरण

जैन दर्शन

जैन दर्शन केवल दो प्रमाणों को मानता है, प्रत्यक्ष एवं अनुमान। प्रमाणमीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र ने भी दो प्रमाण गिनायें हैं – "प्रमाण दिधा"[1] प्रत्यक्ष और परोक्ष। स्मरण और प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त सुख–दुःख की अनुभूति द्वारा आत्मा एक प्रकार का प्रत्यक्ष ही है जिसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी प्रकार शरीर की क्रियायें और चेष्टायें उनके संचालन एवं नियंत्रण किसी परिचालक का सहज ही में अनुमान कराते हैं। यह जैन दर्शन इन्हीं दो प्रमाणों को स्वीकार करता है।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन में भी दो ही प्रकार के प्रमाण स्वीकार किये गये हैं– प्रत्यक्ष एवं अनुमान ।

साख्यदर्शन

साख्य एवं योग दर्शन में तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। साख्यकारिका में कहा है कि प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द– ये तीन प्रमाण हैं। योग दर्शनकार महर्षि पतञ्जली भी इन्हीं तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।[3]

चार्वाक

चार्वाक् दर्शन में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार किया है। अन्यों को नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष ही दृष्ट वस्तुओं का बोधक है।

---

1. प्रमाणं द्विधा प्रत्यक्षं परोक्षं च 1/10 प्रमाणमीमांसा।
2. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्। सा०का० 4
3. प्रत्यक्षानुमानागमा प्रमाणानि। यो0द0 1/6

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समालोचना –

भारतीय दर्शनों में ज्ञानप्राप्ति की समस्या पर अत्यधिक गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया है। अधिगत ज्ञान अधिक से अधिक कितने प्रकार का हो सकता है और प्रत्येक दर्शन अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कितने प्रमाण मानकर प्रतिपादित करता है, यह विवेचन जहां विपुल सामग्री सहित उपलब्ध होता है, वहां यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शनों में समन्वय तो प्राप्त होता है किन्तु प्रमाणों के विषय में सबका मतैक्य नहीं है।

न्यायदर्शन में चार प्रमाण माने गये हैं। न्यायदर्शन अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की मान्यता प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्दप्रमाण द्वारा प्रतिपादित करता है। वैशेषिक न्यायदर्शन के सम्प्रदाय का दर्शन स्वीकार किया जाता है। तथापि वैशेषिकदर्शन केवल प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को ही स्वीकार करता है तथा शब्द और उपमान को अनुमान के अन्तर्गत मानता है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक भी दो ही प्रकार के प्रमाण स्वीकार करते हैं।

पूर्वमीमांसा दर्शन में पांच प्रमाणों को माना गया है। यद्यपि मूल पूर्वमीमांसा दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा को छोड़कर अन्य प्रमाणों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। वेदान्त दर्शन में छः प्रमाण प्राप्त होते हैं परन्तु मूल ब्रह्मसूत्र में षष्ठ प्रमाणों का प्रतिपादन प्राप्त नहीं होता है।

प्रमाणों के सम्बन्ध में समस्त दार्शनिकसाहित्य का आलोचना विलोचन करने से यह प्रतीत होता है कि प्रमाणों के गहन विवेचन के सन्दर्भ में सभी दार्शनिकों ने अपनी–अपनी विचार धारा को सफल तर्कों से प्रतिपादित किया है। सभी ने स्वाभिमत प्रमाणों की संख्या के विषय में भी विचार किया है।

मेरे अनुसार सांख्य व योगदर्शन द्वारा स्वीकृत तीन ही प्रमाण प्रमा के ज्ञान के साधन में उचित प्रतीत होंगे। अन्यों को प्रमाण भी स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु उनका अन्तर्भाव इन्हीं तीनों में हो सकता है। इसमें लाघव गुण आ जायेगा।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय
प्रत्यक्ष प्रमाण

1. द्वैतवादी आचार्यों के अनुसार प्रत्यक्ष की परिभाषा –

न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष अर्थात् संयोग से उत्पन्न होने वाला अव्यपदेश्य अर्थात् अकथनीय एवं अशाब्द अव्यभिचारी निर्दोष अर्थात् संज्ञयविपर्ययादि से रहित व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।[1] वात्स्यायन के अनुसार इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है। वह प्रत्यक्ष है।[2] पुनः प्रश्न होता है कि इतने मात्र से तो यह होता नहीं कि आत्मा का मन से संयोग होता है मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से। समाधान रूप में कहा जाता है कि यह लक्षण कारण का नियतीकरण या अवधारण नहीं है कि इतना ही प्रत्यक्ष में कारण होता है। वस्तुतः यह विशिष्टि कारण का कथन किया गया है। जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विशिष्ट कारण का कथन किया जा रहा है किन्तु जो अनुमान आदि ज्ञान का समान (कारण) है उसकी विवृत्ति नहीं की जा रही।

प्रत्यक्ष प्रमाण के अर्थ में और ''प्रत्यक्ष'' शब्द का प्रयोग दिखलाया गया है। उस अर्थ में प्रत्यक्ष शब्द की उत्पत्ति है। **प्रतिगतम् अक्षं अर्थात् विषयं प्रतिगतमक्षम्**–विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रिय। अथवा प्रति शब्द का प्रयोग समीपता का और अक्ष शब्द इन्द्रिय का वाचक होने से जो ज्ञान प्रति इन्द्रिय को साक्षात् प्राप्त होता है। वह प्रत्यक्ष कहलाता है। जैसा कि वात्स्यायन अपने भाष्य में लिखते हैं।[3]

---

1. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्या०सू० 1/1/4
2. इन्द्रियास्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्। न्या०वा०भा० 1/1/4
3. अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृतिः प्रत्यक्षम्। न्या०द०वा०भा०। 1/1/31

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां वृत्ति का अर्थ से ज्ञान अथवा सन्निकर्ष। जब सन्निकर्ष का अर्थ लिया जाता है तब प्रमाण का फल तत्त्वज्ञान या प्रमिति है और जब ज्ञान अर्थ लिया जाता है, तब त्याग ग्रहण और उपेक्षा की मति फल है।[1] उद्योतकर ने भी इसी का समर्थन किया है अर्थात् अर्थ के सन्निकर्ष इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।[2]

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए किया गया व्यापार प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है, वह व्यापार केवल इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष ही नहीं है जैसा कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन स्वयं स्वीकार करते हैं कि सर्वप्रथम आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से एवं इन्द्रियां विषय से तब कहीं प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार समष्टिरूप से आत्मा और विषयों के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है केवल इन्द्रिय और विषयों के सन्निकर्ष से नहीं पुनरपि इन्द्रिय सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है।

न्यायसार के रचयिता सम्यक् तथा अपरोक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं।[3] न्यायसार की टीका न्यायमुक्तावली के रचयिता श्री अपराकदेव भी प्रत्यक्ष की यही परिभाषा करते हैं।[4] तर्क संग्रह में प्रत्यक्ष ज्ञान करण को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में कहा गया है।[5]प्रमाण कहा है। अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियाँ

---

1. वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा। यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः। यदा ज्ञानं तदा हानोपदानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।न्या०द०वा०भा०1/1/31
2. इन्द्रियेणार्थस्य सन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। न्या०या० 1/1/4
3. तत्र सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम्। न्या०सार० पृ० 109।
4. प्रत्यक्षपदे तु प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षमिति। टीकान्यायमुक्तावली।
5. तत्र प्रत्यज्ञकानाकरणं प्रत्यक्षम् 1. तर्कसंग्रह

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्कसंग्रह की न्यायबोधिनी टीका में प्रत्यक्ष प्रमा के प्रति व्यापारयुक्त होकर असाधारण भाव से कारण होने वाली वस्तु को प्रत्यक्ष संयोग आदि सन्निकर्ष स्वरूप व्यापार के द्वारा असाधारण कारण होकर प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रबंटित करती है।[1] अर्थात् अपने विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। यदि ईश्वर कर्तृक प्रत्यक्ष भी निर्वचनीय हो तो इस प्रकार समझना चाहिए कि ज्ञान जिस ज्ञान का कारण न हो वह है प्रत्यक्ष।[2] क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष नित्य है वह इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता। यदि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से ही प्रत्यक्ष उत्पन्न होता तो यह ईश्वर प्रत्यक्षीकरण में अव्याप्ति दोष से दूषित लक्षण होता। इसी का समाधान करने के लिए न्याय सिद्धान्तमुक्तावली में दो विकल्प दिये हैं। प्रथम यह कि यह लक्षण ईश्वर प्रत्यक्ष को लक्ष्य नहीं करता क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष नित्य है और इस प्रत्यक्ष में अनित्य प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में ही विचार किया गया है। अतः ईश्वर प्रत्यक्ष में लक्षण का न पहुंचना दोष नहीं है। अपितु गुण है।[3] अथवा दूसरा विकल्प जो ज्ञान अन्य ज्ञान से उत्पन्न नहीं है वह प्रत्यक्ष है ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण

---

1. षड्विधो इन्द्रियभूतप्रत्यक्षप्रमाणस्य लक्षणमाह तत्रेति– प्रमाभूतेषु प्रत्यक्षात्मकं यज्ज्ञानं चाक्षुषाऽऽदिप्रत्यक्षं तत्प्रति व्यापारवदासाधारणं कारणमिन्द्रियं भवति। अतः प्रत्यक्षज्ञानकरणत्वं प्रत्यक्षस्य लक्षणम्।। तर्कसंग्रह।
2. ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थसंन्निकर्षं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।। तर्क सं०
3. इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् यद्यपि मनोरूपेणेन्द्रियजन्यं सर्वं येन ज्ञानं, तथापीन्द्रियत्वेनरूपेणेन्द्रियाणां यत्र ज्ञाने करणत्वं तत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितम्। ईश्वरप्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम्। तर्कसंग्रह।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाये। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, जब कि अनुमिति के लिए हेतु का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान एवं व्याप्ति का स्मरण, उपमिति के लिए तादृश्य ज्ञान, शब्दबोध के लिए पद ज्ञान करण होता है और ईश्वर का प्रत्यक्ष अकरणक है, सुतरां ज्ञानाकारणक है।

आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् पं० आर्यमुनि ने अपने न्यायार्य–भाष्य में प्रत्यक्ष की व्याख्या पद पदार्थ के सम्बन्ध ज्ञान से होने बाले ज्ञान का नाम व्ययदेश्य''या शब्द''और उससे भिन्न ज्ञान का नाम ''अव्यपदेश्य वा'' अशाब्द कहा है जो इन्द्रिय तथा अर्थ विषय के सन्निकर्ष सम्बन्ध से जन्य हो और व्यपदेश्य भ्रम तथा संशय से रहित हो उसका नाम ''प्रत्यक्ष'' है अर्थात् संशय भ्रमरहित और शब्दार्थ सम्बन्ध से न होने वाले ज्ञन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

वात्स्यायन ने भी अव्यपदेश्य'' शब्द को इसी अर्थ से गृहीत किया है। उसके अनुसार सभी अर्थों के नामवाचक शब्द होते हैं उनसे अर्थ की प्रतीति होती है और अर्थ की प्रतीति से व्यवहार होता है। उसमें इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला यह अर्थ भाव'' रूप है'' या'' रस है। इस प्रकार होता है। रूप ऐसे आदि शब्द विषय के नाम है उससे ज्ञान को व्यपदेश्य कहा जाता है ''रूप है'' ऐसा जानता है'' रस है'' ऐसा जानता है। नाम शब्द से व्यपदेश्य किया जाता हुआ ज्ञान शब्द होने लगेगा। इसलिए अव्यपदेश्य कहा है।

---

1. अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। अनुमितोव्याप्तिज्ञानस्योपमितो सादृश्यज्ञानस्य शाब्दबोधे पदज्ञानस्य स्मृतावनुभवस्य करणत्वात्तत्र नातिव्याप्ति। इदं लक्षणमीश्वरप्रत्यक्षासाधारणम्। न्यासिं० युं०
2. न्यायार्थ भाष्य सूं० 1/1/4।।
3. यावदर्थं वै नामधेयं शब्दास्तैरर्थसंप्रत्ययः अर्थसम्प्रत्ययाच्च व्यवहारः तत्रेदमिन्द्रियार्थ संन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं रूपम् इति वा, रसं इत्येवं वा भवति। रूप रस शब्दाश्च विषयनामधेयम्। तेन व्यपदिश्यते ज्ञानम्, रूपमिति जानीते रस इति जानीते। नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शब्दं प्रसज्यते। अतः आह अव्यपदेश्यमिति–वा०भा० 1–1–4

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयन्तभट्ट का कथन है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं जिसका व्यवहार शब्द से न हो सके, जो ज्ञान नामधेय शब्द से व्यवहृत नहीं होता उसका अन्ततः किसी न किसी सामाम्य शब्द से व्यघहार किया जाता है[1]। क्योंकि वाचक शब्द से उल्लेख उच्चारण बिना विषय की स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है कि सब ज्ञान वाचक से व्यवहृत होते हैं अर्थात् ज्ञान मात्र का व्यवहार वाचक शब्द से पाया जाता है। इस रीति से प्रत्यक्ष का लक्षण यह हुआ कि शब्द ज्ञान से भिन्न जो ज्ञान इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं।[3]

पुनरपि मिथ्या ज्ञान से अतिव्याप्ति दोष बना रहता है इस दोष की निवृत्ति हेतु सूत्र में अव्यभिचारी पद का प्रयोग किया है। अर्थात् ग्रीष्मकाल में सूर्य की किरणें भूमि की उष्मा से संसृष्ट हुई फैलती हुई दूरस्थ व्यक्ति की चक्षु से सन्निकृष्ट होती है। वहां इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से यह जल है। इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है और वह भी प्रत्यक्ष होने लगता है। इसलिए उक्त ज्ञान में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ अव्यभिचारी पद दिया है। जो वह न होने वाले में वह है ऐसा ज्ञान होता है, वह व्यभिचारी होता है, किन्तु जो उसमें वह है ऐसा ज्ञान होता है, वह अव्यभिचारी है वह प्रत्यक्ष है[4]।

---

1. न च शब्दानुसन्धानरहितः कश्चित् प्रत्ययो दृश्यते। न्या०प्र०अ०।
2. न सोऽस्ति प्रत्ययोलोके यः शब्दानुगमादृते।
   अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वशब्देन जन्यते।। वा०प० 1–123
3. अशब्दवच्छिंन्न विषयमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। न्या०।
4. ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्माणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते। तत्रेन्द्रियार्थ सन्निकर्षादुदकमिति ज्ञानमुत्पद्यते। तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यते इत्यत आह, अव्यभिचारीति। यद् तस्मिस्ततदिति तदव्यभिचारी, यत्तु तस्मिंस्तदिति तदव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति। – न्या०द०वा०भा०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दिग्ध अवस्था की निवृत्ति हेतु ''व्यवसायात्मक'' पद का प्रयोग किया है। दूर से ही चक्षु द्वारा अर्थ को देखता हुआ व्यक्ति निश्चय नहीं करता है कि धूम है या धूलि है। वह यह इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला अनिश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष होने लगेगा, इसलिए कहा है व्यवसायात्मक। अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।[1]

अतः निर्गलित अर्थ हुआ कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से संशय भ्रम व शब्दरहित अर्थात् अव्यपदेश्य अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।

अद्वैतवादी आचार्यों के अनुसार प्रत्यक्ष

प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष प्रमा का जो करण है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।[2] प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रथम व सर्वोत्कृष्ट लक्षण है, उसका तत्काल व बाधारहित होना। प्रमा यथार्थ ज्ञान का नाम है। प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा लक्षण करने से अनुमानादि में इसकी अतिव्याप्ति हो जायेगी क्योंकि यहां भी यथार्थ ज्ञान ही अभीष्ट है। अतः अतिव्याप्ति दोष निवारण के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण प्रत्यक्ष प्रमा का करण ऐसा किया है। अतः प्रत्यक्ष प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है। वेदान्त सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमा ''चैतन्य'' ही है जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है।[3]

प्रश्न उत्पन्न होता है कि चैतन्य अनादि है। अनादि का अर्थ है कारण रहित अतः एव उत्पन्न न होने वाला, अकार्य जो नित्य वस्तु है उसके कारण की तो सम्भावना ही नहीं हो सकती। तब प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य में चक्षुः श्रोत्रादि रूप इन्द्रियां करण कैसे हो सकती हैं।

---

1. दुश्च्चक्षुषा ह्यर्थंयमर्थं पश्यन्नावधारयति धूम इति वा रेणुरिति वा तदेतदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणं ज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यत इत्यत् आह, व्ययसायात्मकमिति।...... न्या०वा०भा०।
2. तत्र प्रत्यक्ष प्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। वे0परि0 पृ० 20
3. यत्साक्षादपरोक्षादब्रह्म। वृ० उ० 3–4–1

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके उत्तर में कहा जाता है कि अनादि चैतन्य में भी उसे अभिव्यक्त करने वाली अन्तःकरण वृत्ति, इन्द्रिय, सन्निकर्षादि निमित्त से ही पैदा होती है। उसी से वृत्तिविशिष्ट चैतन्य आदिमत् है ऐसा कहा जाता है। अन्तःकरण वृत्ति ज्ञानावच्छेदकत्व है। अतः उसमें ज्ञानत्व का उपचार होता है। चक्षुरादि इन्द्रियों का अविशिष्ट चैतन्य के प्रतिकरण न बनना हमें इष्ट ही है। क्योंकि अविशिष्ट शुद्ध चैतन्य में स्वयं प्रकाशत्व होता है। इस कारण चैतन्यात्मा में प्रमाण व्यापार की अपेक्षा नहीं होती, अर्थात् स्वयं प्रकाश चैतन्यात्मा की सिद्धि में प्रमाण व्यापार की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु अप्रकाश पदार्थ को साभास अन्तःकरणवृत्ति रूप प्रमाण की अपेक्षा रहती है।

परन्तु अन्तः करण निरवयव है और अवयव शून्य अन्तःकरण की परिणामात्मक वृत्ति की सम्भावना कैसे हो सकती है। अन्तःकरण को निरवयव नैयायिकों को ही इष्ट है। अद्वैतमत में अन्तःकरण सावयव है सादि द्रव्यत्व होने से अर्थात् उत्पन्न होने वाला होने से वह सावयव है क्योंकि श्रुति में स्पष्ट निर्देश है कि उसने अर्थात् ब्रह्म ने मन का सृजन किया और अन्तःकरण वृत्तिरूप ज्ञान मन का धर्म है। अतः सादि द्रव्य होने से सावयव हैं और अन्त्यावयवीद्रव्य न होने से परिणामात्मक हो सकता है।[2] परन्तु काम संकल्प आदि अन्तःकरण के धर्मो में अहं का अनुभव अन्तः करण से आत्मा ऐक्य अध्यास होने पर मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूँ इत्यादि व्यवहार होता है। जैसे लोहे के गोले में दग्धृत्व न होने पर भी दग्धृत्व धर्म से युक्त हुए अग्नि के तादात्म्य का अभ्यास होने से यह लोहा

---

1. चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यंजकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियसन्निक– र्षादिना जायते इति वृत्ति विशिष्टं चैतन्यमादिमदित्युच्यते। ज्ञानावच्छेदक– त्वच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे–अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात् इति। वे०परि०पृ० 25
2. न तावदन्तःकरणं....................इत्यादिश्रुतेः 1–वे०परि०पृ०27

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा रहा है। ऐसा व्यवहार होता है। तदत् अन्तकरण और आत्मा के तादात्म्य में सुख दुःख आदि का आत्मधर्मत्व के विषय करने वाला अनुभव होता है।[1]

यदि नैयायिक अन्तःकरण को इन्द्रिय होने से अतिन्द्रिय स्वीकार करते हैं तो इनका यह कथन उचित नहीं। क्योंकि अन्तःकरण के इन्द्रिय होने से कोई प्रमाण नहीं है और यदि यह कहां कि मन को इन्द्रियता को स्वीकार न करने पर सुखादिकों के प्रत्यक्ष अनुभव की प्रत्यक्षता नहीं बन सकेगी क्योंकि वह इन्द्रिय से जन्य नही है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है, कारण ज्ञान को इन्द्रिय जन्यत्व होने से उसका साक्षात्व है यह नहीं कहा जा सकता। इन्द्रिय जन्य होने से ज्ञान का साक्षात्व यदि स्वीकार किया जाये तो अनुमिति ज्ञान, उपमिति ज्ञान इत्यादि अन्य ज्ञान भी मन से ही उत्पन्न होने से उन्हे भी प्रत्यक्ष ज्ञान कहना होगा और ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियों से पैदा न होने से उसे साक्षात्व की अनापत्ति होगी। अतः इन्द्रिय जन्यत्व प्रत्यक्षता में प्रयोजक नहीं है। तो पुनः प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या है? वेदान्त में ज्ञानगत प्रत्यक्ष प्रयोजक और विषयगत प्रत्यक्ष प्रयोजक भेद से दो प्रकार के प्रत्यक्षत्व के प्रयोजन का निर्देश है।

प्रथम अर्थात् ज्ञानगत प्रत्यक्ष तो प्रमाण चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अंभेद होना है और यह चैतन्य तीन प्रकार का है–विषयचैतन्य, प्रमाणचैतन्य और प्रमातृचैतन्य। घटादि विषयों से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य विषयचैतन्य है। अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रमाण है। और अन्तःकरणंवाच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य है।

---

1. अयः पिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रय वन्हितादात्म्याध्यासात् यथा अयो दहति इति व्यवहारस्तथा सुखाधाकारपरिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासात् अहं सुखी दुःखीत्यादिव्यवहारः। वे०परि०पृ० 30
2. प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याभेदः इति ब्रुमः। तथा हि त्रिविध चैतन्यं विषयचैतन्यं प्रमाण चैतन्यं प्रमातृ चैतन्यं चेति। तत्र घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम् अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम् अन्तःकरणवाच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्।। वे०परि० पृ० 37।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन त्रिविध चैतन्य में प्रमाणचैतन्य अर्थात् वृत्यवच्छिन्न चैतन्य और प्रमेयचैतन्य अर्थात् विषयावच्छिन्न चैतन्य का ऐक्य होना ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।

जैसे तालाब का जल छिद्र से निकल कर नाली के रास्ते से होता हुआ खेतों में प्रविष्ट होता है और उसी के आकार का तिकौना, चौकौना या वर्तुलाकार बन जाता है वैसे ही पूर्वोक्त तीन उपाधियों में से तेजस् अन्तःकरण भी चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकल कर घटादि विषय तक जाता है और घटादि विषयों के आकार में परिणत होता है। उस परिणाम को वृत्ति कहते हैं। परन्तु अनुमित्यादि प्रमा स्थलों में अन्तःकरण अग्नि के देश में नही जाता क्योंकि उस समय अग्नि आदि विषयो का चधुरादि इन्द्रियों से सन्निकर्ष नहीं हुआ रहता। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान में भी वृत्ति और घट का भेद होने से उन भिन्न उपाधियों से युक्त–प्रमाण प्रमेय चैतन्यो का भी भेद रहने पर पूर्वोक्त प्रत्यक्ष प्रयोजक के यहाँ अव्याप्त की आशा है तो यह उचित नही क्योंकि–इन्द्रियों और विषय के सन्निकर्ष के समय में अन्तःकरण शरीर से बाहर निकलता है। तब यह घट है। इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमा में घटादि विषय और तदाकार वृत्ति का शरीर के बाहर एक स्थान में अवस्थान होने से उन दोनों से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य एक ही है। क्योकि अन्तःकरण वृत्ति और घटादि विषय से उपाधियां उपाहित में भेद करने वाली होने पर भी उनकी एक स्थान में स्थिति होने से वे भेद नही कर सकती। इसी कारण गृहस्थित घट से अवच्छिन्न हुआ आकार उस गृह से अवच्छिन्न हुए आकार से भिन्न होता

---

1. तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोण द्याकारं भवति। तथा तेजसमन्तः करणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्त्य घटादिविषयदेशं गत्यादि विषयकारेण परिणमते। स एव परिणामों वृत्तिरित्युच्यते अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य बह्यादि देशगमनं बह्ययादेश्चक्षुराद्यसन्निकर्षात्। वे०परि०पृ०। 37

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। घटाकार से भिन्न है इसी प्रकार प्रमाण चैतन्य उपाधि है और विषय चैतन्य की विषय उपाधि है। इसलिए एक स्थान पर स्थित हुई भी दो विशेषणों की तरह उन दो उपाधियो में भेद जनकत्व है, तब उनमें अभेद कैसे संभव होता है? इसी आशंका का उत्तर है कि यह घट है इत्याकारक ज्ञान घट अंश में प्रत्यक्ष है। घट और घट के सम्बन्ध से घटाकार हुई वृत्ति इन दो उपाधियो से अवच्छिन्न हुआ द्विविध चैतन्य शरीर के बाहर एक ही स्थान में स्थित हुई उन दो उपाधियों से अवच्छिन्न हुआ है। अतः उनके भेद की प्रतीति नही हो सकती। क्योंकि उपाधि उपधित्वेन भिन्नदेशस्थित्व हुए बिना उपाधि चैतन्य के भेद का प्रयोजक नही होती। एक देशस्थित्व होने से वह अभेद प्रयोजक है।

इस प्रकार दो उपाधियों के एक देशस्थित होने से उपाधियों में भेद उत्पन्न करने का सामर्थ्य नही रहता। ऐसा निर्णित होने पर "यह घट है" इस प्रत्यक्ष ज्ञान में घटाकारवृत्ति में घट संयोगित्व होता है। इस कारण घटावाच्छिन्न चैतन्य और घटाकारवृत्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होता है और इन दो चैतन्यों का ऐक्य होने से यह घट है इस प्रत्यक्ष स्थल में घटज्ञान घट अंश में प्रत्यक्षत्व है।[2] सुख दुःखादि पदार्थों से चक्षुरादि इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं। रहने से अन्तःकरण की सुखाद्याकार वृत्ति भी

---

1. तथा चायं घट इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृत्तेश्च बहिरेकत्रदेशे समवधानात तदुभयावच्छिन्नं चैतन्यमेकमेव विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्तिः घटादिविषयेयोरेकदेशस्थत्वेन भेदी जनकत्वात्। अतः एव महान्तर्वर्ति घटावच्छिन्नाकाशो न महावच्छिन्नाकाशाद्भिद्यते। वे० परि० पृ० 41
2. तथा चायं घट इति घटप्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घट संयोगितया घटावच्छिन्नचैतन्यस्य तद्वृत्यवच्छिन्नचैतन्यस्य चाभिनतया तत्र घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम्। वे०परि०पृ० 42

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पन्न नहीं हो सकती। तब सुखादि अंश में प्रत्यक्ष कैसे? इस पर कहते हैं कि सुखादिकों से अवच्छिन्न हुआ 'चैतन्य' और सुखादि के आधार से परिणत हुई अन्तःकरण वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य में दोनों नियम से एक ही स्थान मे अर्थात् अन्तःकरण रूप एक ही स्थान में स्थित उपाधि द्वय–सुखादि और सुवाधाकार वृत्ति से अवच्छिन्न होने से नियमेन" में सुखी हूँ" इत्यादि ज्ञान को सुखादि के अंश में प्रत्यक्षत्व है।

दो उपाधियों को एक देशस्थ होने पर भेद जनकत्व नहीं रहता यह कहने पर अन्तःकरणस्थित सुखादिस्मंरण को भी सुखादि अंश में प्रत्यक्षत्व प्राप्त होगा। ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि अन्तःकरण वृत्ति में उत्पन्न होने वाले स्मरण का विषय जो सुख भूतकालीन है और स्मृतिरूप अन्तःकरण वृत्ति इन दोनों उपाधियों में भिन्न कालत्व है। उसका काल भिन्न होने से सुख और स्मृति से अवच्छिन्न हुए दोनों चैतन्य भी भिन्न हैं। क्योंकि दोनों उपाधियों को एकदेशस्थत्व होकर एककालीनत्व भी जब हो तभी वह उपधेय के अभेद में प्रयोजक हो सकता है और यदि दो उपाधियों का एकदेशस्थत्व ही उपधेय के अभेद में प्रयोजक मानना है तो मैं सुखी था" इत्यादि स्मृति में उसकी अतिव्याप्ति न होने देने के लिए "विषय" में वर्तमानत्व" विशेषण देना चाहिए। ऐसा मानने पर भी जिस समय अपने वर्तमान धर्माधर्म शब्दादि प्रमाणों के द्वारा जाने जाते हैं, तब उस तरह के शब्द ज्ञान में अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि वहाँ पर धर्मादिकों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य और तदाकार वृत्यवच्छिन्न हुए चैतन्य।

---

1. सुखाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यतदवृत्यवच्छिन्नचैतन्यत्य च नियतेनैकदेश–स्थितोपधिद्वयादच्छिन्नत्वात् नियमेनाहं सुखीत्यादित्रज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् वे०परि०पृ० 43 ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों का एकत्व रहता है ऐसा कहें तो ठीक नही है क्योंकि योग्यत्व को भी विषय विशेषणत्व है। अर्थात् प्रत्यक्षत्व प्रयोजक के लक्षण में "विषय" शब्द के साथ "वर्तमान" विशेषण की तरह "योग्य" विशेषण भी जोडना चाहिए। तब धर्माधर्मादिकों के शब्द ज्ञान में प्रत्यक्षत्वप्रयोजक लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

यदि विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछते हो तो प्रमाता से घटादि विषय का अभिन्नत्व ही विषयगत प्रत्यक्षत्व में प्रयोजक है। परन्तु घटादि विषयों का अन्तःकरणवाच्छिन्न चैतन्य से अभेद कैसे संभव है? क्योंकि विषय का प्रमाता से अभेद यदि मान लिया जाये तो मैं इस घट को देखता हूँ इस भेदानुभव से विरोध होगा। इसके उत्तर में कहा जाता है कि प्रमातृ भेद का अर्थ यहाँ प्रमातृ ऐक्य नहीं अपितु अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप प्रमाता की सत्ता से भिन्न घटादि विषय की सत्ता का अभाव ही यहाँ प्रमातृ भेद शब्द से विवक्षित है। अतः घटादि विषयों से अवच्छिन्न हुए चैतन्य में घटादि विषयों का अध्यारोप हुआ होने से विषय चैतन्य सत्ता ही घटादि विषयों की सत्ता है क्योंकि हम वेदान्ती अधिष्ठान की सत्ता से, आरोपित की सत्ता को भिन्न नहीं मानते हैं पूर्वोक्त प्रकार से प्रमातृ ही विषय चैतन्य है। प्रमातृ चैतन्य में घटादि विषयो की अधिष्ठानता होने से प्रमातृ सत्ता ही घटादि सत्ता है। उससे भिन्न नहीं। इससे घटादिकों का अपरोक्षत्व अर्थात् प्रत्यक्षत्व सिद्ध हुआ।

---

1. नन्वेषामपि स्वकीयधर्माधर्मो वर्तमानो यदा शब्दादिना ज्ञायेते तदा तादृश शाब्दज्ञानादावतिव्याप्तिः तत्र धर्माद्यवच्छिन्न तद् वृत्यवच्छिन्न चैतन्ययोरेकत्वात। वें०परिं०पृं० 45
2. योग्यत्वस्यापि विषयविशेषणत्वम्। वें० परिं० 46
3. घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्वं तु प्रमातृभिन्नत्वम्। वें०परिं० 62
4. प्रमातृभेदो नाम न तदैक्यम् किन्तु प्रमातृ सत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावः। तथा च घटादेः स्वावच्छिन्न चैतन्यऽध्यऽस्ततया विषयचैतन्यसत्तैव घटादिसत्ता अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया आरोपित अनंगीकारात्। विषयचैतन्यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमातृचैतन्यमेवेति प्रमातृ चैतन्यस्यैव घटाद्यधिष्ठानतया प्रमातृसत्तैव घटादिसत्ता नान्येति सिद्धं घटादेरपरोक्षत्वम्।। वें०परिं० 64

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्टाद्वैत में प्रत्यक्ष प्रमाण

विशिष्टाद्वैत के अनुसार साक्षात्कारि प्रमा को प्रत्यक्ष कहते हैं।[1] साक्षात्व जातिरूप या उपाधि रूप कोई ज्ञान स्वभाव विशेष से साक्षी होता है, अर्थात् मैं इसका साक्षात कर रहा हूँ ऐसा स्व–स्व अनुभव होता है।[2] ज्ञानकरणजज्ञान स्मृतिरहित मति अपरोक्ष है इसमें अव्याघ्यादि दोष भी उपस्थित नहीं होते हैं। इसे निषेधात्मक रूप से ऐसा ज्ञान कहा जा सकता है जो अन्य ज्ञान से उत्पन्न नही होता है जैसा कि अनुमान शब्द या स्मृति में होता है।[3] वरदविष्णु अपने ''मानयाथात्म्य निर्णय'' में प्रत्यक्ष को विशद और सजीव कहकर व्याख्या करते हैं।[4] विशदता और सजीवता से उनका अर्थ पदार्थ के विशिष्ट और विलक्षण गुणों का प्रकाशन से है जो शब्द और अनुमान में दिखने वाले जाति लक्षणों से भिन्न है। मेघनादारि भी प्रत्यक्ष को विषय का साक्षात् ज्ञान कहकर व्याख्या करते हैं।[5] यह ज्ञान की उत्पत्ति किसी अन्य प्रमाणों पर आश्रित नही हैं। यही इसका साक्षात्व है। वैंकटनाथ और मेघनादारि दोनों ही यह मानते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा कभी भी शुद्ध विषयगत द्रव्य, विना लक्षण या सामान्य धर्मों के अनुभव नही किया जाता। रामानुज का अनुसरण करते हुए वे कहते हैं कि विषय हमेशा जब भी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तब पहले ही क्षण में कुछ लक्षणों सहित ग्रहण किये जाते हैं नहीं तो यह समझना कठिन हो जाता है कि वे उत्तर क्षणों में किस प्रकार विभिन्न लक्षणों सहित ग्रहण

---

1. साक्षात्कारि प्रमा प्रत्यक्षत्वम्—न्याय परिशुद्धि।
2. साक्षात्वं च जातिरूपः उपाधिरूपो वा कश्चिज्ज्ञानस्वभावविशेषः स्वात्मसाक्षिकः। तदैव।
3. ज्ञानकरणजज्ञानस्मृतिरहिता मतिरपरोक्षमिति।
4. प्रमाया आपरोक्ष्यं नाम विशदावभासत्वम्। मा०या०पि०
5. अर्थपरिच्छेदकं साक्षात् ज्ञानम्।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये जाते हैं।अगर वे पहले क्षण में ग्रहण नहीं किये जाते तो वे पूर्ण रूप से सम्बन्ध सहित उत्तर क्षणों में भी कभी भी नहीं जाने जायेंगे।

श्रीनिवासाचार्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ यतीन्द्रमतदीपिका में साक्षात्कारी प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है।प्रत्यक्ष प्रमाण का अनुमानादि प्रमाणों से भेद सिद्ध करने के लिए साक्षात्कारी पद को प्रमा का विशेषण बनाया गया हैं। दूषित इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान से प्रमा की भिन्नता सिद्ध करने के लिए प्रमा पद का प्रयोग किया गया है। साक्षात्कारिणी प्रमा वह होती है जो चक्षुरादि इन्द्रियों से उत्पन्न होती है।

वल्लभाचार्य मत में प्रत्यक्ष प्रमाण :–

वल्लभाचार्य के अनुसार इन्द्रियात्मक प्रमाण ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। अर्थात् अदुष्ट इन्द्रियों से जानने वाला प्रमाण ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। ये इन्द्रियां छः प्रकार की होती हैं– चक्षु, त्वचा, घ्राण, रसना, श्रवण और मन। प्रत्यक्ष की व्याख्या करते हुए पुरुषोत्तम ने कहा है कि चक्षु के योग्य उद्‌भूत रूप केवल रंग आदि हैं। समस्त इन्द्रियों से प्राप्त प्रत्यक्ष विषय स्पर्श आदि हैं। जैसे जब कोई विषय दृष्टिगत होता है तो उसी के समान वृत्ति अपना रूप धारण कर लेती है। किसी कार्य की उत्पत्ति के पूर्ण वस्तु में उसका अभाव होता है उसे प्रागभाव कहा जाता है। किसी उत्पन्न कार्य के नष्ट हो जाने पर उस कार्य का अभाव हो जाता है उसे ध्वंसरूपाभाव कहते हैं। जैसे घडें के टूट जाने पर घडे का अभाव ध्वंसाभाव कहलाता है। इस अभाव का भी अन्त नहीं होता क्योंकि घडा टूटने पर पुनः वही घडा वापस नही आ सकता नैयायिकों द्वारा स्वीकृत ये दोनों प्रागभाव

---

1. तत्र साक्षात्कारि प्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। अनुमानादिव्यावृत्यर्थं साक्षात्कारीति। दुष्टेन्द्रियजन्यव्यावृत्यर्थं प्रमेति।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा ध्वंसाभाव हैं।[1] कारण से अतिरिक्त और कोई प्रागभाव नहीं है और कार्यस्थिति के प्रतिकूल कारणावस्था ही प्रध्वंसाभाव कहा जाता है। इसी प्रकार नैयायिक जिसे अत्यन्ताभाव कहते हैं उसे वल्लभ वेदान्ती तिरोभाव में अन्तर्भाव कर लेते हैं। वल्लभ वेदान्त अभाव के चारों प्रकारों को कारण आविर्भाव और तिरोभाव में ही अन्तर्हित कर लेता है। केवल प्रत्यक्ष की ग्राहक इन्द्रियों तथा उनके व्यापार को स्वीकार करता है।

यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है– लौकिक तथा अलौकिक अलौकिक के तीन भेद हैं – सामान्य, योगज तथा माया।

प्रत्यक्ष के विषय में अन्य दार्शनिक मत

सांख्य

प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा करते हुए महर्षि कपिल लिखते हैं कि जिसके साथ सम्बद्ध हुआ उसी के आकार को ग्रहण या निर्देशन करने वाला जो विज्ञान है वह प्रत्यक्ष है[2] प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए आचार्य ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि विषय या प्रमेय से साक्षात् सम्बद्ध रहते हुए जो अध्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान रूप बुद्धिव्यापार होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।[3] मन की क्रिया के अनुसार बुद्धि प्रभावित होती है तथा यह विषय का आकार ग्रहण कर लेती है। सत्त्व की प्रधानता से दर्पण की भांति पुरुष का चैतन्य बुद्धि में प्रतिविम्बित होता है। इससे बुद्धि की अचेतन वृत्ति

1. प्रस्थानरत्नाकर – पृ० 11
2. यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्। सां०द० 1/89
3. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्। .... सां० कां० 5

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशित होकर प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार जब विषयाकार बुद्धि पर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब विषय्य का ज्ञान होता है। विज्ञानभिक्षु कहते हैं – जब विषय इन्द्रिय के सम्पर्क में आता है तब बुद्धि विषय का आकार ग्रहण करती है तथा सत्वगुण के आधिक्य से चैतन्य का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ने से उसमें भी चैतन्य का आभास हो जाता है। मिश्र जी के मत में आत्मा बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है किन्तु आत्मा में बुद्धि प्रतिबिम्बित नहीं होती। विज्ञान भिक्षु के मत में दोनों का प्रतिबिम्ब एक दूसरे पर पड़ता है।

जैन दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण

स्मरण और प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त सुख दुःख की अनुभूति द्वारा आत्मा एक प्रकार का प्रत्यक्ष ही है। जिसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहते हैं। धर्मों के अनुभव से ही धर्मी का प्रत्यक्ष होना है। वस्तुतः संसार में भी धर्मी के धर्मों का प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष कहलाता है। अन्यथा यदि धर्मी का भी कहीं प्रत्यक्ष होता तो बौद्ध उसे असत् क्यों मानता है? इस आधार पर आत्मा के धर्म सुख दुःख स्मृति संकल्प आदि का प्रत्यक्ष धर्मी आत्मा या जीव का प्रत्यक्ष है।

जैन दर्शन के प्रमाणनिर्णय नाम ग्रन्थ माला में श्रीमद् वरद्राजसूरि ने प्रत्यक्ष प्रमाण को इस प्रकार परिभाषित किया है "विवृत" ज्ञान प्रत्यक्षम् भवितुमर्हति विशेषावबोधकत्वात्। "जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य श्रीहेमचन्द्र ने अपने प्रमाणमीमांसा नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्ष प्रकरण में प्रत्यक्ष प्रमाण को सकल प्रमाण का ज्येष्ठ प्रमाण प्रत्यक्ष कहा है।

बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष :–

प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति के लिए तीन क्षण आवश्यक हैं – प्रथमक्षण में इन्द्रिय सान्निध्य से विषय की प्रतीति, द्वितीय में उसके लिए द्रष्टा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेयोपादेयता और तृतीय में उसका साक्षात्कार विषयगत प्रत्यक्ष के आधार पर ही दृष्टा को हेयोपादेयता की सिद्धि प्रत्यक्ष होती है। यही प्रत्यक्ष प्रमाण है। बौद्धाचार्य श्री धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष का लक्षण निम्न किया है– जो कल्पना से अपोढ तथा अभ्रान्त हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।[1] जो सभी प्रकार की कल्पनाओं से रहित है उसे कल्पनापोढ़ कहते हैं तथा जिसमें कोई भ्रान्ति न हो उसे अभ्रान्त कहते हैं, ऐसा ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद :–

प्रत्यक्ष के प्रथमतः दो भेद हैं नित्यप्रत्यक्ष एवं अनित्य अर्थात् जन्यप्रत्यक्ष। जन्यप्रत्यक्ष के भी प्रथमतः दो भेद किये जाते हैं। सविकल्पक एवं निर्विकल्पक। सविकल्पक प्रत्यक्ष के भी आरम्भ में दो भेद किये जाते हैं लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष। लौकिक प्रत्यक्ष के पुनः साधनों के भेद से छः उपविभाग किये जाते हैं– चाक्षुष, स्पार्शन घ्राणज, रासन श्रौत्र और मानस। अलौकि प्रत्यक्ष जिसे प्रत्यासत्ति कहते हैं, तीन प्रकार का है। सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जो ज्ञान निष्प्रकारक होता है उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।[2] भासर्वज्ञ के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान का ज्ञान है जिसमें केवल वस्तु के स्वरूप मात्र का ज्ञान होता है।3 दूर अवस्थित वस्तु अक्ष से सन्निकृष्ट होने पर जो हमारा सामान्य कोटि का ज्ञान होता है

---

1. तत्र कल्पनापोढ़मभ्रान्तं प्रत्यक्षम्। न्या०बि० 1/4
2. निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। तर्कसंग्रह।
3. वस्तुस्वरूपमात्रावभासकं निर्विकल्पकम् 1 – न्यायसार।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह निर्विकल्पक होता है। यह कुछ है इसका मात्र इतना ही ज्ञान होता है ऐसा नाम जात्यादिविरहित प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कोटि में परिगणित होता है। जैसे किसी सर्प का वह ज्ञान जिससे नाम जाति का ज्ञान न होकर केवल सर्पमात्र का ज्ञान हो तो उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं।

सविकल्पक – जो ज्ञान नामजात्यादि से समन्वित होता है वह ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है सप्रकार ज्ञान सविकल्पक कहलाता है। जैसे यह डित्थ नाम वाला है "यह ब्राह्मण है, यह श्याम है इत्यादिज्ञान उत्पन्न होना।[1]" निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर नाम जाति आदि से विशिष्ट डित्थ ब्राह्मण, श्याम आदि इस प्रकार का विशेषण तथा विशेष का ग्रहण करने वाला सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे किसी सर्प का ज्ञान जब उसके नाम जात्यादि से युक्त होता है तो वह सविकल्पक ज्ञान कहलाता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष पुनः द्विविध है लौकिक और अलौकिक। जो ज्ञान पदार्थ व इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है यह लौकिक प्रत्यक्ष होता है। यह दो प्रकार का होता है। ब्राह्म प्रत्यक्ष और आन्तर प्रत्यक्ष। जो बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। वह ब्राह्म प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके पांच भेद हैं। जो क्रमशः चाक्षुष चक्षुरिन्द्रिय एवं विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष को चाक्षुष प्रत्यक्ष कहते हैं। स्पार्श–त्वक् एवं विषय के सन्निकर्ष के द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्ष को स्पर्श कहते हैं। घ्राणज नासिका एवं विषय के सन्निकर्ष के द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्ष को घ्राणज कहते हैं। श्रोत्रज श्रोत्र एवं विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष को श्रोत्रज कहते हैं। आन्तर प्रत्यक्ष केवल

---

1. सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्। यथा डित्थोऽयं ब्राह्मणोऽयं श्यामोऽयमिति। तर्कसंग्रह।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक प्रकार का होता है वह है मानस प्रत्यक्ष। इस प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष के छः भेद हैं।

लौकिक पुरूषों के इन्द्रियसन्निकर्षादिसामग्रीजन्य प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष हैं तथा इसके विपरीत इन्द्रियसन्निकर्षादिव्यतिरेक से योगियों को जो प्रत्यक्ष होता है वह अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। यह तीन प्रकार का है। सामान्य लक्षण, ज्ञानलक्षण एवं योगज।

माध्व मत में भी प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं सविकल्पक और निर्विकल्पक केवल मात्र वस्तु स्वरूप का अवभास होना निर्विकल्पक है। विशिष्टाकार गोचर सविकल्पक है। वह आठ प्रकार का होता है। द्रव्य विकल्प जैसे दण्डि गुणविकल्प जैसे शुक्ल क्रिया विकल्प जैसे जाता है। जाति विकल्प जैसे गौ, विश्व विकल्प जैसे विशिष्ट परमाणु समवाय विकल्प जैसे पटसमवाय युक्त, तन्तु, नाम विकल्प जैसे देवदत्त, और अभाव विकल्प जैसे घटाभाववद्भूतल।[1]

जयतीर्थ ने विशेष और समवाय को प्रमाण नहीं स्वीकार किया।

---

1. निर्विकल्पक सविकल्पभेदेन द्विविधं प्रत्यक्षमित्याचक्षते। तत्र वस्तु स्वरूपमात्रावभासकं निर्विकल्पकम्। विशिष्टाकारगोचरं सविकल्पकम्। तत्र अष्टविधम्। तत्र द्रव्यविकल्पो यथा दण्डीति, गुणविकल्पो यथा शुक्ल इति, क्रियाविकल्पो यथा गच्छतीति, जातिविकल्पोयथा गौरिति, विशेषविकल्पो यथा विशिष्टः परमाणुरिति समवायविकल्पो यथा पटसमवायवन्त स्तन्तवः नामविकल्पो यथा देवदत्त इति, अभावविकल्पो यथा घटाभावदभूतलमिति। एतदप्यसत्। विशेषसमवाययोरप्रमाणिकत्वात्। प्रमाण पद्धति पृं०।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणचन्द्रिका में प्रत्यक्ष को सप्तविध कहा है एक साक्षी और छः इन्द्रियों से उत्पन्न प्रत्यक्ष सप्तविध होता है।[1]

अद्वैत मत में प्रत्यक्ष के भेद :–

अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद किये हैं। वेदान्त परिभाषा में कहा है कि प्रत्यक्ष दो प्रकार का है सविकल्पक और निर्विकल्पक। उनमें विकल्प को विषय करने वाले ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। जैसे मैं घट को जानता हूँ। यह ज्ञान सविकल्पक है। संसर्ग को विषय न करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान होता है। जैसे वह यह देवदत्त है। वह (सत्) तू है इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।[2]

निर्विकल्पक ज्ञान के उदाहरण में वाक्यजन्य ज्ञान बताया देखकर यह शंका होती है कि यह कथन अत्यन्त असंगत है। वह यह देवदत्त वाक्य से होने वाला ज्ञान शब्द ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। जब वाक्यजन्य ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कैसे कह सकते हैं?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि "वाक्यजन्य ज्ञान इन्द्रियजन्य न होने से शब्द है प्रत्यक्ष नहीं यह उचित नहीं क्योंकि प्रत्यक्षत्व में इन्द्रियजन्यत्व प्रयोजक नहीं है।[3] वेदान्त मत में देवदत्तावच्छिन्न और वृत्यवाछिन्न चैतन्य का अभेद होने से सोऽयं देवदत्तः इस वाक्य जन्य ज्ञान में प्रत्यक्षत्व है।

---

1. प्रत्यक्षं सप्तविधम् साक्षिषडिन्द्रियभेदात्। प्रमाणचन्द्रिका पृ० 139
2. तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम्। सविकल्पक–निर्विकल्पकभेदात् तत्र सविकल्पकं वैशिष्टयावगाहिज्ञानम्। यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम्। निर्विकल्पकं तु संसर्गानवगाहि ज्ञानम्। यथा सोऽयं देवदत्तः तत्वमसीत्यादि वाक्यजन्यज्ञानम्। वेदान्तपरिभाषा पृ० 77।
3. ननु शाब्दमिदं ज्ञानं न प्रत्यक्षमिन्द्रयाजन्यत्वात्। इति चेत् न। न हि इन्द्रियजन्यत्वं प्रत्यक्षत्वे तन्त्र, दूषितत्वात्।...... वेदान्त परिभाषा पृ०79

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्य जन्यज्ञान के विषयत्व में पदार्थों का संसर्गत्व प्रयोजक नहीं है। साक्षि चैतन्य की द्विविधता से पूर्वोक्त प्रत्यक्ष के पुनः द्विविधत्व का व्यपदेश करते हैं। यह सविकल्पक निर्विकल्पकरूप प्रत्यक्ष पुनश्च दो प्रकार का है एक जीवसाक्षी प्रत्यक्ष और दूसरा ईश्वर साक्षी प्रत्यक्ष। इनमें अन्तः करणावच्छिन्न चैतन्य "जीव" है और अन्तःकरणोपहित चैतन्य जीव साक्षी है। अन्तःकरण के विशेषणत्व और उपाधि के कारण जीव और जीव साक्षी का भेद है। अर्थात् अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य जीव है और अन्तः करणोपहित चैतन्य जीव साक्षी है। विशेषण उसको कहते हैं जो कार्यान्वयि व्यावर्तक और वर्तमान है। उपाधि उसे कहते हैं जो कार्य से अन्वय न रखते हुए व्यावर्तक और वर्तमान हो। "रूप" इस विशेषण से विशिष्ट हुआ घट अनित्य है। इस उदाहरण में "रूप" विशेषण है। कर्णशष्कुलि से अवच्छिन्न हुआ आकाश श्रोत्र है इस उदाहरण में कर्णशष्कुलि यह उपाधि है।[1]

अन्तःकरण के जड़ होने से उसमें विषयावभासकत्व नहीं बन पाता, इसलिए उसे (अन्तःकरण में) विषयावभासक चैतन्य का उपाधित्व है। यह जीवसाक्षी चैतन्य प्रत्येक आत्मा में भिन्न–भिन्न है। प्रत्येक प्रमाता का साक्षी चैतन्य यदि भिन्न भिन्न न माना जाये जो मैत्र को अवगत हुआ चैत्र

---

1. तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं जीवासाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति। तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यम्। तत्साक्षितु तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम्। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यामनयोर्भेदः। विशेषणं च कार्यान्वयि व्यावर्तकम्। उपाधिश्च कार्थ्यानन्वयी व्यावर्तको वर्तमानश्च रूपविशिष्टो घटो नित्य इत्यत्र एवं विशेषणम्। कर्णशष्कुल्यावच्छिन्नं नभः श्रोत्रमित्यत्र कर्णशष्कुल्युपाधिः।.............. वे०परि०पृ०85।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भी अनुसंधान होने लगेगा।[1] परन्तु ऐसी अनवस्था न हो इसलिए अद्वैत वेदान्त में अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद के कारण जीवसाक्षी में नानात्व स्वीकार किया है।

ईश्वर साक्षी –

मायोपहित चैतन्य ही ईश्वरसाक्षी चैतन्य है और वह एक है क्योंकि उस चैतन्य की उपाधिभूतमाया एक है।[2] माया के एक होने से मायोपहित चैतन्य भी एक है और इस कारण तदुपहित अर्थात् मायोपहित चैतन्य ईश्वर साक्षी है और वह अनादि है क्योंकि उसकी उपाधिरूप माया अनादि है।[3] मायावच्छिन्न चैतन्य परमेश्वर है। माया तब चैतन्य में विशेषण हो, तब उस चैतन्य में ईश्वरत्व है और माया जब उसमें उपाधि हो जब उस चैतन्य में साक्षित्व होता है।[4]

ईश्वर साक्षी चैतन्य यदि अनादि होता है तो उसने मैं बहुत होऊं, मैं प्रजा के रूप में उत्पन्न होऊं (छा0उ0 6–2–3) आदि वाक्य से सृष्टि के पूर्व परमेश्वर का आगन्तुक ईक्षण बताया है वह कैसे उत्पन्न होगा? क्योंकि ईश्वरसाक्षी–ईक्षण में सृष्टिपूर्णकालीनत्व है ऐसा कहा हुआ होने से उसे अनादि नहीं मान सकते। अतः ईश्वर साक्षी के ईक्षण में अनादित्व बाधित होता है और उनके बाधित होने पर तद्विशिष्ट ईश्वर में अनादित्व वाधित होता है।

---

1. प्रकृते चान्तःकरणस्य जडतया विषयभासत्वायोगेन विषयाभासक चैतन्योपाधित्वम्। अयं च जीवसाक्षि प्रत्यक्षं नाना। एकत्वे मैत्रावगते चैत्रस्याप्यनुसंधानप्रसंगः। वे०परि०पृ०88।
2. ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकं तदुपाधिभूतमायाया एकत्वात्। वे०परि०पृ० 89।
3. ततश्च तदुपहितं चैतन्यम् ईश्वरसाक्षी तच्चानादि तदुपाधेर्मायाया अनादित्वात्। वे०परि०पृ०9।
3. मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः मायाया–विशेषणत्वे ईश्वरत्वं उपाधित्वे साक्षित्वमिति। वे०परि०पृ०92

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि जैसे विषयेन्द्रिय सन्निकर्षादि कारणों से जीव के उपाधि रूप अन्तःकरण के वृत्ति विशेष माने जाते है वैसे ही जिन्हें उत्पन्न करना है उन प्राणियों के कर्मवशात् परमेश्वरोपाधि ा भूतमाया के वृत्तिविशेष यह अब उत्पन्न करने योग्य है, यह अब पालन करने योग्य है यह अब संहार करने योग्य है इत्यादि आकारों के वृत्ति विशेष उत्पन्न होते हैं। उन वृत्तियों में सादित्व होने से उनमें प्रतिविम्बित हुआ चैतन्य भी सादि कहा जाता है। पुनरपि स्वरूपतः अनादि है। उस औपाधिक सादित्व से चैतन्य का स्वाभाविक अनादित्व बाधित नहीं हो सकता।[1]

इस प्रकार साक्षी की द्विविधता से प्रत्यक्ष ज्ञान की भी द्विविधता है। प्रत्यक्षत्व के ज्ञेयगत और क्षाप्तिगत भेद से दो प्रकार बताये गये हैं।[2]प्रत्यक्ष के प्रकारान्तर से दो भेद और किये गये हैं इन्द्रियजन्य

---

1. उच्यते यथा विषयेन्द्रियसंन्निकर्षादिकारणवशेन जीवोपाध्यन्तःकरणस्य वृत्तिभेदा जायन्ते तथा सृज्यमान प्राणिकर्मवशेन परमेश्वरोपाधिभूतमायाया वृत्तिविशेषा इदमिदानीं ''सृष्टव्यमिदमिदानीं'' पालयित्व्यमिदमिदानीं संहर्तव्यं'' मित्याद्याकारा जायन्ते। तासां च वृत्तीनां साक्षीत्वात्तत्प्रतिविम्बितं चैतन्यमपि साक्षीत्युच्यते।...... वे०परि०पृ०95
2. एवं साक्षिद्वैविध्ये प्रत्यक्षज्ञानद्वैविध्यम्। प्रत्यक्षत्वं च ज्ञेयगतं ज्ञाप्तिगतं चेति। वे०परि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्ष और इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष उनमें सुखादि प्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष हैं क्योंकि मन को इन्द्रिय नहीं माना है। घ्राण, रसन, चक्षु, श्रोत्र और त्वक् ये पांच इन्द्रियां है। सब इन्द्रियाँ अपने–अपने विषय से संयुक्त होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान को पैदा करती हैं। परन्तु उनमें से घ्राण, रसन और त्वक् तीन इन्द्रियां अपने संस्थान में स्थित रहती हुई ही गन्ध, रस और स्पर्श विषयों को क्रमशः प्रत्यक्ष उत्पन्न करती हैं। परन्तु चक्षु और श्रोत्र दो इन्द्रियाँ स्वयं ही जहां विषय हो वहां जाकर अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं। चक्षु के समान परिच्छिन्न होने से श्रोत्र का भी भेरी मृदंगादि स्थानों में गमन सम्भव है। इसी कारण भेरी शब्द को मैंने सुना "मृदंगध्वनि को मैंने सुना" अनुभव होता है।

विशिष्टाद्वैत में प्रत्यक्ष के भेद –

रामानुज दर्शन में भी प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं जो हैं–निर्विकल्पक और सविकल्पक। इन दोनों के भी दो भेद हैं – अर्वाचीन और अनर्वाचीन। अर्वाचीन के पुनः दो भेद हैं इन्द्रिय सापेक्ष और इन्दियनिरपेक्ष। इन्द्रिय निरपेक्ष के दो भेद हैं स्वयं सिद्ध और दिव्य। स्वयं सिद्ध योगजन्य होता है और दिव्यज्ञान भगवान् की कृपा से होता है। अनर्वाचीन प्रत्यक्ष तो इन्द्रियनिरपेक्ष ही होता है। नित्य मुक्त जीवों तथा ईश्वर का ज्ञान अनर्वाचीन प्रत्यक्ष है।[2]

---

1. उक्तं प्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण द्विविधम् इन्द्रियजन्यं तदजन्यं चेति। तत्रेन्द्रिय जन्यं सुखादि प्रत्यक्षम् मनस इन्दियत्वनिराकरणात्। इन्द्रियाणि पंच घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वगात्मकानि। सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्व–स्व विषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति। वे०परि०पृ० 143
2. निर्विकल्पसविकल्पकभिन्नं............... नित्यमुक्तेश्वरज्ञानम्। यतीन्द्रमतदीपिका पृ० 18।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीनिवासाचार्य ने साक्षात्व के दो भेद किये हैं। नित्य और अनित्य। ईश्वर नित्यज्ञानादि निष्ठ नित्य है और हमारा ज्ञाननिष्ट अनित्य है। हमारा प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। योगिप्रत्यक्ष और अयोगिप्रत्यक्ष।[1]

न्यायपरिशुद्धि में प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद किये है – सविकल्पक और निर्विकल्पक।[2]

इन्द्रियों का वर्णन –

इन्द्रियों की व्याख्या उपस्कार भाष्य में इस प्रकार है – जो शब्द से अतिरिक्त उद्भूत मनस के संयोग का आश्रय हो उसे इन्द्रिय कहते हैं।[3] तत्त्वचिन्तामणि में इन्द्रियों को शरीर से संयुक्त ज्ञान का कारण माना है।[4] बाह्य रूप रस आदि विषयों का एवं आभ्यन्तर सुख दुःख आदि पदार्थों का साधन इन्द्रियां है।[5] न्याय दर्शन में इन्द्रियों का लक्षण करते हुए महर्षि गौतम ने कहा है घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक और श्रोत्र में पांच इन्द्रियाँ महाभूतों से उत्पन्न हुई हैं।[6] जिससे सूंधता है– गन्ध का ग्रहण करता है वह घ्राण है। जिससे रस लेता है। रस का ग्रहण करता है। वह रसना (जिह्वा) है रूप को देखता है वह चक्षु है। त्वचा के स्थान में रहने वाली त्वक् है, इसका व्यवहार स्थान से होता है। जिससे सुनता है शब्द का ग्रहण करता है वह श्रोत्र

---

1. साक्षात्वं द्विधा। नित्यं चानित्यं चो ईश्वरनिरवययज्ञानादिनिष्ठं नित्यम् अस्मदाद्विज्ञाननिष्ठं त्वनित्यम्। अस्मदादिप्रत्यक्षं द्विधा–योगिप्रत्यक्षमयोगिप्रत्यक्षं चेति। न्याय परिशुद्धि पृ० 72।
2. पुनः प्रत्यक्षं द्विधा सविकल्पकं निर्विकल्पकं चेति। न्या०परि०पृ०77
3. स्मृत्यजनकमनः संयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम् उप०भा०पृ०124
4. शरीरसंयुक्तं ज्ञानकारणमिन्द्रियम् – तत्वचिन्तामणि।
5. इन्द्रियं करणं मतम्। न्या०सि०मु०का 58 पृ० 305
6. घ्रणरसनचक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। न्या०सू० 1/1/12

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस प्रकार संज्ञा के निर्वचन के सामर्थ्य से जान लेना चाहिए कि अपने–अपने विषय का ग्रहण करना ही इन्द्रियों का लक्षण है।[1]

मध्वमत में भी ये ही क्रमशः छः इन्द्रियाँ अभिष्ट हैं। इन्द्रियाँ छः होती हैं घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, और मन।[2] प्रत्यक्षप्रमाण में प्रयुक्त इन्द्रियों से तात्पर्य ज्ञानेन्द्रियों से है।[3]

अद्वैत वेदान्त में पांच इन्द्रियाँ धर्मराजध्वरीन्द्र ने स्वीकार की हैं। मन वहां इन्द्रिय स्वीकार नहीं किया है। ये पांच इन्द्रियाँ अपने–अपने विषय से संयुक्त होकर प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करती हैं। जो निम्न हैं– घ्रण, रसन, चक्षु, श्रोत्र,त्वक्।[4]

विशिष्टाद्वैत के अनुसार इन्द्रियों का वर्णन :–

जिसका सात्विकाहंकार उपादान कारण हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। यह इन्द्रिय सामान्य का लक्षण है। इन्द्रियों के दो भेद हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रिय उसे कहते हैं जो ज्ञान का प्रसरण करने में समर्थ हों। ज्ञानेन्द्रियाँ छः प्रकार की होती है। मन, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, एवं त्वक्। स्मरण आदि क्रियाओं के साधकतम इन्द्रिय को मन कहते है। मन हृदय प्रदेश में रहता है उसे ही बुद्धि, अहंकार तथा चित्त आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। मन ही जीवों के बन्ध एवं मोक्ष का कारण है। शब्द आदि पाचं विषयों में से शब्द मात्र के ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय मनुष्य आदि के कर्ण कुहर में स्थिर

---

1. जिघ्रत्यनेनेति घ्राणं गन्धं गृह्यतीति नासिका। रसयत्यनेनेति रसनं रसं गृहणातिति। चेष्टतेऽनेनेति चक्षुः कूपं पश्यतीति। त्वक्स्थानमिन्द्रिवत्वक्। तदुप स्थानादिति। श्रृणोत्यनेनेतिश्रोत्रं शब्दं गृहणातीति। एवं समाख्यानिर्वचन सामर्थ्याद बोध्यं स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति। न्या०सू०वा०भा० 1/12
2. षडिन्द्रियाणि च घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि। प्रमाणम् च०पृ० 139
3. इन्द्रियशब्देन ज्ञानेन्द्रियं गृह्यते। प्रमाण पद्धति।
4. इन्द्रियाणि पंच–घ्राण–रसन चक्षु–श्रोत्र–त्वगात्मकानि सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्व विषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति व०परि०पृ० 143

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहती है। सर्प आदि के वह नेत्र प्रदेश में रहती है। इसी तरह रूपमात्र का ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को चक्षुरिन्द्रिय कहते हैं। यह सभी के नेत्र में रहती है। गन्ध मात्र के ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को घ्राणेन्द्रिय कहते हैं।[1] इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी अपने–अपने विषय को ग्रहण करती हैं। प्रत्यक्ष में ज्ञानेन्द्रियाँ ही करण होती हैं। अतः यहां इन्हीं का वर्णन किया गया है।

इन्द्रियों के भेद स्वरूप तथा लक्षण :–

जो शरीराश्रित हुआ स्वविषय के साथ संयुक्त होकर प्रमाता पुरुष को तत्विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन द्रव्य है वहीं इन्द्रिय है। अथवा भोग के साधन इन्द्रियां हैं।[2] उद्योतकर ने इन्द्रियों के स्वरूप के विषय में कहा है – करण होने से अपने–अपने विषय का ग्रहण करना ही इन्द्रियों का लक्षण है।[3] यह स्वरूप प्राणादि बाह्य तथा अन्तरिन्द्रिय मन में समान रूप से उपलक्षित है।

उक्त लक्षण से लक्षित इन्द्रियों के दो भाग हैं – बाह्येन्द्रिय और आभ्यान्तरेन्द्रिय और बाह्य पंचपिध है – घ्राण, रसन, चक्षु श्रोत्र और त्वक्। अन्तरिन्द्रिय एक है और वह है मन। यद्यपि बाह्येन्द्रियां पंचकर्मेन्द्रियों से युक्त होकर दश प्रकार की हो जाती है तथापि ज्ञानव्यापार में कर्मेन्द्रियों की अनुपयोगिता समझकर ज्ञानेन्द्रियों का ही यहां ग्रहण किया गया है। सुख आदि की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय मन है।

---

1. सात्विकाहंकारोपादानकं द्रव्यमिन्द्रियमितिन्द्रियलक्षणम्। इन्द्रिय द्विविधम् ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं चेति। ज्ञानप्रसरणसक्तमिन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियं तत् षोढ़ाः – मन श्रोत्र चक्षुर्घ्राणरसनात्वग्भेदात्। स्मृत्यादिकरणमिन्द्रियं मनः। तच्च हृदयप्रदेवर्ति बुद्यहंकारचित्रादिशब्दवाच्यम् बन्धमोक्ष हेतुभूतं च। शब्दादिपंचके शब्दघ्राणग्रहणशक्तमिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियम्। यतीन्द्रमतदीपिका – पृं० 73
2. भोगसाधनानीन्द्रियाणि।........ न्या०वा०भा० 1/1/9
3. करणभावात् स्वविषाग्रहणलक्षणत्वमिन्द्रियाणाम्। न्या०वा०। 1/1/9

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह अणु परिमाण वाला है और ह्रदय भीतर रहता है।[1]

न्यायदर्शन में इन्द्रियों की उत्पत्ति पांच महाभूतों से मानते हैं। परन्तु इस विषय में भारतीय दर्शनशस्त्र में महान वैषम्य उपलब्ध होता है। न्यायदर्शन में तैजस् परमाणुओं से रसनेन्द्रिय, वायवीय परमाणुओं से स्पर्शनेन्द्रिय पृथ्वी परमाणुओं से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई है । श्रवणेन्द्रिय कर्णशष्कुल्यावच्छिन्न आकाश रूप ही है। यदि ये पृथक्–पृथक् पृथिवी आदि पंच महाभूतों का कार्य न होकर किसी एक का ही कार्य होते तो विशेष नियम के न पाये जाने से सब इन्द्रियों से सब विषयों का वा किसी एक ही इन्द्रिय से सब विषयों का ज्ञान होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता किसी एक विशेष इन्द्रिय से किसी एक विशेष का ही तो तदिन्द्रिय का जनक है ग्रहण होता है। उससे सिद्ध है कि चक्षु आदि इन्द्रिय किसी एक उपादान कारण के कार्य नहीं अपितु भिन्न–भिन्न उपादान के कार्य हैं।

इन्द्रियों के विभाग के विषय में प्रायः दर्शन ऐक्य मत है। अद्वैत में किन्हीं आचार्यों ने मन में इन्द्रियों को माना है और किसी ने नहीं।

प्रत्यक्ष में मन का उपयोग–

मन्यते अनेन इति मनः इस व्युत्पत्ति के अनुसार मन केवल ज्ञान का साधन ही नही है अपितु सुखादि साक्षात्कार के कारण होने के साथ ही बाहय प्रत्यक्ष का भी मुख्य साधन है। नैयायिकों ने अन्तिम विशेषता पर ही अधिक बल दिया है। यद्यपि वे आन्तर प्रत्यक्ष को भी अस्वीकार नहीं करते। इस प्रकार मन में दोनों विशेषताऐं है। वह सुखादि प्रत्यक्ष का असाधारण कारण है और बाह्य प्रत्यक्ष का साधन भी है।

---

1. सुखाद्युपलब्धसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्चाणुपरिमाणह्रदयान्तर्वर्ति। तर्कभाषा पृ० 191।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वनाथ के अनुसार सुखादि साक्षात्कार में जो मुख्य साधन है, उसे मन कहते हैं।[1] तर्कसंग्रहकार अन्नंभट्ट के अनुसार "सुख दुःख आदि उपलिब्ध के साधन इन्द्रिय को मन कहते हैं।[2]" इससे प्रत्यक्षत्व मन के उपयोग की सिद्धि होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं ज्ञाता (साक्षी) की अन्तःप्रज्ञात्मकशक्ति जो उसी के स्वरूप में होती है तथा गन्ध, रस, स्पर्श, श्रवण, शब्द और मन नामक साधारण ज्ञानेन्द्रियाँ अन्तःप्रज्ञात्मकशक्ति की उसके धर्म, अविद्या भास एवं उसकी वृत्तियों से सर्व बाह्येन्द्रियों का ज्ञान सुख दुःखादि काल एवं आकाश होते हैं।[3]

त्वगिन्द्रिय रंग युक्त बड़े पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण करती हैं पर मानस सर्व ज्ञानेन्द्रियाँ एवं स्मरण शक्ति का अधीक्षक होता है। मनस् के जिन दोषों के कारण त्रुटियाँ होती हैं। वे भावावेग एवं आसक्तियां हैं तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियों के दोष पाण्डुरोग आदि जैसी व्याधियों और शीशे आदि जैसे मध्यवर्ती माध्यम के विकर्षणात्मक प्रभाव होते हैं। साधारण ज्ञानेन्द्रियां मनस की वृत्तियों को उत्पन्न करती हैं। अर्थ का इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है। इन्द्रियों का मन और मन का आत्मा से सम्बन्ध होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षीकरण में आत्मा मन और इन्द्रियों का सम्पर्क होना या सम्बन्ध होना आवश्यक है। यदि हमारा मन अन्यत्र है तो इन्द्रियों के साथ पदार्थों का सम्बन्ध होने पर भी ग्रहण नहीं कर सकते हैं। अतः हमारा सम्पूर्ण प्रत्यक्ष मन पर ही आधारित है।

---

1. साक्षात्कारे सुखादीनं करणं मन उच्यते। भाषापरिच्छेद 85
2. सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तर्कसंग्रह।
3. इन्द्रियशब्देन ज्ञानेन्द्रियं गृह्यते। तद् द्विविधम् प्रमातृस्वरूपं प्राकृतं चेति। तत्र स्वरूपेन्द्रियं साक्षीत्युच्यते। तस्य विषया आत्मस्वरूपं तद्धर्मा अविद्यामनस्तद्वृतयोऽबाह्येन्द्रियज्ञान सुखाद्याः कालोऽव्याकृतावशश्चेत्याद्याः। प्रमाणपद्धति पृ० 9

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्टद्वैत इस बात से सहमत है कि आत्मा मन से मन इन्द्रियों से इन्द्रियाँ विषयों से संयुक्त होकर प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करते हैं।[1]

अद्वैत वेदान्त में मन एक इन्द्रिय न होकर अन्तःकरण के रूप में स्वीकृत है। प्रमाण चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद होना ही ज्ञानगत प्रत्यक्ष का लक्षण है और अन्तःकरण वृत्यवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाण चैतन्य है और यह विषयाकार रूप में परिणत होकर पदार्थ को प्रकाशित करता है। जैसे तालाब का जल छेद से निकलकर नाली के रास्ते से होता हुआ खेतों में प्रविष्ट होता है और उसी के आकार का तिकोना चौकोना या बर्तुलाकार बन जाता है वैसे ही तैजस् अन्तःकरण भी चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर घटादि विषय तक जाता है और घटादि विषयों के आकार में परिणत होता है। उस परिणाम को वृत्ति कहते हैं। परन्तु अनुमित्यादि प्रमा स्थलों में अन्तःकरण अग्नि के देश में नहीं जाता क्योंकि उस समय अग्नि आदि विषयों का चक्षुरादि इन्द्रियों से सन्निकर्ष नहीं हुआ रहता है।[2]

इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष के समय अन्तःकरण शरीर से बाहर निकलता है। तब "यह घट है" इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमा में घटादि विषय और तदाकारवृत्ति शरीर के बाहर एक स्थान में अवस्थान होने से उन दोनों से अवच्छिन्न हुआ "चैतन्य" एक ही है। क्योंकि

127857

---

1. ग्रहणप्रकारस्तुआत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां प्राप्य प्रकाशकारित्वनियमात्। अतो घटादिरूपार्थस्य चक्षुरादीन्द्रियस्य सन्निकर्षे सति अयं घटः पट इति चाक्षुषज्ञानं जायते एवं स्पार्शनप्रत्यक्षादयोऽपि। यतीन्द्रमतदीपिका पृ० 17
2. तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तः करणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादि विषयदेशं गत्वादि विषयाकारेण परिणमते। एवं परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। अनुमित्यादिस्थले तु नान्तःकरणस्य बाह्यादिदेशगमनं बाह्यादेश्चक्षुराद्यसन्नि–कर्षात्। वे०परि०पृ० 39।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तःकरणवृत्ति और घटादि विषय, ये उपाधियों से उपाहित में भेद करने वाली होने पर भी उनकी एक स्थान में स्थिति होने से वे भेद नहीं कर सकती। इसी कारण गृहस्थित घट से अवच्छिन्न हुआ आकाश उस गृह से अवच्छिन्न हुए आकाश से भिन्न नहीं है। इस प्रकार दो उपाधियों के एक देश–स्थित होने से उपाधेयों में भेद उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं रहता। ऐसा निर्णीत होने पर ''यह घट है'' इस प्रत्यक्ष ज्ञान में घटाकर वृत्ति में घट संयोगित्व रहता है। इस कारण घटावच्छिन्न चैतन्य और घटाकारवृत्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होता है और इन दोनों का ऐक्य होने से घट प्रत्यक्ष स्थल में घट ज्ञान ''घट'' अंश में प्रत्यक्षत्व है। सुखादिकों से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य और सुखादि के आकार से परिणत हुई अन्तःकरण वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य नियम से एक ही स्थान (अन्तःकरण) में स्थित उपाधिद्वय (सुखादि और सुखाद्याकार वृत्ति रूप) से अवच्छिन्न होने से मैं सुखी हूं इत्यादि ज्ञान का प्रत्यक्षत्व है।[1]

---

1. तथा चायं घटः इत्यादिप्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकार वृत्तेश्च बहिरेकत्रदेशे समावधानात् तदुभयावच्छिन्न चैतन्यमेकमेव विभाजकयोरप्यन्तःकरणवृत्ति घटादिविषयोरेकदेशस्थत्वेन। भेदा जनकत्वात् अतः एव महान्तर्गर्ति घटावच्छिन्नाकाशों न महाविच्छन्नाकाशद्भिद्यते। तथा चायं घट इति घट प्रत्यक्षस्थले घटाकारवृत्तेर्घटसंयोगितया घटाच्छिन्न चैतन्यस्य तद्वृत्यवच्छि–न्नचैतन्यस्य चाभिन्तया तत्र घट ज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्वम्। सुखाद्यविच्छिन्न चैतन्यस्य तद् वृत्यवच्छिन्न चैतन्यत्य च नियमेनेकदेशस्थितोपा–धिद्वयाच्छिन्नत्वात् नियमेनाहं सुखीत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्। वे०परि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लौकिक तथा अलौकिक सन्निकर्ष

प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष होना आवश्यक है। यह सन्निकर्ष दो प्रकार का होता है। लौकिकसन्निकर्ष और अलौकिक– सन्निकर्ष। लौकिक सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है। यद्यपि सन्निकर्षों का वर्णन मूल ग्रन्थ अथवा भाष्य में नहीं है, पुनरपि उद्योतकर ने इनका वर्णन किया है। उद्योतकर ने छः प्रकार का सन्निकर्ष स्वीकार किया है– संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषणविशेष्यभाव।[1]

उनमें से जब चक्षु द्वारा घट आदि विषय का ज्ञान होता है तब चक्षु इन्द्रिय है, यह अर्थ है उन दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही है। क्योंकि ये दोनों (चक्षु तथा घट) द्रव्य स्वरूप होते हैं।[2] जब चक्षु आदि का ग्रहण होता है तब चक्षु इन्द्रिय है और घट का रूप विषय है। इन दोनों का सन्निकर्ष सुंयक्त समवाय है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट के रूप का समवाय है।[3] जब चक्षु के द्वारा घट के रूप में समवेत रूपत्वादि सामान्य जाति का ग्रहण होता है तब चक्षु इन्द्रिय है रूपत्वादि सामान्य ही अर्थ है। उन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेत समवाय है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत है और उसमें (रूप) रूपत्व का समवाय है। जब श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है तब श्रोत्र इन्द्रिय है शब्द अर्थ है इन दोनों का सन्निकर्ष समवाय होता है। क्योंकि कर्णविवरणवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र है। अतः श्रोत्र के आकाश स्वरूप होने से और शब्द के आकाश का गुण होने से तथा गुण एवं गुणी

---

1. सन्निकर्षः पुनः षोढाभिद्यते संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायाः, समवायः, समवेतसमवायी विशेषण विशेष्यभावश्चेति। न्या० पृ० 72
2. तत्र चक्षुरिन्द्रियं रूपवान घटादिरर्थः तेन सन्निकर्षः संयोगः तयोर्द्रव्यस्वभावत्वात्: न्या० वा० पृ० 72।
3. अद्रव्येण तु तद्गतरूपादिना संयुक्तसमवायः यस्मात् चक्षुषा संयुक्ते द्रव्ये रूपादि वर्तते इति। न्या० वा० पृ० 72

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का समवाय सम्बन्ध होने के कारण यहाँ समवाय सन्निकर्ष है। फिर जब शब्द में समवेत शब्दात्वादि जाति का श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। तब श्रोत्र इन्द्रिय है, शब्दत्वादि जाति अर्थ है इन दोनों का सन्निकर्ष समवेत समवाय है। क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द में समवाय सम्बन्ध होता है।

जब चक्षु से संयुक्त भूमि पर यहाँ भूतल पर घट नही है। इस प्रकार घट के अभाव का ग्रहण होता है। तब विशेष्य विशेषण भाव सन्निकर्ष हुआ करता है। वहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल में घट का अभाव विशेषण है तथा भूतल विशेष्य है। इसी प्रकार जब मन से संयुक्त आत्मा में'मैं सुखरहित हूँ' इस प्रकार सुखादि के अभाव का ग्रहण होता है। तब मन में संयुक्त आत्मा में सुखादि का अभाव विशेषण हुआ करता है। जब श्रोत्र में समवेत गकार का घत्वाभाव विशेषण हुआ करता हैं।

---

1. यदा पुनश्चुक्षषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादिसामान्यं गृह्यते, तदा चक्षुरिन्द्रियं एकत्र रूपत्वादिसामान्यर्थः अनयो सन्निकर्षः संयुक्तसमवेतसमवाय एव। चक्षु संयुक्ते घटे रूपं समवेत तत्र स्पत्वस्य समवायात। कदा पुनः समवायः सन्निकर्षः ? यदा क्षोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदां श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दोर्थः अनयोः सन्निकर्षः ? यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दों गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दोऽर्थः अनयोंः सन्निकर्षः समवाय एव। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्। श्रोत्रस्याकाशात्म– कत्वाच्छब्दस्य चाकशगुणत्वाद गुणगुणिनोश्च समवायात्। कदा पुनः समवेतसमवायः सन्निकर्षः? यदा पुनः शब्द समवेतं शब्दत्वादिकं सामान्य श्रोत्रेन्द्रियेण ग्रह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं शब्दत्वादि सामान्यमर्थः। अनयोंः सन्निकर्षः समवेत समवाय एव। श्रोत्र समवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्। – तर्क भाषा।
2. यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते "इह भूतले घटो नास्ति तदा विशेष्यविशेषणभावसंबन्ध। तदा चक्षु संयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं भूतलं विशेषणम् यदा च मनः संयुक्तः आत्मनि सुखाद्यभावो गृह्यते" अहं सुखरहित इति तदा मनः संयुक्तस्यात्मनः सुखाद्यमावो विशेषम्। यदा श्रोत्रसमवेते गकारे गत्वाभावो गृह्यते तदा श्रोत्रसमवेतस्य गकारस्य घत्वाभावो विशेषणम्। तर्क भा०पृ०68

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलौकिक सन्निकर्ष

अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद है– सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज।

सामान्य लक्षण

अलौकिक प्रत्यक्षों में किसी वस्तु के विशेषणों से रहित सामान्य परिचयात्मक ज्ञान को सामान्य लक्षण कहते हैं। इसमें किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होते ही उस वस्तु में विद्यमान धर्म अथवा जाति का भी सामान्य ज्ञान होता है। किन्तु जाति का यह ज्ञान विशेषण ज्ञान रहित सामान्य ज्ञान होता है। जैसे घट का प्रत्यक्ष होते ही घट में विद्यमान घटत्व का प्रत्यक्ष किये जाने वाले घट से अतिरिक्त अन्य घटों में भी सामान्य रूप से विद्यमान है। इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध से भूतल में एवं समवाय सम्बन्ध के कपाल में विद्यमान एक घट का प्रत्यक्ष होते ही घट मात्र के सम्बन्ध में जो एक सामान्य ज्ञान या धारणा होती है वह भी सामान्य लक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान है। सामान्य लक्षण पद में लक्षण शब्द का तात्पर्य विषय (अर्थ) है। इस प्रकार सामान्य लक्षण का अर्थ हुआ सामान्य विषयक ज्ञान।

ज्ञान लक्षण

यह सन्निकर्ष स्मृत्यात्मक होता है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति ने चन्दन खण्ड को सूंघकर यह अनुभव किया कि चन्दन सुगन्धित है, फिर कभी दूर से ही चन्दन को नेत्रों से देखकर बिना सूंधे ही उसने जान लिया। "यह चन्दन सुगन्धित है।" यहां चन्दन सुगन्धित है यह चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय माना जाता है। इस प्रत्यक्ष में चन्दन का ग्रहण तो लौकिक सन्निकर्ष से ही होता है।

---

1. अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।।
   सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा।। न्या०सि०मु०का०सं० 63

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु सौरभ का ज्ञान तो लौकिक सन्निकर्ष सें नहीं हो सकता क्योंकि सौरभ के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होना संभव नहीं है। इसलिए सौरभ के प्रत्यक्ष में सौरभ का स्मरण ही सन्निकर्ष माना जाता है। यही ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष है।

योगज :–

अलौकिक का तीसरा भेद योगज है। योगाभ्यास से प्रसूत है। इससे योगी बिना इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से ज्ञान प्राप्त करता है। यह केवल योगियों के लिए ही है। योगी दो प्रकार के होते हैं – युक्त तथा युंजान। अतः योगज प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का होता है। इनमें से युक्त को सर्वदा सर्वप्रकार का ज्ञान उपस्थित रहता है। परन्तु युञ्जान को चिन्तन के द्वारा यह ज्ञान उपलब्ध होता है।

माध्वाचार्य सम्प्रदाय ने भी षद्रविध सन्निकर्ष स्वीकार किये हैं। प्रमाण पद्धति में कहा है कि सन्निकर्ष छः प्रकार के होते हैं जो क्रमशः संयोग, संयुक्त समवाय संयुक्त समवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषण विशेष्य भाव[1]। इनकी व्याख्या न्याय दर्शन के अनुसार ही की गई है।

वल्लभ सम्प्रदाय ने लौकिक के पांच भेद क्रमशः–संयोग, तादात्म्य, संयुक्त, तादात्म्य संयुक्तविशेषण और तादात्म्यरूप और अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद जो क्रमशः सामान्य, योगज और माया स्वीकार किये गये हैं।

अद्वैत वेदान्त में सन्निकर्षों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि अद्वैत में सन्निकर्ष के भेदों को स्वीकार नहीं किया है।

---

1. तद्यथा संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्त समवेत–समवायः, समवायः, समवेतसमवायो विशेषणविशेष्य भावश्चेति। प्रमाण पद्धति पृ० 10

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समालोचना

न्याय ने इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण का हेतु बताया है। यह विषय विचार की अपेक्षा रखता है। विचारणीय विषय यह है कि इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होता ही कैसे है? इन्द्रियाँ तो अपने–अपने देश में स्थित है और विषय बाह्य देश में स्थित है, तो उन दोनों का सन्निकर्ष कैसे होता है क्या विषय उठकर इन्द्रियों में आता है। या इन्द्रियाँ अपने देश से निकलकर विषय देश में जाती हैं। अथवा दोनों में ही क्रिया होती है। क्योंकि बिना दोनो के सक्रिय हुए सन्निकर्ष हो नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि सन्निकर्ष क्यों होता है ? विषय तो जड़ है उसे तो यह ज्ञान नही है कि मैं इन्द्रिय से जाकर मिलुँ और अपना ज्ञान कराऊँ और न ही इन्द्रियों को यह ज्ञान है कि मैं विषय से जाकर मिलुँ और उनको जानूं। इन दोनों प्रश्नो पर दार्शनिकों ने अपने–अपने ढ़गं से विचार किया है।

यहाँ संशय रहित होने के लिए यह जान लेना चाहिए कि इन्द्रियाँ और विषय भिन्न–भिन्न प्रकार के होते हैं। सभी में एक सा नियम लागू नहीं होता। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो प्रकाश स्वरूप हैं किन्तु उन्हें प्रकाशित होने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता होती है। जैसे घृत, लाक्षा, स्वर्ण आदि तैजस् पदार्थ हैं किन्तु उन्हें प्रकाशित होने के लिए दीपक के प्रकाश की आवश्यकता होती है। किन्तु सूर्य, चन्द्र, रत्न आदि तैजस् पदार्थों के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। वैसे ही विषयों की प्रकृति भी भिन्न–भिन्न है। कुछ विषय ऐसे हैं जो स्वयं इन्द्रियों के पास उठकर आते हैं, और कुछ इन्द्रियाँ भी ऐसी हैं जो स्वयं विषय देश में जाती हैं। रूप के पास चक्षु जाती और रूपाकार होकर पुनः वापिस लौटती है। ऐसे ही श्रोत्र भी आकाश रूप होने के कारण शब्द के पास जाता है और शब्द भी आकाश गुणक होने के कारण श्रोत्र के पास आता है। इस प्रकार श्रोत्र और शब्द दोनों ही सक्रिय होते हैं किन्तु त्वक् घ्राण और रसना ये तीन इन्द्रियाँ ऐसी हैं जिनके पास विषय को ही आना पड़ता है ये विषय के पास नहीं जाती।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् प्रत्यक्ष का इतना ही लक्षण है। इसके आगे जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि और व्यवसायात्मक तीन विशेषण रखे गये हैं, ये उसको दोष रहित करने के लिए रखे गये हैं, पुनरपि इस लक्षण में कहीं कोई त्रुटि रह गई होगी, जिसका ज्ञान परवर्ती नैयायिकों को भी हुआ इसलिए उन्होंने समय–समय पर इसमें संशोधन किया है। जब हम इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्याभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" इस प्रत्यक्ष के लक्षण पर विचार करते हैं तो बहुत सोचने के पश्चात् भी यह निर्णय नहीं कर पाते कि यह लक्षण प्रत्यक्ष प्रमाण का है या प्रत्यक्ष प्रमा का अन्य प्रमाणों में तो प्रमाण और प्रमिति के लिए पृथक्–पृथक् शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैसे अनुमान प्रमाणजन्य प्रमा का नाम है। अनुमिति। उपमान प्रमाण जन्म प्रमा का नाम उपमिति और शब्द प्रमाणजन्य प्रमा है शाब्दी प्रमा। यह प्रत्यक्ष ही ऐसा प्रमाण है जहां प्रमाण और उसका फल प्रत्यक्ष नाम से ही जाना जाता है। अर्थात् प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और प्रत्यक्ष ही प्रमा है। प्रमा का अर्थ है यथार्थ ज्ञान। ज्ञान शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हैं। –"ज्ञायते नेनेति ज्ञानम्" और "ज्ञायते यत् तज्ज्ञानम्" अर्थात् जिससे जाना जाये वह भी ज्ञान है और जो जाना जाये वह भी ज्ञान है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर प्रत्यक्ष के लक्षण में आये हुए ज्ञान शब्द का क्या अर्थ लिया जाये वह जिज्ञासा बनी ही रहती है। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए पर्याप्त समाधान प्रस्तुत किया है फिर भी लक्षण में उसका समावेश नहीं हो पाता है।

प्रश्न तो यह है कि ज्ञान प्रमाण है या प्रभा? लक्षण के अनुसार तो इसे प्रमा होना चाहिए क्योंकि यह इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रमाण होना चाहिए क्योंकि उससे ही वह प्रमा उत्पन्न हुई है। किन्तु यदि इस लक्षण को प्रमा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का लक्षण माना जायेगा तो शास्त्र की प्रतिज्ञा भंग होती है। क्योंकि न्यायशास्त्र ने उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण स्वीकार किया है। एक दूसरा दोष इस लक्षण में यह है कि न्याय ने यों तो प्रमा के करण को प्रमाण माना है और यथार्थ ज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रमाण यथार्थ ज्ञान का साधन है। अर्थात् उससे जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह यथार्थ ही होगा। यह बात तो समझ में आती है किन्तु असमंजस तब उत्पन्न होता है जब वह प्रमाण की प्रमाणिकता को भी परतः स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से जन्य प्रमा यथार्थ है या नहीं इस पर विचार करने की फिर आवश्यकता क्या है ? यदि उसकी प्रामाणिकता भी किसी अन्य प्रमाण पर निर्भर करेगी तो प्रमाण का प्रमाकरणत्व होगा जबकि न्याय का सिद्धान्त यह है कि प्रमाण जन्य ज्ञान यथार्थ है या नहीं इसका निर्णय प्रवृत्ति की साफल्य और वैफल्य से होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रमाण केवल ज्ञान का साधन है प्रमा का नहीं। यदि यह प्रमा का साधन था तो अव्यभिचारि और व्यवसायात्मक विशेषणों से ही यह बात सिद्ध हो रही थी। फिर उस प्रमात्व को परतः स्वीकार करने की क्या आवश्यकता थी। यह एक ऐसा दोष है जिसका समाधान न्याय के पास नहीं है।

न्याय के प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है। क्योंकि यह लक्षण आत्मा के प्रत्यक्ष में और ईश्वर के प्रत्यक्ष में नहीं जाता। आत्मा का प्रत्यक्ष तो होता है किन्तु वह इन्द्रिय जन्य नहीं है, दूसरी ओर ईश्वर जब त्रैलौक्य का प्रत्यक्ष करता है तो वह भी इन्द्रिय निरपेक्ष ज्ञान ही होता है।

अद्वैत वेदान्तियों ने इस दोष को दूर करने के लिए अपने प्रत्यक्ष का जो लक्षण किया है कि विषय चैतन्य और प्रमाण चैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष है। इससे अव्याप्ति दोष तो दूर हो जाता है क्योंकि वहां विषय का ज्ञान अपेक्षित है चाहे वह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से हो, चाहे चिन्तन से हो या

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगाभ्यास से। परन्तु क्या जड़ और चेतन का अभेद हो सकता है? इसका उत्तर वेदान्ती भी सम्यक् प्रकार से देने में अपने को असमर्थ सा पाते हैं। यद्यपि अद्वैत वेदान्त में यह भेद कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता इसलिए उन्होंने गुरुमुख से "तत्त्वमसि" इस वाक्य को सुनकर जीवब्रह्मात्मैक्य का भी प्रत्यक्ष स्वीकार किया है वस्तुतः अद्वैत मत में प्रत्यक्ष केवल प्रमाण ही नहीं है अपितु वह तो साक्षात्परब्रह्म है। वहां जो प्रमाण का गौण लक्षण है मुख्य नही। न्याय के प्रत्यक्ष लक्षण से अद्वैत के प्रत्यक्ष लक्षण की यह तो विशेषता है कि यह लौकिक प्रत्यक्ष व्यवहार के लिए तो उपयोगी है ही साथ ही साथ पारमार्थिक अध्यात्मिक प्रत्यक्ष के लिए भी समान उपयोगी है। न्याय में इस कमी को पूरा करने के लिए सामान्यलक्षण, और योगज इन तीन सन्निकर्षों को अतिरिक्त प्रमाण स्वीकार किया गया है। यह प्रमाण का गौरव है। परन्तु जड़ और चैतन्य धर्मी के भेद होने से उनका अभेद हो जाना यह भी तो न्याय संगत प्रतीत नहीं होता है। पुनरपि अद्वैत की तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण उसका अभेद होना माना जा सकता है। तब अद्वैत वेदान्तियों का प्रत्यक्ष लक्षण ही निर्दुष्ट सिद्ध होता है। इनके अतिरिक्त वैष्णव दार्शनिकों के प्रत्यक्ष के लक्षण न्याय और अद्वैत मत से विशेष भेद नहीं रखते।

सांख्य दर्शन की प्रत्यक्ष प्रक्रिया, न्यायवैशेषिकों की प्रक्रिया से नितान्त भिन्न है। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उत्पद्यमान ज्ञान की प्रक्रिया सांख्य दर्शन में इस प्रकार है– सांख्यदर्शनकार ने दो प्रकार के करणों को बताया है। उनमें बुद्धि, अहंकार और मन ये तीन अन्तःकरण हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में ये प्रधान हैं और पंचज्ञानेन्द्रियाँ उपकरण है। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण की सहायता से बुद्धि ही प्रत्यक्ष करने योग्य सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है। बुद्धि परिणामिनी है। उस बुद्धि के व्यापार को वृत्ति कहते हैं। जड़ बुद्धि में चेतन पुरुष का जब प्रतिबिम्ब पड़ता है तब बुद्धि

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जड़ होती हुई भी चेतन सी प्रतीत होने लगती है। वह प्रत्यक्ष योग्य पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए अहंकार एवं मन को वृत्ति के रूप में अपने साथ लेकर ज्ञान के विषय की ओर प्रस्थान करती हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा वृत्ति का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध आदि तन्मात्राओं के साथ अथवा आकाशादि पंचमहाभूतों के साथ सम्बन्ध होता है तब वह बुद्धि या बुद्धिवृत्ति जिस विषय के साथ सम्बन्ध करती है, उसी के आकार की हो जाती है और वह आकार पुरुष में आरोपित होता है उस समय उस विषय का अध्यवसायात्मक ज्ञान आदि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान आरोपयुक्त पुरुष में प्रकट हो जाता है। यही प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है और इसकी प्रक्रिया को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

पौरूषेय बोध की प्रणाली पर आचार्य वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु ने पृथक्–पृथक् से विचार किया है। वाचस्पतिमिश्र का मत है कि बुद्धि ही विषयों का ज्ञान करती है किन्तु बुद्धि स्वयं जड़ है इसलिए उसे पुरुष के सान्निध्य की आवश्यकता होती है। पुरुष के सम्पर्क से ही बुद्धि में चैतन्य आता है। पुरुष का प्रतिविम्ब जब स्फटिक कल्प निर्मल बुद्धि पर पड़ता है तो बुद्धि चैतन्यवत् हो जाती है और वह ही विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इसमें थोड़ा परिवर्तन और किया है। वे पुरुष के प्रति बिम्ब को तो पौरुषेयबोध का कारण मानते हैं किन्तु साथ में ही बुद्धि के प्रति विम्ब को भी स्वीकार करते हैं। अर्थात् बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिससे बुद्धि चैतन्यवत् हो जाती है और विषयाकार में परिणत बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है जिससे पुरुष की बुद्धि का भोग अपना प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र का मत प्रतिबिम्बवाद कहलाता है और विज्ञानभिक्षु का मत बिम्ब प्रतिबिम्बवाद कहलाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करें तो न तो पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ना चाहिए और न ही बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब क्योंकि बिम्ब के होने पर ही प्रतिविम्ब हो सकता है। पुरुष का कोई विम्ब नहीं है। फिर प्रतिविम्ब कैसा? पुरुष तो आकृतिहीन है। अतः सांख्य का यह मत कुछ सन्देह उत्पन्न करता है। दूसरी ओर पुरुष के आकारहीन होने के कारण बुद्धि में उसका प्रतिबिम्ब कैसे? यही सांख्य के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में प्रमुख दोष पाया जाता है।

इसका सामाधान सांख्याचार्य इस प्रकार करते हैं कि लौकिक दृष्टि से तो वह ठीक है परन्तु भौतिक और आध्यात्मिक प्रतिविम्ब में यह विलक्षणता है कि पुरुष अमूर्त होते हुए भी बुद्धि में अपना प्रतिबिम्ब छोड़ता है। यह प्रतिबिम्ब लौकिक प्रतिबिम्ब जैसा नहीं होता। पुरुष चेतनता बना देता है। बुद्धि की यह चेतनवत्ता ही दार्शनिक भाषा में पुरुष का प्रतिबिम्ब कहलाती है।

वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु के मत में वाच्स्पति मिश्र का मत ही समीचीन होता है। क्योंकि प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त है कि वह एक ओर से ही होता है। निर्मल वस्तु का यह स्वभाव है कि वह प्रतिबिम्ब को धारण कर सकती है। चूंकि पौरुषेय बोध केवल एक ओर से प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में ही बन जाता है। अतः उभयप्रतिबिम्ब वाद मानना अनुचित है।

अद्वैत वेदान्त में भी सांख्य के इस प्रतिबिम्ब सिद्धान्त को कुछ परिर्वतन के साथ स्वीकार किया गया है। शंकर वेदान्ती भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब आत्मा के चैतन्य को ही जीव कहते है। अन्तर इतना है कि अद्वैत वेदान्ती तो चैतन्य को एक अखण्ड और व्यापक तत्त्व कहते हैं तथा नानात्व को उपाधिकृत मानते हैं। सांख्य पुरुषों के नानात्व को वास्तविक कहता है। यही दोनों में थोडा सा अन्तर है। किन्तु प्रतिबिम्ब सिद्धान्त दोनों का एक जैसा ही है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम अध्याय
ख्यातिवाद

ज्ञान और भ्रम के विभिन्न भेद –

यथार्थ अनुभव को ज्ञान कहा जाता है। प्रमा अथवा ज्ञान दो प्रकार का होता है, अनुभवात्मक और स्मृत्यात्मक। जिस ज्ञान का विषय पहले ही ज्ञात रहता है उसे स्मृति कहते हैं। इसका आधार पूर्व अनुभव हुआ करता है। हम किसी वस्तु को देखते या स्पर्श करते हैं यह उसका अनुभव कहलाता है। इस अनुभव का संस्कार हमारी आत्मा में रहता है और फिर संस्कार के उद्बुद्ध हो जाने से उस वस्तु की स्मृति हो जाया करती है। स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं।

अनुभव दो प्रकार का होता है। यथार्थ और अयथार्थ। जो वस्तु जैसे है उस वस्तु का अनुभव उसी रूप में होना यथार्थ कहलाता है और यही यथार्थानुभव प्रमा के नाम से जाना जाता है।[1] तर्क संग्रहकार यथार्थ का लक्षण करते हुए कहते हैं कि तद्वति तत्प्रकारक अनुभव यथार्थ है।[2] उदाहरणार्थ जब घट में "यह घट है" इस प्रकार का ज्ञान होता है तो इस ज्ञान में "घटत्व" प्रकार अर्थात् विशेषण है। अतः यह ज्ञान "घटत्व प्रकारक कहलाता है, यही अनुभव यथार्थ कहलाता है। इसके विपरीत ज्ञान वाला अनुभव अयथार्थ कहलाता है, जो भ्रमात्मक होता है।"

ख्यातिवादः–

भ्रम सहित इन्द्रिय और पदार्थ से संशययुक्त दोषयुक्त विपर्ययादि सहित अव्यवसात्मक अनिश्चयात्मक अज्ञान को भ्रम कहते हैं। ज्ञान और भ्रम में इन्द्रियों का सम्पर्क तो सही विषय से ही होता है, परन्तु अन्य परिस्थितियों और उपाधियों से उसके गुण स्वरूप में भ्रान्ति उत्पन्न हो

---

1. यथार्थानुभवः प्रमा........ तर्क भाषा पृ०13
2. तद्वति तद्वत्कारकः अनुभवयथार्थः – तर्क संग्रह।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती है। ये दोष ही भ्रम के भेद माने जाते हैं अन्य अप्रासंगिक बाह्य प्रत्यक्षों के कारण ही वस्तु को अन्य रूप में देखने की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। जैसे सूर्य रश्मियों को जिसे मृग मरीचिका भी कहते हैं। ये मरूभूमि में प्रायः दिखाई देती है तो उस तीव्र तपती और झुलसी हुई भूमि में नदी के बहते हुए पानी में उठती हुई लहरें सी प्रतीत होती है। और ऐसा जान पड़ता है कि वहाँ पानी है– यही भ्रम है।[1]

अद्वैत में इसको अध्यास के नाम से कहा गया है। अतद् में तद् बुद्धि का होना ही अध्यास है। अर्थात् वस्तु के अवास्तविक स्वरूप में वास्तविक स्वरूप की प्रतीती और वास्तविक स्वरूप में अवास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना ही अध्यास है।[2]

भारतीय दर्शनों में ख्यातिवाद सम्बन्धी विभिन्न मत--

उक्त भ्रमस्थल में दार्शनिको के बीच मतभेद है। विशेषकर अद्वैतवाद से अनिर्वचनीय ख्यातिवाद को अन्य दार्शनिक स्वीकार करने को उद्यत नही हैं। परम सत्ता के विषय में दार्शनिकों की धारणायें भिन्न–भिन्न हैं। सत्ता सम्बन्धी अपनी–अपनी धारणा के साथ ही भ्रम स्थान में भी सैद्धान्तिक मतभेद आवश्यक है। प्राचीन आचार्यो ने पाचँ ख्यातियों का उल्लेख किया है

---

1. इन्द्रियेणालोच्यमरीचिनः मृच्चततो निर्विकल्पने ग्रहीत्वा तत्रोपद्यातदोबात विपर्ययेति सविकल्पको प्रत्ययो भ्रान्तो जायते तस्मातविज्ञानस्य व्यभिचारी नार्थस्य।न्या०म०पृ०68
2. अध्यासो नाम अतस्मिस्तहबुद्धि रित्यवोचाम। शा०भा० 17

1. असत् ख्याति शून्यवादी बौद्धों का मत।
2. आत्मख्याति – विज्ञानवादी बौद्धों का मत।
3. अख्याति–मीमांसक प्रभाकर का मत।
4. अन्यथाख्याति–न्याय का मत।
5. अनिर्वचनीय ख्याति–अद्वैत वेदान्त का मत।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इष्ट सिद्धिकार विमुक्तात्ममुनि ने इष्ट सिद्धि में संक्षेपतः ख्याति तीन प्रकार की बतायी है (1) सत्ख्याति (2) असत्ख्याति (3) सद्सदनिर्वचनीय ख्याति।

अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना करते हुए विमुक्तात्मा कहते हैं कि "इदं रजतम्" इस भ्रान्ति स्थल में रजत् असत् है तो उसकी ख्याति नहीं होनी चाहिए और यदि सत् है तो उसका "वेदं रजतम्" करके बाध नहीं होना चाहिए। ख्याति और बाध दोनों सिद्ध करते हैं कि रजत अनिर्वचनीय है। भासर्वज्ञ ने न्याय भूषण में अष्टख्यातियों का उल्लेख किया है। इस प्रकार यह ज्ञान मीमांसीय दृष्टि से यथार्थवाद की समस्या भ्रमस्थल की व्याख्या से ख्यातियों में से किसके अनुसार माना जाय, यह प्रश्न उठता है। इन ख्यातियों में अधिक प्रसिद्ध छः ख्याति मानी जाती है।

असत् ख्याति

माध्यमिक बौद्धों के अनुसार शून्य ही परम तत्व है। ज्ञान ज्ञेय ज्ञातृ भावमय सम्पूर्ण विश्व के लिए वे "सर्वशून्यं" वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। वैदिक दार्शनिकों ने शून्यत्व का अत्यन्त असदर्थ किया है क्योंकि माध्यमिककारिका में नागार्जुन ने कहीं-कहीं पर वस्तुओं को शशश्रृंगादि के समान अलीक कहा है। शून्यवादी के अनुसार जिस प्रकार वाह्यविषय असत् है उसी प्रकार आन्तविज्ञान भी असत्। माध्यमिक के अनुसार एक मात्र शून्य ही सत् है। इसके अतिरिक्त किसी की सत्ता ही नहीं है। भ्रम में असत् की ही सतवत प्रतीति होती है। रजत का जो भ्रम शुक्ति में होता है, उस भ्रम का आलम्बन शून्य ही है। कोई सत् नहीं। इनके मत में शुक्ति भी कोई परमार्थ वस्तु नहीं है। माध्यमिक के अनुसार "असत् प्रकाशन शुक्तिमती" जो वासना है वह स्वयं स्वरूप होने पर भी सतवत् भासित होती है। यह प्रकाश अनादि काल से ही निरन्तर धारा प्रवाह रूप से चला आ रहा है। असत् प्रकाशन शुक्तिमती जो वासना है वह असंत् विज्ञान की भी सत् के सदृश प्रकाशित करती है। साथ ही

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने सदृश असत् प्रकाशन शक्ति को भी प्रकाशित करती है इनके वासना विज्ञान में असत् प्रकाशन शक्ति है वह स्वप्न के दृष्टान्त से सिद्ध होती है। जिस प्रकार स्वप्न में भी असत् पदार्थ का ज्ञान होता है उसी प्रकार संसार में असत् पदार्थ का ही सदा भान होता रहता है। इसी प्रकार संसार में असत् पदार्थ का ही सदा भान होता रहता है। इसी असत् प्रकाशन शक्ति को अविद्या और संवृत्ति भी कहते है। इसलिए असत् प्रकाशन शक्ति अविद्या से ही असत् प्रपंच सत् के सद्वश भासित होता है। इसलिए प्रकृत में भ्रम का आलम्बन जो शुक्ति है वह भी असत् ही है, यह सिद्ध हो जाता है। इसी कारण इनके सिद्धान्त को असत् ख्याति कहते है।

आत्मख्याति

विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार बहिर्वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। क्षणिक–विज्ञान ही तत्व है। इस मत में विज्ञानातिरिक्त घटादि विषयों का अस्तित्व नहीं है। घटादि विषय भी विज्ञान का ही रूप है। भ्रम में भासमान रजतादि भी विज्ञान का ही आकार है। अतः शुक्ति भी विज्ञान रूप हैं और रजत भी आन्तररजत विज्ञान ही बहिर्वत् प्रतीत होता है। वस्तुतः बाह्यता भ्रम मात्र है। विज्ञान रूप में रजत सत्य है किन्तु इदं रूप में असत् है। अतः ''इदं रजतम्'' में रजत को इदं रूप में समझना ही भ्रम है। रजत तो ज्ञानरूप में है, उसे वाह्य विषय रूप में समझना भ्रम ही तो है। विज्ञानवादी के अनुसार सत्यरजत एवं मिथ्या रजत दोनों ही विज्ञान रूप है। आत्मख्याति का अर्थ यहां पर विज्ञानख्याति ही लेना है। आन्तर्विज्ञान ही यहां पर आत्मशब्द से अभिप्रेत है।

विज्ञानवादी बौद्धों के आत्मख्यातिवाद को प्रस्तुत करते हुए आनन्द बोध कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानाकार रजत के बाहर अवभास को ही विभ्रम कहते हैं[1]। शक्ति में ''इदं रजतम्'' करके भ्रम होने के पश्चात् ''वेदं रजतम्'' इस रूप में प्रतीत का बाध होता है, तब इदं रजतम् में रजतम् में से इदन्ता का बोध होता है। अतः रजत को इदन्ता रूप में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखना ही भ्रम है।

अख्याति

मीमांसक प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ है। उनके अनुसार अयथार्थ ज्ञान है ही नहीं। शलिकनाथ ने प्रकरण पंचिका में प्रभाकर मत के ज्ञान सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है सभी ज्ञान यथार्थ है।2 इनके अनुसार भ्रमस्थल में दो ज्ञान होते हैं। "इदं रजतम्" में इदं यह प्रत्यक्ष ज्ञान है और "रजतम्" यह स्मृतिज्ञान है। दोनों ही यथार्थ ज्ञान है अतः भ्रम स्थलों में भी अयथार्थ ज्ञान नहीं होते इसलिए सभी ज्ञानों के यथार्थ ज्ञान दें। अख्यातिवादी का कहना है कि भ्रमवादी जिसे भ्रम कहते है, वह भ्रम नहीं, अपितु यथार्थज्ञान हीं है। अख्यातिवादी भ्रम को मानते नहीं। इनके अनुसार "नेदं रजतम्" करके व्यवहार का बाध होता है। ज्ञान का बाध नहीं होता। ज्ञान सदा अबाधित होता है। अख्यातिवादी की और से भ्रम की व्याख्या में अनुमान इस प्रकार होगा–सन्देह विभ्रम आदि सभी ज्ञान यथार्थ है अतः भ्रम स्थानो में भी अयथार्थ ज्ञान नही होते इसलिए सभी ज्ञानो के यथार्थ ज्ञान है। क्योंकि वे सभी ज्ञान है, जैसे घटादि ज्ञान।[3]

---

1. केचिन्तु ज्ञानाकारस्य बहिरवभसो विभ्रमः इत्याहुः। न्यायमकरन्द–पृ०99
2. यथार्थ सर्वमेवेह विज्ञानम्। प्र०प०4/1
3. यथार्था सर्वे विप्रतिपन्नाः सन्देहविभ्रमाः प्रत्ययत्वात् घटादिप्रत्ययवत्। भामती पृ०27

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनका कहना है कि भ्रमवादी जो शक्ति में रजत का आरोप मानते हैं वह समीचीन नहीं है क्योंकि उक्त सुक्ति रजत् भ्रमस्थल में रजत् का आलम्बन शुक्ति नहीं हो सकती। ऐसा होने पर स्वानुभव विरोध होगा। भ्रमवादी जब रजत् का आलम्बन शुक्ति को कहते हैं उनसे ये लोग पूछते हैं कि आलम्बन से भ्रमवादियों का क्या अभिप्राय है? क्या जिसकी सत्ता है वह वस्तु ज्ञान का आलम्बन है? ऐसा कहने पर अति प्रसंग दोष होगा। संसार में सत् वस्तु जहां भी है वह किसी भी ज्ञान का आलम्बन हो जायेगी अर्थात् शुक्ति का रजत का आलम्बन घट भी होगा। घट भी सत् है। कोई भी वस्तु किसी भी ज्ञान का आलम्बन होगी यदि भ्रमवादी इदं को कारणत्वेन रजत् ज्ञान का विषय मानते है तो भी समीचीन नहीं है, ज्ञान का कारण इन्द्रियां भी होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति इन्द्रियां भी कारण हैं अतः इन्द्रियाँ भी रजत् ज्ञान का विषय क्यों न हो? यदि कहा जाय कि ज्ञान भासमानत्व ही ज्ञान का आलम्बन है। तब तो शुक्ति रजत ज्ञान का आलम्बन हो ही नहीं सकती। "इदं रजजम्" में शुक्ति रजतम् की प्रतीति तो होगी नहीं अर्थात् शुक्ति भास ही नहीं है। अतः वह आलम्ब नहीं हो सकती। उक्त भ्रम स्थल में "रजत" इस प्रकार का अनुभव होता है। शुक्ति ऐसा नहीं होता, अतः अनुभव विरोध होगा। चक्षुरादि इन्द्रियां यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने में सहायक होती है। न कि मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करन में। दुष्टेन्द्रियाँ भी मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि दोष से दुषित होने पर भी केवड़े का बीज बट के अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसी कारण यह मानना पडेगा कि कारणगत दोष कारण में कार्य जन शक्ति को ही व्याहृत करते हैं, कारण ये नये कार्य की उत्पन्न करने की शक्ति को उत्पन्न नहीं करते।

इसलिए मीमांसको के अनुसार "इदं रजतम्" यहां का प्रत्यक्ष भी सत्य ज्ञान है और रजतम् की स्मृति भी सत्यज्ञान है। दोनों एक जातीय

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान न होकर दो प्रकार के ज्ञान है। इन दो प्रकार के ज्ञानों का जातिगत अकारणगत एवं विषयगत पार्थक्य है। भ्रान्त व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता। भ्रान्त व्यक्ति के लिए दोनों ज्ञानों की ख्याति दो ज्ञानों के रूप में नहीं रहती, अपितु विशिष्ट एक ज्ञान के रूप में प्रतीत होती है। तदनुकूल वह व्यवहार भी करता है। इदं रजतम् एवं प्रकार से इदं रजतम् में अभेद उपलब्ध करके भ्रमित व्यक्ति उसको उठाने दौड़ता है। इस ज्ञान को वह रजत के प्रत्यक्ष ज्ञान के समान सत्य समझ बैठता है। यही अख्यातिवाद है।

असत्संसर्ग–ख्याति–

जैन दार्शनिक असत्संसर्ग ख्याति मानते हैं। इनका कहना है कि सामने अवस्थित पदार्थ को मैं रजतत्व रूप में जानता हूँ इस ज्ञान में पुरोवर्ती और रजत में तादत्म्य प्रतीति प्रमाण है। यह तादत्म्य असत् है। पुरोवत्रि शुक्ति का रजत के साथ कोई तादात्म्य नहीं है। प्रतीति वहां अगर होती है तो वह असत् की ही है। यह सत्य है कि असत् का भान नहीं हो सकता। फिर भी यहां पर सत्व से उपरक्त असत् का भास होता है। जैन दर्शन के अनुसार ख्यातिवाद के विषय में समस्त दर्शनों के सिद्धान्त प्रायः नय और दुर्णय सम्पन्न है। केवल जैनाश्रय ही प्रमाण है। वस्तु के परामर्श के लिए नए भी माननीय हो सकता है किन्तु दुर्णय को नहीं।

द्वैतवादी आचार्यों का ख्यातिवाद

अन्यथाख्याति –

अन्यथाख्याति के अनुसार भ्रमस्थल में देशान्तरीय वस्तु का इदं रूप प्रत्यक्ष होता है। जिस पुरुष को जिस सत्यवस्तु के अनुभवजन्य संस्कार होते हैं, उस वस्तु का भ्रम हो जाता है। शुक्तिरजतम् में न्याय के अनुसार रजत् ज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान है। इस विशिष्ट ज्ञान में इदं विशेष्य और रजतम् विशेषण है। यही विशिष्ट ज्ञान न्याय के अनुसार भ्रम ज्ञान है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रम को न्याय दर्शन में विपर्यय कहा है। विपर्यय का लक्षण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है विपरीतार्थ निश्चय या जो वहाँ पर नही उसको समझना ही विपर्यय है।[1]

नैयायिकों ने भ्रम की व्याख्या अन्यथाख्यति द्वारा की है। उनके अनुसार भ्रमस्थल में वस्तु अन्यथा या विपरीत रूप में प्रकाशित होती है। आचार्य शंकर ने नैयायिको के अनुसार भ्रम की व्याख्या करते हुए अध्यासभाष्य में कहा है जहाँ पर शुक्ति आधार में जिस रजत का अध्यासहोता है उसी शुक्ति के विपरीत धर्म कल्पना करना ही अध्यास है।[2] भामतीकर ने इसका अर्थ करते हुए कहा है जहां पर शुक्ति आधार में जिसका अध्यास होता है उसी शुक्ति के विपरीत धर्म कल्पना करना ही अध्यास है।

न्याय के अनुसार शुक्ति में जो भ्रान्त व्यक्ति को रजत ज्ञान होता है वह केवल शुक्ति ज्ञान नहीं और न केवल रजत ज्ञान ही। यहां पर इन दोनों से पृथक् एक तृतीय ज्ञान है। यह तृतीय ज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान है। इस ज्ञान का विशेष्य "इदं रजतम्" में से "इदं" अंश और विशेषण रजतम् है। एवं प्रकारक भ्रम ज्ञान में प्रथम चाक्चिक्ययुक्त वस्तु के साथ चक्षु का संयोग होता है। दोनों के रहने के कारण उक्त रजत और पुरोवर्ती द्रव्य में सादृश्यज्ञान रजतस्मृति को उत्पन्न करता है। इसके पश्चात् स्मृति का विषय उस रजत के साथ पुरोवर्ती द्रव्य का एक तादात्म्य सम्बन्ध दोष के कारण गृहीत होता है। उसमें सत्य रजत् के समान इष्टसाधनता ज्ञान होने लगता है। अर्थात् इस रजत के पाने से मुझे लाभ होगा ऐसा ज्ञान होता है। इसके पश्चात् उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है। इच्छा के बाद ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति होती है। इस ज्ञान में पुरोवर्ती वस्तु एवं रजत् दोनों ही सत्य वस्तुऐं हैं मात्र तादात्म्य संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध ही परस्पर आरोपित है।

---

1. मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः 1– न्यायभूषण पृ० 25
2. यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते। श०भा०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब प्रश्न यह होता है कि भ्रमस्थल में "रजत्" को प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। इस प्रकार अनुभव होता है, ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक होता है जैसे घट को देखता हूं में घट के साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष होता है। तभी घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार यदि शुक्ति रजत प्रत्यक्ष होता है तो उसमें भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष अवश्य होगा, परन्तु उक्त स्थान में रजत् के साथ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तो है नहीं क्योंकि रजत सामने नहीं है फिर रजत का प्रत्यक्ष कैसे होता है? इसके समाधान में नैयायिकों ने ज्ञानलक्षणात्मक अलौकिक सन्निकर्ष की बात कही है। नैयायिक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष आवश्यक है। शुक्ति रजत प्रत्यक्ष में लौकिक अन्य सन्निकर्ष सम्भव नहीं है। अतः इस समस्या का समाधान ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष से ही सम्भव है। भ्रम स्थल में भ्रम उसी को होता है। जिसने पहले उस पदार्थ को देखा हो। देखी हुई वस्तु संस्कार के रूप में आत्मा में होती है। जब तत्सदृश कोई वस्तु सामने दीखती है। और उसका विशेष धर्म सहित ज्ञान न हो पाता, किन्तु सामान्य ज्ञान हो पाता है, उस समय में आत्मा में स्थित ज्ञान न हो पाता, किन्तु सामान्य ज्ञान हो पाता है, उस समय में आत्मा में स्थित संस्कारों के उद्बृद्ध होने के कारण पूर्वदृष्ट वस्तु की स्मृति होती है। वह स्मृति ही ज्ञान है। पूर्वदृष्ट वर्तमान में स्मर्यमाण वस्तु का स्मृतिरूप एक प्रकार सम्बन्ध मन के साथ होता है। उसके बाद उस सम्बन्ध युक्त मन के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार स्मर्यमाणवस्तु के साथ इन्द्रिय का एक परस्पर सम्बन्ध होता हे। इसको न्याय की भाषा में स्वसंयुक्त मनोजन्यस्मृति विषयत्वरूप सम्बन्ध कहा जाता है।

ज्ञान लक्षणासन्निकर्ष द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से "इदं रजतम्" में भी "सुरभिचन्दनम्" के ज्ञान के समान स्मर्यमाण रजत संयुक्त मन और मन से संयुक्त चक्षु इन्द्रिय रजत का प्रत्यक्ष हो जाता है। इस विशिष्ट ज्ञान का विशेष्य "इदम्" और विशेषण रजतम् तथा दोनों के सम्बन्ध को वैशिष्टय एवं उक्त ज्ञान की विशिष्ट ज्ञान कहा जाता है– अर्थात् "इदं

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजतम्'' में रजत प्रकारक इदं विशेष्यक विशिष्टज्ञान है। यह विपर्यय इसलिए है क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाज्ञान का लक्षण नहीं घटता प्रभा यथार्थ ज्ञान को कहा गया है। यथार्थज्ञान का अर्थ है। तद्वतितत्प्रकारक ज्ञान'' अर्थात् रजत में इदं रजतम् का ज्ञान। क्योंकि उसमें रजत विशेष्य में रजतत्ववाला ज्ञान होता है इसलिए यह भ्रम है। तदभावर्यात तत्प्रकाक ज्ञान को अयथार्थ या भ्रम कहा है और हमें भ्रमिम ज्ञान होता है।

सद–सत्ख्यातिः–

विज्ञानभिक्षु आदि सांख्याचार्यों ने भ्रम की व्याख्या में सदसत्ख्याति का समर्थन किया है। महर्षि कपिल जो सांख्य दर्शन के प्रणेता है उन्होंने अपने शास्त्र में सदसत्ख्याति को ही स्वीकारा है।[1] इस पर सबसे प्राचीन जो टीका उपलब्ध होती है उसमें टीकाकार अनिरूद्ध ने अपनी वृत्ति में कहा है कि यह रजत है'' ऐसा पुरोवर्ति विषमता से सत् है क्योंकि इसका अबाध है और रजत विषयता होने से असत् है क्योंकि रजत बोध होना है। अतः यह सदसत्ख्याति है।[2]

उन सांख्याचार्यों के अनुसार ''इदं रजतम्'' इस प्रकार भ्रम ज्ञान के विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चक्षु दोष के कारण शुक्तित्व रूप विशेषण धर्म की प्रतीति न होने के कारण इदं रूप से शुक्ति का जो ज्ञान होता है, वह प्रमा ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञान सत्य वस्तु का ज्ञान है। अतः ज्ञान भी सत्य है। रजज्ञान सत्य नहीं है क्योंकि ''इदं में रजत अनुपस्थित है। जो जहां अनुपस्थित होता है उसका वहां पर ज्ञान सत्य नहीं हो सकता। रजत ज्ञान असत् का ज्ञान होने के कारण असत् है। भ्रमस्थल में सर्वत्र

---

1. सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात्। सां० द० 5/5
2. इदं रजतमिति पुरोवर्तिविषयतया सत् अबाधनात्,
   रजतविषयतया त्वसत् बाधात्। तस्मात्सदसती तत्वम्। सा०दा० 5/55

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही दशा है। सत् और असत् दोनों प्रकार के ज्ञान होते है इसलिए भ्रमस्थल का रजत, असत् ओर इदम् सत है। रजत अन्यत्र सत् है, यह ठीक है किन्तु इदम् में वह आरोपित हुआ है। इस लिए सत नही हो सकता। नेदं रजतम् करके बाह्यबुद्धि का विषय भी असत् रजत ही है। यदि कहा जाए कि सदसत एकाधिकरण में दोनो कैसे रह सकते है। उसके उत्तर मे विज्ञान भिक्षु का कहना है कि जैसे स्फटिक लौहित्य में विम्बात्मना लौहित्य सत् होता है ओर स्फटिकगतप्रतिबिम्बात्मना असत् होता है, वैसे ही यहाँ पर भी सम्भव है। जिस प्रकार रजत दुकान में स्थित सत् ओर शुक्तिमध्यस्तरूप में असत् है उसी प्रकार सम्पुर्ण प्रपचं भी स्वरूपः सत और चैतन्याघ्यस्त रूप में असत है। सदसत्ख्याति में असत् का ज्ञान माना गया है।

इनके अनुसार "इदं" रजतम में इदं का ज्ञान प्रमाज्ञान है क्योकि वह सत्यवस्तु शुक्ति का ज्ञान है। रजत उपस्थित नही है अतः वह असत है। इस प्रकार सदसत् की ख्याति होने पर सर्वत्र भ्रमस्थलो में सदसतख्याति ही मानी जानी चाहिए।

अद्वैतवादी आचार्यो का ख्यातिवाद– अनिर्वचनीय ख्याति

अद्वैवाद के अनुसार प्रमाज्ञान स्थल में अन्तःकरणवृत्ति नेत्रादि द्वारा बहिर्गत होकर विषय में जाकर विषयाकार में परिणत हो जाती है। वेदान्त परिभाषा में कहा है कि अन्तःकरण की वृत्ति कुल्यात्मना बहिर्देश को जाकर अन्तःकरण और विषय दोनो को सम्बन्धित करती है उक्त प्रकार से वृत्ति के बहिर्गमन एवं विषयाकार परिणति से ही विषय का अज्ञानावरण भंग होता है, तभी विषय ज्ञात होता है। किन्तु जब रज्जु में सर्प भ्रमस्थल में अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा बहिर्गमन करके रज्जुदेश में पहुचंकर भी तिमिरादि दोष के कारण रज्जुगत अज्ञाननाकरण भगं करने मे समर्थ नही होती तब उक्त वृत्ति रज्जु आदि में परिणत हो पाती। जब अन्तः करण वृत्ति रज्जु में आवरण भंग नहीं कर पाती तब रज्जतावच्छिन्न चेतनताज्ञान में क्षोभ उत्पन्न होता है और वह अज्ञान सर्पाकार से परिणत हो जाता है। रज्जु सर्प भ्रम जिस प्रकार सर्प अविधा का परिणाम है उसी प्रकार उस रज्जुसर्प विषयक ज्ञान भी अर्थात् वृत्तिज्ञान भी अविद्या का परिणाम है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी कारण सर्प ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। अर्थात् भ्रमस्थल का विषय एवं ज्ञान दोनों अनिर्वचनीय है अर्थात् भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु एवं तद् द्वारा उद्‌बोधित अनिर्वचनीय ज्ञान उत्पन्न होता है।

चित्सुखचार्य ने अनिर्वचनीयत्व का लक्षण करते हुए तत्वप्रदीपिका में पूर्व पक्ष की ओर से दो कोटियां प्रस्तुत की है। पूर्व पक्ष का कहना है कि "अनीर्वचनीयता के सिद्धान्त का तात्पर्य क्या निरुक्ति विरहता से है² निरुक्ति निमित्तरहितता से है?[1]" दोनों ही पक्ष असंगत हैं क्योंकि अद्वैतवादी जब रजत अनिर्वचनीय है, ऐसा कथन करते हैं तब निर्वचन होने के कारण भ्रमस्थलीय रजत की अनिर्वचनीयता नहीं रह पाती और न ही निरुक्त निमित्तरहितता सम्भव है। चित्सुखाचार्य ने कहा है कि सत्य और असत्य रूप से जिसका विचार सम्भव नहीं दोनों कोटियों को मिलाकर भी विचार जिसका सम्भव नहीं वह अनिर्वाच्व है।[2] सभी प्रकार के भ्रम ऐसे ही है। अतः अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष नहीं है। अद्वैत सिद्धिकार के अनुसार भी सत्व असत्व दो कोटियों के अतिरिक्त दोनों को मिलाकार भी कथन सम्भव न होने के कारण अनिर्वाच्यत्व है।[3] शुक्ति रजत को रजत सत् रूप से नहीं कहा जा सकता और असत् रूप से भी नहीं कह सकते तो सदसत् दोनों रूप से कैसे कह सकते हैं? जो "अ" भी नहीं और "ब" भी नहीं वह "अ+ब" कैसे हो सकता है? अतः अनिर्वचनीय ही होगा।

---

1. ननु किमिदमनिर्वचनीयत्वम् किं निरुक्तिविरहः किं वा निरुक्तिनिमित्तविरहः? तत्वप्रदीपिका पृ० 75
2. प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
   गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः।। तत्व०प्र०पृ०76
3. सत्त्वरहितत्वे सति असत्त्वरहितत्वे सति सद्सत्त्वरहित्वमपि साधु।
   अद्वैतसिद्धि पृ० 6।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार अनिर्वाच्यत्त्व क्या है जान लेने पर अनिर्वचनीय क्या है? विचार करना आवश्यक है। ख्याति का अर्थ ज्ञान है। अनिर्वचनीय ख्याति का अर्थ दो प्रकार का है। प्रथम अनिर्वचनीय की ख्याति अर्थात् अनिर्वचनीय वस्तु का ज्ञान। अद्वैत मतानुसार ब्रह्मातिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुऐं अनिर्वचनीय हैं ऐसी अनिर्वचनीय वस्तुओं का ज्ञान भी अनिर्वचनीयता है। अतः दूसरा अर्थ हुआ जो ज्ञान अनिर्वचनीय हो वहीं अनिर्वचनीय ख्याति है। अर्थात् अनिर्वचनीय वस्तु विषयक ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। जगत् की अनिर्वचनीय की व्याख्या के लिए भ्रमस्थलीय रजत की अनिर्वचनीयता की सिद्धि करनी है। क्योंकि द्रष्टान्त रूप से प्रातिभासिक कस्तु कोई भी लिया जा सकता है। प्रातिभासिक वस्तु की अनिर्वचनीयता की सिद्धि पूर्वक व्यावहारिक वस्तु की भी अनिर्वचनीयता की सिद्धि हो सकती है। इस आशय से अद्वैतवेदान्तियों ने भ्रमस्थलीय प्रातिभासिक वस्तु की व्याख्या के लिए अनिर्वचनीय ख्याति स्वीकार की है।

इस मत के अनुसार भ्रमस्थलीय शुक्ति रजत असत् नहीं है। क्योंकि उसकी प्रतीति "इदं रजतम्" इस प्रकार होती है। असत् का अर्थ अद्वैतवेदान्त के अनुसार अलीक है जो कि आकाश कुसुमादि है। आकाश कुसुमादि की प्रतीति इदं रूप से कदापि कहीं भी नहीं होगी। "बन्ध्या पुत्रोऽस्ति" बन्ध्यापुत्रो याति" ये वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी तथ्यात्मक न होने के कारण तात्विक नहीं है। वाक्य या शब्द तथ्यात्मक होना चाहिए। तभी तात्विक होगें। इसी प्रकार भ्रमस्थलीय रजत भी सत् भी नहीं है। क्योंकि सत्व त्रिकालाबाध्यत्व है। भ्रम स्थलीय रजत की उत्पति शुक्तिविषयक अज्ञान से हुई है और शुक्ति विषयक ज्ञान से उसका परिक्षण में "नेदं रजतम्" यह रजत नहीं है करके बाध होता है। अद्वैत के अनुसार जिसका बाध होता है वह सत् नहीं। अतः सत् नहीं असत् नहीं तब दोनों भी नहीं, सुतरां भ्रमस्थलीय रजत अनिवर्चनीय है। जिस प्रकार रजत अनिर्वचनीय है उसी प्रकार शुक्ति एवं

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें प्रतीत रजत का सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है तथा शुक्ति रजत ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। यहां पर रजत नहीं है नहीं कहा जा सकता। सत् है यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः शुक्ति रजत की अख्याति या असत्ख्याति द्वारा व्याख्या नहीं हो सकती न ही अन्यथाख्याति द्वारा व्याख्या सम्भव है क्योंकि देशान्तरीय सत् रजत की यहां पर सम्भावना नहीं हो सकती। इस कारण अनिर्वचनीय मिथ्या रजत की शुक्ति में उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी।[1] भ्रमस्थलीय प्रातिभासिक रजत के समान स्वप्न भी अद्वैतमत में प्रातिभासिक है। प्रातिभासिकत्वेन स्वप्न एवं जागृत भ्रमस्थलीय रजत की सत्ता समान है।

अद्वैत वेदान्त के इस अनिर्वचनीयख्याति को मण्डन मिश्र के अतिरिक्त सभी अद्वैताचार्यो ने स्वीकार किया है। मण्डन मिश्र ने भ्रम की व्याख्या में कुमारिलभट्ट स्वीकृत विपरीताख्याति प्राप्त की है। ऐसा उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ विभ्रम विवेक एवं ब्रह्मसिद्धि से पता चलता है।[2] मण्डन मिश्र के विपरीतख्यातिवादी होने के दो कारण हो सकते हैं एक कारण यह हो सकता है कि वे कुमारिल के अनुयायी मीमांसक थे दूसरा कारण यह है कि आचार्य शंकर ने भाष्य में कहा है अन्य का अन्य में अवभास होना यह बात सभी ख्यातिवादों में है।[3] इस आचार्य वाक्य का अर्थ मण्डन के अनुसार विपरीत ख्याति के साथ भी किया जा सकता है जिसमें जो धर्म नहीं उसमें उस धर्म का आरोप विपरीत ही हुआ। इसी में संमति करते हुए मण्डन ने विपरीत ख्याति स्वीकार की है। जो भी हो अन्य सभी अद्वैतवादी

---

1. तस्माद् भ्रमस्थले रजतादिकं जायते ईत्यवरयं वाच्यम्।... अद्वै०सि०वि०पृ०25
2. तस्मादवश्यं प्रतिवेषेध्यप्राप्तये विपरीतख्यातिरुपासनीय। ब्र०सि०पृ० 143
3. सर्वथाऽपि त्वन्यस्यान्मधर्मावभासता न व्यभिचरति। ब्र०शा०भा०पृ०9

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अतस्मिन् तद्बुद्धिः" को अध्यास कहते हैं एवं अध्यस्त ज्ञान और वस्तु की व्याख्या में अनिर्वचनीय ख्याति स्वीकार करते हैं।

सत्ख्याति –

आचार्य रामानुज ने सत्ख्याति को स्वीकार किया है। उनके अनुसार समस्त जगत् सत् है और उसकी सत्ता यथार्थ है। उनके मत में कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं होता, ज्ञान सदैव सत् का होता है।[1] यतीन्द्रमतदीपिका में श्रीनिवासाचार्य कहते हैं कि वेदज्ञों का सिद्धान्त है कि सभी ज्ञान सत्य होते है। इस उक्ति के अनुसार भ्रमादि का प्रत्यक्ष ज्ञान यथार्थ ही है। क्योंकि अख्याति, आत्मख्याति, अनिर्वचनीख्याति, अन्यथाख्याति तथा असत् ख्यातिवादियों का खण्डन करके हम सत्ख्याति पक्ष को स्वीकार करतें है। ज्ञान के विषय को सत् मानना ही सत्ख्याति है। तो प्रश्न यह है कि भ्रमस्थलीय ज्ञान को आप भ्रम कैसे कहते हैं? तो इसका उत्तर है कि चूंकि भ्रम के विषय में व्यवहार का बाध होता है। हम उसका प्रतिपादन करते हैं।[2] पंचीकरण प्रक्रिया के अनुसार सभी वस्तुओं–पृथ्वी आदि सभी द्रव्यों में सभी द्रव्यों के विद्यमान रहने के कारण ही शुक्ति में रजताभास विद्यमान रहता है, अतः एव शुक्ति में प्रतीयमान ज्ञान का विषय रजत सत् ही है। किन्तु शुक्ति में रजतांश स्वल्प रहता है, अतः उसका रजत रूप में व्यवहार नहीं होता है। शुक्ति के अंश का भूयत्वज्ञान ही जाने से भ्रम की निवृत्ति हो जाती है।

---

1. यथार्थ सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्। श्रीभाष्य 1/1/1
2. यथार्थ सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम् इत्युक्तत्वात् भ्रमादिप्रत्यक्षादि ज्ञानं यथार्थमेव। अख्यात्यात्मख्यात्यनिर्वचनीयख्यत्यात्मन्याथाख्या–त्यसत्ख्यातिवादिनो निरस्य सत्ख्यातिपक्षस्वीकारात्। सत्ख्यतिर्नाम ज्ञानविषयस्य सत्यत्वम्। तर्हि भ्रमत्वं कथमिति चेत् विषयव्यवहारबाधाद् भ्रमत्वम्। तदुपपादयामः। य०दी०पृ० 23

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्न आदि का ज्ञान तो सत्य ही है। श्रुतियों से पता चलता है। कि स्वप्नकाल में परमात्मा स्वप्न देखने वाले पुरुष मात्र से किये जाने योग्य स्वप्न काल पर्यन्त ही रहने वाले रथ आदि की सृष्टि कर देता है। शंख पीला है इत्यादि प्रतीति स्थल में नेत्र के पित्त द्रव्य में मिश्रत नेत्र की ज्योतियों व शंखादि से संयुक्त होती है। वहां पित्त की कीर्तिमा से अभिभूत हो जाने के कारण शंख की शुक्तिमा की प्रतीति नहीं हो पाती है। इसलिए उजला भी शंख सुवर्ण जटित शंख के समान पीला प्रतीत होता है। अपने नेत्र से निकलने के कारण तथा सूक्ष्म होने के कारण पीतिमा की प्रतीति केवल अपने को ही हो पाती है दूसरों को नहीं। जपा कुसुम के सन्निकटस्थ स्फटिकमणि भी लाल प्रतीत होता है। वह ज्ञान भी सत्य ही है।[1] मरु मरीचिका में होने वाला जल का ज्ञान भी पंचीकरण प्रक्रिया से पहले के समान अर्थात् शुक्तिरजत सा होता है। मरुमरीचिका के जल की प्रतीति पंचीकरण के सिद्धान्तानुसार ही होती है। मरुमरीचिका में जल की प्रतीति पंचीकरण के सिद्धान्तानुसार ही होती है। क्योंकि मरीचिका के रेत में पृथ्वी के अंश के बाहुल्य के साथ अन्य भूतों की भांति अलपांश के प्रति आधिक्य बुद्धि है। बालू में जलसत् है। अतः तत्प्रीति भी सत् है।

आचार्य रामानुज निर्विशेष की प्रतीति स्वीकार नहीं करते हैं। उसी कारण उनके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान में भी सविशेष की ही प्रतीति होती है।

---

1. पंचीकरणप्रक्रियापृथिव्यादिषु सर्वत्र सर्वभूतानां विद्यमानत्वात् अतः एव शुक्तिकायां रजतांशस्य विद्यमानत्वाज्ज्ञानविषयस्य सत्यत्वम्। एवं रजतांशंस्य स्वल्पत्वात्तु न व्यवहार इति तद्बाधात्तज्ज्ञान भ्रमः। शुक्त्यंशभूतस्वज्ञानात् भ्रमनिवृतिः स्वप्नाविज्ञानं तु सत्यमेव। तत्तत्पुरूषानुभाव्यतया तत्कालवासनानां रथादीन् परमपुरूषः सृजतीतिः हि श्रुत्यावगम्यते। पीताश्वङव नयनवतिर्तर्पित्तद्रव्यसम्भिन्ना नयनरश्म्यशंवाशखांदिभिसंमुज्यन्ते। तत्र पित्तगतपीतिमाभिभूतः शंखगतशुक्तिमा न गृह्यते। अतस्सुवर्णानुलिप्तंवत्पीतशङ्ख इति प्रतीयते। सूक्ष्मत्वात्पीतिमा स्वनयनिष्क्रान्ततया स्वेनेव गृहयते न त्वन्येः। जपा कुसुमसभीपवर्तिस्फटिमाणिरपि रक्त इति गृह्यते। तज्ज्ञानं सत्यमेव। य०म०दी०पृ० 21–24

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार रामानुज का मत है कि ज्ञान सर्वथा यथार्थ किवां सत् वस्तु का ही होता हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक भ्रम व ख्याति–

आधुनिक मनोविज्ञान में भ्रम के विविध सिद्धान्त एवं व्याख्या इस प्रसगं में भ्रम विभ्रम तथा व्यामोह के रूप में प्रत्यक्षीकरण की असामान्यताओं का वर्णन प्रस्तुत है ।जो इस प्रकार है। दृष्टि, विपर्यय,भ्रम,व्यामोह इन नामों से भ्रम को ही पुकारा जाता है। विभिन्न प्रकार के विपर्यय यह प्रदर्शित करते है किभौतिक उद्दीपन की प्रतिभा और उसके प्रत्यक्षीकरण में पर्याप्त अन्तर हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि हमारा प्रत्यक्षीकरण सदैव यर्थाथ नही होता है। प्रत्यक्षीकरण की यह अशुद्धि ही विपर्यय अथवा भ्रम कही जाती है। भ्रम की अवस्था में वास्तविक उत्तेजक का ज्ञान ही नही होता। जब अन्धेरे में रस्सी का सर्प तथा सीपी में चॉदी का प्रत्यक्षीकरण होता है, तो उसी को भ्रम नाम से ही पुकारा जाता है। कोई व्यक्ति किसी को आवाज देता है तथा अन्य समझता है कि उसको किसी ने बुलाया है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण की अशुद्धि ही भ्रम कहलाती है ।यद्यपि भ्रम के विषय में अधिकाशं अध्ययन ज्योमितिक आकृतियो को लेकर किये है परन्तु ये अनुभव सम्बेदनाओं के सम्बन्ध में तथा सामान्य असामान्य सभी प्रकार की परिस्थितियो में समान रूप से देखने को मिलाते है। भ्रम के दो भेद है 1. वैयक्तिक भ्रम 2. सामान्य भ्रम।

1. वैयक्तिक भ्रम–

जब व्यक्ति विशेष अशुद्ध प्रत्यक्षीकरण का शिकार होता है तो उसे वैयक्तिक कहते है। यह अशुद्धि प्रत्यक्षीकरण की उस व्यक्ति तक ही सीमित होती है, जैसे अधेरी रात में रस्सी के टुकडे को सर्प समझ लेना वैयक्तिक भ्रम कहलाता है।

2.सामान्य भ्रम–

जो अशुद्ध प्रत्यक्षीकरण सभी व्यक्तियो के होता है उन्हे सामान्य भ्रम कहा जाता है। सामान्य भ्रम के शिकार तो सभी व्यक्ति होते है जैसे रेल

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की पटरी दूर क्षितिज में मिंली हुई दिखायी पड़ती है। रेलवे लाईन के सहारे तार के लम्बे खम्भें दूर से बहुत छोटे देखे जाते हैं। तथा बहुत दूर पर पृथ्वी और आकाश मिले हुए गौल तम्बू की भाँति दिखायी पडती है इस प्रकार उत्तेजेकों का अशुद्ध प्रत्यक्षीकरण प्रत्येक व्यक्ति से सम्बन्धित होता है।

भ्रम के सिद्धान्त–

भ्रम की व्याख्या निम्नांकित सिद्धान्तों के आधार पर की गई है।

1. नेत्रगति सिद्धान्त–

उत्तेजक प्रत्यक्षीकरण में नेत्र गति कार्य करती है। जब किसी लम्बाई की वस्तु को देखा जाता है। तो उसमें आँखो को उसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक घुमाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि क्षेतिज वाली रेखा को देखने की अपेक्षा लम्ब वाली रेखा के देखने में अधिक प्रयास की आवश्यकता है। इसके परिणाम स्वरूप क्षेतिज वाली रेखा से लम्ब वाली रेखा अधिक लम्बी प्रतित होती है।

2. समानुभूति सिद्धान्त–

किसी वस्तु की आकृति भाव तथा सवेगो के रूप में दृष्टा के प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करती है। यही सम्बेगानुभूति जब दृष्टा के प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करती है तो उत्तेजक का प्रत्यक्षीकरण वास्तविकता से दूर जाता है। लिप्स ने इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए बताया था कि वस्तुओं की आकृति में सौन्दर्यात्मक बौध होता है तथा दृश्य का प्रत्यक्षीकरण इसी से प्रभावित होता है। लम्ब क्षेतिज भ्रम में लम्ब रेखा निरीक्षण कर्ता के प्रत्यक्षीकरण का विरोध करती है। जिसके कारण देखने में अधिक प्रयास की आवश्यकता पडती है तथा लम्बा प्रतीत होती है। क्षेतिज रेखा आकर्षण उत्पन्न करती है। अतः प्रयास की कभी के कारण लम्ब रेखा की अपेक्षा छोटी प्रतीत होती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि विपर्यय अथवा भ्रम

अ————————————ब　　　　ब————————————स

मूलर लायर भ्रम

लम्ब तथा क्षेतिज रेखा

3. गुरू गम्भीरता या पूर्णाकृति सिद्धान्त–

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन गेस्टाल्ट वादी विचारधारा से हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार निरीक्षण कर्ता किसी वस्तु के अंशो की अपेक्षा इस सम्पूर्ण आकृति को देखता है। सम्पूर्ण प्रत्यक्षीकरण के समय उस वस्तु के कुछ सम्पूर्ण आकृति को देखता है। सम्पूर्ण प्रत्यक्षीकरण के समय उस वस्तु के कुछ ऐसे गुण भी देखे जाते है जो उस आकृति में नही पाये जाते है। अतः भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसी को गुरू गम्भीरता या पूर्णाकृति सिद्धान्त कहते है।

4. सम्भ्रान्ति सिद्धान्त–

इस सिद्धान्त के अनुसार भ्रम का कारण यह है कि निरीक्षण कर्ता किसी उत्तेजना के प्रत्यक्षीकरण के समय उस आकृति के अंगो का विश्लेषण नही कर सकता अतः उसे सम्भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसे रेखाकोण तथा अन्य पहलु का निर्णय न हो पाना अशुद्धि का रूप है जिसे भ्रम कहते है।

विपर्यय के कारण–

1. बाह्य संसार में अनियमित अथवा अव्यवस्थित स्थिति।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. ज्ञानेन्द्रियों के दोष।
3. वस्तु का परिचय।
4. आश
5. मानसिक वृत्ति ।
6. चिन्ता का भय
7. वस्तु के पूर्ण प्रभाव का विश्लेषण नही कर पाना।
8. आदत।
9. नवीनता।
10. विरोध।

समालोचना

ख्यातिवाद के ऊपर विभिन्न दार्शनिकों ने अपने–अपने ढ़ग से विचार किया है और उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। इससे यह तो निर्विवाद सिद्ध हो ही जाता है कि जहां निःश्रेयस की उपलब्धि में यथार्थ ज्ञान उपयोगी है वहां भ्रमज्ञान की भी अपनी उपयोगिता है। जिस प्रकार भाव के बिना अभाव का कोई अर्थ नही रह जाता है और द्वैत के बिना अद्वैत की प्रतिष्ठा नही हो सकती और प्रमेय के बिना प्रमाण निःसार हो जाते हैं वैसे ही भ्रमज्ञान के बिना यथार्थ ज्ञान का भी कोई महत्व नही रह जाता। महाकवि माघ कहते है। ''अनीत्वा पंकतां घूलिमुदकं नावतिष्ठते'' अर्थात् जब तक जल घूलि को अच्छी तरह कीचड़ नही बना देता तब तक उसकी स्थिति सम्भव नही होती। अर्थात् जब तक प्रतिपक्षियों के निश्तेज न कर दिया जाये तब तक राजा की प्रभूता नामशेष ही होती है। इसी प्रकार भ्रम को पूर्ण नष्ट किये बिना यथार्थ ज्ञानचित्त में अपने चरण नही जमा सकता। भ्रम को नष्ट करने से पहले भ्रम को जानना भी आवश्यक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर दार्शनिकों ने इसके सूक्ष्मतम भाग की व्याख्या करना अपना प्रधान लक्ष्य रखा है।

इस प्रकरण में ख्यातिवाद के जो विभिन्न पहलु विचारित किये गये हैं, उनका सूक्ष्म अनुशीलन करने के पश्चात् यह बात तो पूर्णतः सिद्ध हो जाती है कि भ्रम ज्ञान भी एक ज्ञान ही है। यह एक भावरूप तत्व है अभाव रूप नहीं। यदि अभावरूप ही होता तो इसके निःसारण के लिए इतना उद्योग करने की आवश्यकता नहीं थी। अब रहा यह प्रश्न कि वह सत् है या असत् और सत् और असत् की क्या परिभाषा है? तो यह चिन्तन का विषय है। दार्शनिकों ने भाव–रूपता और सदरूपता में भेद स्वीकार किया है। शंकर वेदान्ती त्रिकालावाधि तत्व को सत् कहते है। जैन दार्शनिक उत्पादव्ययघ्रौव्य को सत् कहते है। विज्ञानवादी आन्तर प्रत्यय को सत् कहते हैं। शून्यवादी शून्य को सत् कहते है और कुछ लोग प्रतीयमानता को ही सत् कहते हैं। सत् के इन सभी लक्षणों में भावरूपता का कहीं भी व्यभिचार नहीं होता। भावरूपता सभी में रहती है। जब हम यह कहते है कि मिथ्याज्ञान असत् है तो वहां भी अस्ति का प्रयोग मिथ्याज्ञान की आवश्यकता का ही द्योतन करता है।

सत् और असत् पक्ष में कौन ग्राह्य है और कौन अग्राह्य तर्क के निकष पर कौन निदुष्ट सिद्ध होता है और कौन सदोष इसका निर्णय करने से पहले हमें ख्यातिवाद के सन्दर्भ में ख्याति का अर्थ जानना होगा। भ्रमज्ञान के प्रसंग मे ही यह ख्याति शब्द इतना क्यों प्रचलित हो गया यह एक विचारणीय विषय है।वस्तुतः इसके पीछे एक रहस्य है, उसको जान लेने पर ही भ्रम ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा। ख्याति शब्द ख्या–संज्ञाने धातु में क्तिन प्रत्यय लगाकर सिद्ध होता है। अर्थात् किसी संज्ञान को हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न करने वाली रेखा ख्याति कहलाती है। वस्तुतः यह ख्याति आपात रूप से ज्ञान अर्थ को प्रकट करती है। किन्तु इसका

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविक रहस्य यह है कि ख्याति शब्द का अर्थ माया है। ''मियते या इति माया'' अर्थात जो जानी जाती है। किन्तु होती नहीं है उसे माया कहते है। इसी प्रकार ''या ख्यायते ज्ञायते च इति ख्यातिः'' अर्थात जो जानी जाती है और प्रपंच का विस्तार करती है उसे ख्याति कहते है। इन दोनों की व्युत्पत्तियों में मिथ्याज्ञान का स्वरूप छिपा हुआ है दार्शनिकों ने इस परिप्रेक्ष्य में प्रथमतः इसका प्रयोग किया था किन्तु बाद में यह ख्याति शब्द ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इससे यह ध्वनित होता है कि भ्रम ज्ञान भी एक वास्तविक ज्ञान है ज्ञान यथार्थ हो या अयथार्थ उसकी वास्तविकता कहीं व्याघात नहीं होती।

''इदं रजतम्'' में कुछ इदं को मिथ्या कहते हैं और कुछ रजत को किन्तु दोनों का अस्तित्व अवश्य ही रहता है। यह अलग बात है कि कुछ इदं को बाह्यस्थ कहते है और रजत को आभ्यान्तर। इसको विपरीत कुछ लोग इदं को अन्तः मानते हैं और रजत को बाह्यस्थित कहते हैं। अर्थात् इदं भी है और रजतम् भी है। चाहे यह वह किसी के मन में हो चाहे चिन्तन में हो चाहे वाह्य हो। जो लोग इदं को पुरोवर्ती कहते है। वे रजत को मिथ्या कहते है और जो लोग रजत को वास्तविक कहते है वे इदं प्रतिति को मिथ्या कहते है। किन्तु यह निश्चित है कि इदं की प्रतीति और रजत प्रतीति का अपलाप नही किया जा सकता चाहे वह घोर शुन्यवादी ही क्यो न हो। क्योकि जो शून्यवादी शून्य को सत् कहते है वे भी सत्ता का अपलाप तो कर ही नही रहे।

यदि हम निष्पक्ष होकर विचार करे तो सत् ख्याति असत् ख्याति आत्मख्याति अख्याति अन्यथाख्याति, अनिर्वचनीय ख्याति और सदसत ख्याति इन सभी भ्रमज्ञान विषक सिद्धान्तों में कुछ न कुछ सत्यता सभी में है। सभी के सिद्धान्तो से सार को ग्रहण करके कोई समन्वित स्वरूप निर्धारित करना चाहिए। जो लोग भ्रम को सत् कहते है वे भी ठीक ही कहते हैं क्योंकि लोक में इदं और रजतं विद्यमान है। भले ही एक पुरोवर्ती

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो ओर दूसरा परोक्षवर्ती हो। जो लोग इदं रजतं इस प्रतीति को असत कहते है वे भी मिथ्या कहाँ कहते है। रजत सामने तो है ही नहीं शंकर वेदान्तियों का अनिर्वचनीय ख्याति का सिद्धान्त भी सत्य के किसी अशं का ही उद्घाटन करता है। यदि दीपक के लाने पर सर्प भाग जाता है, तो सर्प सत कहाँ रहा। इसी प्रकार जिस प्रतीति ने सर्प को उत्पन्न करके हमारे रोगटे खडें कर दिये उसे असत कहना भी क्या ठीक होगा। इन सब सिद्धान्तो में विज्ञान भिक्षु का सदसत्ख्याति का सिद्धान्त ही समीचीन प्रतीति होता है। क्योकि इदं रजतस यह ज्ञान सत भी है क्योकि इससे संसार के सारे व्यवहार चलते है । रजत सत इसलिए है क्योकि वह संस्कार रूप में हमारे मस्तिष्क में बैठा है और कुछ समय के लिए वह धनवता की प्रतीति कराकर थोडी देर के लिए सुख भी प्रदान करता ही है। वह रजत असत इसलिए कहलाता है क्योकि हमारे मस्तिष्क मे रजत की जो प्रतिमा बनी हुई थी उसकी ज्यों की त्यो उपलब्धि वाहय देश में नही होती। इसलिए तत्वानवेषी पुरूष को "इदं रजतम्" इस ज्ञान को सत ख्याति असत ख्याति दोनो रूपों मे ही अगीकार करना चाहिए। तभी पूर्वोक्त निम्नालियित सिद्धान्तो में समन्वय भी स्थापित किया जा सकता है। तथा लौकिक और आध्यात्मिक दोनो ही स्तरो पर लक्ष्य प्राप्ति हो सकती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ अध्याय
अनुमान प्रमाण

अनुमान की व्याख्या–

भारतीय दर्शन शास्त्र में ज्ञान प्राप्ति का द्वितीय साधन है, अनुमान प्रमाण। चार्वाक् को छोडकर सभी भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में अनुमान प्रमाण को स्वीकृति प्राप्त है। चार्वाक् प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणो को नही मानते। प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणकी आवश्यकता होती है। चूकि चार्वाक् भौतिकवादी है।, अतः उसके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उन भूतों का ज्ञान सम्भव होने से अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं पड़ती स्थूल भूतों के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण ही पर्याप्त है। जिन वस्तुओ को ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव न हो चार्वाक् उनका अस्तित्व ही नही मानते। परन्तु स्थूल भूतों के अतिरिक्त कतिपय ऐसे सूक्ष्म तत्व है जिनका ज्ञान प्रत्यक्ष से नही हो सकता उसके लिए अनुमान के अतिरिक्त दूसरा उपाय नही है।

'अनुमान' शब्द 'अनु और मान' दो शब्दो से मिलकर बना है। 'अनु' का अर्थ है पश्चात और 'मान' का अर्थ है ज्ञान–करण। 'मान' शब्द'करण' अर्थ में 'मा' धातु से करण अर्थ में ल्युट प्रत्यय करके बनता है। इस प्रकार अनुमान शब्द का अर्थ होगा "अनु पश्चात् मानं ज्ञानम्" अर्थात जो ज्ञान किसी ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होता है उसे अनुमान कहते हैं। महर्षि गौतम ने प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण करने के पश्चात अनुमान का लक्षण किया है। भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार ज्ञात् लिगं के द्वारा तत् सम्बन्धी अज्ञात अर्थ का पश्चात् ज्ञान करना अनुमान है।

अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित होता है। उद्योतकर ने प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बीच निम्न भेद बताया है कि–प्रत्यक्ष मुख्यतः एक ही प्रकार का होता है,

---

1. मितेन लिंगेन लिंगिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्। न्या०द०वा०भा० 1/1/3

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर अनुमान त्रिविध प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष अनुभव काल में द्रष्टा के सामने विद्यमान पदार्थ का ही होता है किन्तु अनुमान भूत भविष्यत तथा वर्तमान कालिक वस्तु के सम्बन्ध मे होता है, अनुमान के लिए व्याप्ति ज्ञान आवश्यक है किन्तु प्रत्यक्ष के लिए नही। अनुमान प्रत्यक्षोपजीवी होता है किन्तुप्रत्यक्ष अनुमानोपजीवी नहीं। प्रत्यक्ष तथा अनुमान में उपजीव्योपजीवक भाव सम्बन्ध है क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है।

द्वैतवादी आचार्यों के अनुसार अनुमान की व्याख्या

प्रत्यक्ष लक्षण के अनन्तर महर्षि गौतम ने अनुमान का लक्षण किया है। उन्होंने अनुमान की परिभाष करते हुए कहा है "अब प्रत्यक्ष पूर्वक तीन प्रकार का अनुमान होता है।[1] यहां पर तत्पूर्वक का तात्पर्य प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्वक है। क्योंकि इससे पूर्व प्रत्यक्ष प्रमाण का ही लक्षण किया गया है। अतः "तत्" का अर्थ यहां "प्रत्यक्ष" से ही अभिप्रेत है।

तत्पूर्वक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि तत्पद से दो प्रत्यक्षों का, लिंग और लिंगी के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष और लिंग का प्रत्यक्ष, ग्रहण करना चाहिए।[2] लिंग और लिंगी के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष आद्य प्रत्यक्ष है। लिंग दर्शन द्वितीय प्रत्यक्ष है। लिंग और लिंगी अर्थात हेतु और साध्य को परस्पर सम्बन्धित रूप से जान लेने पर उससे अप्रत्यक्ष साध्य का स्मरण और स्मरण के पश्चात् पुनः हेतु का दर्शन होकर अप्रत्यक्ष साध्य का अनुमान किया जाता है।

न्यायवार्तिककार आचार्य उद्योत्कर ने "तत्" पद के तीन अर्थ लेकर "तानि से तत्पूर्व यस्य तदिदं तत्पूर्वकम्" ऐसी व्याख्या की है जिससे यह लक्षण समानजातीय प्रत्यक्ष और असमान जातीय वृक्षादि से अनुमान का व्यावर्तक हो

---

1. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च। न्या०द०1/1/5
2 तत्पूर्वकमित्यनेन लिंगलिंगीनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसंबध्यते। लिंगलिगिनो---- प्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते। भे०द०न्या०भा०1/1/5

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। ''तानि पूर्वं यस्य'' इस प्रकार विग्रह स्वीकार करने पर ''तानि'' इस बहुवचन से समस्त प्रमाणों का ग्रहण करने पर पूर्व प्रमाण पूर्वकत्व अनुमान का लक्षण बनाता है। जिससे अनुमान पूर्वक या शब्दपूर्वक होने वाले अनुमान में अव्याप्ति नहीं होती है। किन्तु किसी भी प्रमाण से उत्पन्न होने वाला अनुमान अन्ततोगत्वा परम्परा से प्रत्यक्ष पूर्वक होने से ''प्रत्यक्ष पूर्वक'' ''तत्पूर्वक'' की व्याख्या करना उचित है।

जब तत्पूर्वक का '' ते द्वे पूर्वं यस्य'' इस प्रकार का विग्रह स्वीकार किया जाय तो दो प्रकार के प्रत्यक्ष अनुमान के पूर्व में होते है। वे दो प्रत्यक्ष है एक तो साध्य और हेतु के पश्चात् हेतु और साध्य के सम्बन्ध दर्शन के संस्कार की अभिव्यक्ति के पश्चात् सम्बन्ध की स्मृति होती है और स्मृति के पश्चात पुनः हेतु का दर्शन होता है, यह जो अन्तिम प्रत्यक्ष है जो कि दो प्रत्यक्षों'' सम्बन्ध प्रत्यक्ष और प्रथम हेतु दर्शन'' के द्वारा उत्पन्न होता है इसे ही लिंग परामर्श कहते हैं। यही अनुमान है।[2] जयन्त भट्ट के अनुसार पंच लक्षण युक्त हेतु तथा व्याप्ति स्मरण से उत्पन्न परोक्ष साध्य के विषय में जो ज्ञान है वही अनुमान है।[3] आचार्य उदयन भी तृतीय लिंग परामर्श को ही अनुमान मानते है। न तो व्याप्ति स्मृति मात्र से अनुमिति होती है और न हेतु के दर्शन मात्र से। अपितु व्याप्ति विशिष्ट हेतु के ज्ञान से अर्थात तृतीय हेतु परामर्श से अनुमिति होती है।[4]

---

1. यदा तानिति विग्रहः तदा समस्तप्रमाणाभिसम्बन्धात् सर्व प्रमाण पूर्वकत्वमनुमानस्य वर्णितं भवति। न्या०वा० 1/1/5
2. यद्यपि विग्रह तेद्वे पूर्वे यस्येति, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिंद तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति। अन्ये द्वे प्रत्यक्षे लिंगलिंगी सम्बन्ध दर्शनमाद्यं प्रत्यक्षम्। लिंगदर्शनं च द्वितीयम्। न्या०वा० 1/1/5
3. पंचलक्षणताकालिंगादगृहीतान्नियमस्मृतेः।
   परोक्षेलिंगानि ज्ञानमनुमानं प्रचक्षते।। न्या०म०अ०।
4. न हि व्यक्तिस्मरणमात्रादनुमितिः नापि लिंगदर्शनमात्रात् किं तार्हि व्याप्तिविशिष्ट लिंगदर्शनात्। न्या०परि०सू० 1/1/5

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्कभाषाकार केशव मिश्र के अनुसार लिंग परामर्श ही अनुमान है जिससे अनुमिति की जाती है वह अनुमान कहलाता है।[1] लिंग परामर्श से अनुमिति की जाती है, अतः लिंगपरामर्श अनुमान है।

इसकी प्रक्रिया इस प्रकार समझी जा सकती है कि प्रथमतः जिस व्यक्ति ने महानसादि स्थल में वन्हि और धूम को एक साथ देखने से जहां जहां धूम है वहां–वहां वन्हि है। (यत्र–यत्र धूमस्तत्र तत्र वन्हि) इस प्रकार के साहचर्य रूप व्याप्ति का धूम में निश्चय किया बाद में वही व्यक्ति जब कभी पर्वतादिस्थल में अविच्छन्न मूल धूम रेखा को देखता है तो उसे महानस् में पूर्वानुभूत वन्हि और धूम के साहचर्य सम्बन्ध का स्मरण होता है। उसके पश्चात "वन्हिव्याप्य धूमवानयं पर्वतः" अर्थात् वन्हि का व्याप्य जो धूम उससे युक्त यह पर्वत है, यह ज्ञान होता है। उसी ज्ञान को परामर्श कहते हैं। इस परामर्श ज्ञान के पश्चात पर्वत में वन्हि के अस्तित्व का निश्चय होता है। इस परामर्श ज्ञान के पश्चात पर्वत में वन्हि के अस्तित्व का निश्चय होता है इसी का नाम अनुमिति है। इस प्रकार यहां पर अनुमिति कार्य के प्रति व्याप्ति स्मरण करण तथा परामर्श व्यापार होता है। इस कारण से जन्य होकर उससे जन्य कार्य के जनक को व्यापार तथा व्यापारवान् असाधारण कारण को करण कहते है। व्याप्ति ज्ञान परामर्श रूप व्यापार के द्वारा अनुमिति कार्य का जनक होने के कारण तथा परामर्श व्याप्ति जन्य होते हुय तज्जन्य अनुमिति का जनक होने से व्यापार कहलाता है। पर्वत जिसमें वन्हि रूप साध्य की सिद्धि की जाती है, पक्ष और महानस जिसमें कि साध्य का निश्चय अथवा साध्य और साधन का सहाचर्य का ज्ञान सपक्ष कहलाता है।

---

1. लिंगपरामर्शोऽनुमानम्। येन हि अनुमीयते तदनुमानम्। तर्क भाषा पृ० 78

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगेश के मत से नव्य–न्याय में अनुमिति लक्षण पूर्वक अनुमान का निरूपण किया है। अनुमान अनुमिति रूपी क्रिया का कारण होने से तथा करण क्रिया से भिन्न होने के कारण क्रिया लक्षण पूर्वक की करण का लक्षण होता हे। अतः एव गंगेश ने अनुमान का लक्षण करते हुए कहा है – ''व्याप्ति से युक्त पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है।1 उसका कारण अनुमान है। उसका स्वरूप है, हेतु का परामर्श, परामर्श का विषय होने वाला हेतु नहीं हैं। आचार्य गंगेश के लक्षण की व्याख्या ''व्यापित विशिष्टत्वं और पक्षधर्मत्व'' के समानाधिकरण्य (एकाश्रय में होना) विषयक ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान करने वालों का मत पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित कर दीधितिकार उसका निराकरण करते हैं।[2]

उपर्युक्त व्याख्या करने वालों का कथन हैं, कि कर्मधारय समास के पश्चात् आने वाला प्रत्यक्ष दो पदार्थतावच्छेकों के समानधिकरण को व्यक्त करता है। अतः व्याप्ति विज्ञान विशिष्ट पक्षधर्मता पद से उनका समानाधिकरण व्यक्त होता है। ''ज्ञान'' पद से बाधिक और अबाधित दोनों प्रकारों के ज्ञानों का संग्रह करने से भ्रान्त अनुमिति में अव्याप्ति नहीं होती है। उपर्युक्त व्याख्या करने वालों का मत समीचीन इसलिए नहीं है। कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि परामर्श से सदा व्याप्तिविशिष्ट का समानाधिकारण्य ग्रहीत होता है ओर समानाधिकरण्य का विषय बनाकर उस ज्ञान के कारण मानने में गौरवता भी है।

पुनःश्च सम्बन्ध का सम्बन्ध न मालूम होने पर भी समूहालम्बन ज्ञान से भिन्न ज्ञान हो सकता है। तात्पर्य यह है कि व्याप्ति वैशिष्टय ही सम्बन्ध है।

---

1. तत्र व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञानजन्य ज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानम्। तत्व०चि०अनु०प्र०
2. लिंगपरामर्शो न तु परामृश्यमाणा लिंगमिति वक्ष्यते। तत्व०चे०अ०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके सम्बन्ध सामानाधिकरण्य की विशिष्ट ज्ञान का विषय होने की आवश्यकता नहीं है। तीसरी बात यह है कि पर्वतो वन्हिमान भ्रमस्थल में व्याप्ति विशिष्टत्व और पक्षवृत्ति का सामानाधिकरण्य अप्रसिद्ध होने से सामानाधिरण्य विषयक ज्ञान का अभाव है। अतः कर्मधारय का समर्थन करने वाला यह मत उचित नहीं है।

"व्याप्तिविशिष्टत्व" और "पक्षधर्मत्व" के सामानाधिकरण्य को व्यक्त करने वाले ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान इस लक्षण वाक्य से प्रतिपाद्य भी नहीं हो सकता है। यहा प्रमाण का विवेचन होने से प्रमा ही लक्ष्य है। अतः अन्तिम ज्ञान पद प्रमा का वाचक है। अवान्तर वाक्यार्थ की अयोग्यता का निश्चय हो जाने पर महावाक्यार्थ बोध किसी प्रकार से उत्पन्न नहीं होता। "शशविषाण से बना हुआ धनुष" इस बोध की उपपत्ति ब्रह्मा भी नही दे सकता। उस प्रमात्वकानुमिति में अव्याप्ति होने से व्याप्ति विशिष्ट में पक्षधर्मता का ज्ञान का इस प्रकार सप्तमी तत्पुरूष समास भी ठीक नही है। कुछ लोग कहते है कि "व्याप्तितिशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान की प्राप्ति होती है और पर्वत धूमवान है इस प्रकार के ज्ञान से भी पर्वत अग्निमान् है, यह अनुमिति होनी थी–इसके लिए एक ही स्थान में उक्त दोनो के अस्तित्व का ज्ञान होना चाहिए। ऐसा कहने पर भी धूम बन्हि व्याप्य है।[2]

व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व दोनो की विषयता से नियत धर्म से युक्त कारणता से प्रदर्शित कार्यताशालिज्ञान यह भी अनुमिति का लक्षण नही हो सकता इससे पक्ष धर्मता पद व्यर्थ हो जायेगा।[3]

---

1. अवान्तरवाक्यार्थ योग्यत्वनिर्णये महावाक्यार्थज्ञानाग्नुदयात शब्दबुद्धे ब्रहमणापि दुरूपादयत्वात। तत्त०चि०दी०उ०मु०प्र० 36
2. व्याप्तिविशिष्टश्च पक्षधर्मश्चेति द्वद्वाश्रयणात् व्याप्तिविशिष्टत्वपक्ष–धर्मत्वावगाहिज्ञानजन्यत्वं लभ्यते अन्यत्र चद्वन्दस्य दर्शनात्। त०चि०दी०अ०प्र०
3. न च तदुभयविषयत्वनियतत्वनियतधमार्वच्छिन्नकरणत्वप्रतियो गिककार्यताशालित्वमर्थःपक्षधर्मतापदोपादानवैयर्थ्यात। त०चि०अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्षधर्मता को पक्षता का विशेषण बनाकर पक्षता के साथ रहने वाले लिंगपरामर्श से उत्पन्न ज्ञान को ही अनुमिति कहने वाले का मत दीधितिकार ने प्रदर्शितकिया है। इस प्रकार दीधितिकार ने व्याप्ति प्रकारक पक्षर्धमता ज्ञान को ही अनुमिति कहा है। तर्कभाषाकार ने लिंग परामर्श को ही अनुमान कहा है।

विश्वनाथ पंचानन ने व्याप्ति ज्ञान को कारण तथा हेतु परामर्श को व्यापार माना है।[2] दिनकरीकार ने मन को ही अनुमिति का कारण कहा है।[3] फलयोग व्यवच्छिन्नं कारणं करणम्'' यह कारण का लक्ष्य स्वीकार करने पर लिंगपरामर्श का ही कारण मानना उचित है। परामर्श ही अनुमिति का साधकतम है जिसके अव्यवहितक्षण में ही अनुमिति उत्पन्न होती है। इस प्रकार परामर्शज्ञान ही अनुमिति का कारण है।

अद्वैतवादी आचार्यों के अनुसार अनुमान की व्याख्या –

जिस ज्ञान से ''अनुमिति'' नामक यथार्थ ज्ञान होता है वह ज्ञान ''अनुमान'' नाम का द्वितीय प्रमाण है। जो अनुमिति प्रमा का कारण हो वह अनुमान है और अनुमान प्रमा व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्य है। व्याप्तिज्ञान के अनुव्यवसायादिकों को व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्यत्व नहीं है। इसलिए अनुव्यवसाय, स्मृति शब्दज्ञान आदि की अनुमितित्व नहीं है।[4] यह घट है इस घटज्ञान में ''घटत्व'' प्रकार है,

---

1. लिंगपरामर्शोऽनुमानम्। त०भा०अ०प्र० क
2. अनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं परामर्शो व्यापारः। न्या०मि०मु०अनु० खण्ड
3. व्याप्तिज्ञानस्य––––तस्मादनुमितिं प्रति मतस्त्वेनैव करणत्वमित्याहुः। दि०अनु०ख०
4. अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या। व्याप्तिज्ञानानुव्यवसायादेस्तत्वेन तज्जन्यत्वाभावान्नानुमितित्वम्। वे०परि०अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए इस ज्ञान को घटत्वप्रकारक घटज्ञान कहते है। इसी प्रकार यह व्याप्ति इस ज्ञान में व्याप्तित्व" प्रकार है। इसलिए इस व्याप्तिज्ञान की व्याप्तित्वप्रकारकज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार "धूम वन्हिव्याप्य है "इत्याकारक व्याप्तिप्रकारक ज्ञान में "व्याप्ति प्रकार है। ऐसे व्याप्तिज्ञानत्वरूपेण जो व्याप्तिज्ञान जन्य ज्ञान हो उसे अनुमितिज्ञान कहते हैं। धूम वन्हिव्याप्य है। "जहां" धूम होता है। वहां अग्नि रहती है। यह व्याप्ति का सामान्य उदाहरण है। ऐसे व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञान से जो ज्ञान होता है वह अनुमितिज्ञान है।

अनुमिति का करण व्याप्तिज्ञान है और उसे व्याप्ति ज्ञान का संस्कार अवान्तर व्यापार है। तृतीय लिंग परामर्श अनुमिति का कारण नहीं है। क्योंकि उसमें अनुमिति का हेतुत्व (कारणत्व) ही असिद्ध है।[1]

नैयायिक तृतीय लिंग परामर्श को ही अनुमिति के प्रति "करण" होते है। महानस् में जब धूम और अग्नि का व्याप्तिज्ञान होता है तब धूम का जो ज्ञान होता है, वह प्रथम लिंगज्ञान है। उसके बाद वह व्यक्ति वन में जाता है, वहां उसे पर्वत पर धूम दीखता है – यह द्वितीय लिंगज्ञान है और उसके बाद "यह पर्वत वन्हिव्याप्त धूमवान् है" ज्ञान होता है, उसमें भी धूम विषय है, इसलिए यह तृतीयलिंगज्ञान है। और यही परामर्श कहलाता है। इसके अनन्तर अन्तिमक्षण में ही "पर्वत वन्हिमान है" अनुमिति होती है। इसलिए यह तृतीय लिंग परामर्श ही अनुमिति का कारण है। यह मानना होगा।

परन्तु अद्वैतवादी आचार्य धर्मराजध्वरीन्द्र इस मत का खण्डन करते हैं क्योंकि पक्षधर्मता ज्ञान से महानस में गृहीत व्याप्तिज्ञान का संस्कार उद्बुद्ध होता, है, तदनन्तर व्याप्ति का स्मरण होते ही वहि्न की अनुमिति होती है। परन्तु लिंगज्ञान या पक्षधर्मता ज्ञान होकर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नहीं होती। इस अन्वय

---

1. अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानं तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः न तु तृतीय लिंगपरामर्शोऽनुमितौ करणं तस्यानुमिति हेतुत्वाऽसिद्धया तत्करणत्वस्य दूरनिरस्त्वात्। वे०परि०अनु०प्र०पृ०15।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यतिरेक से अनुमिति में व्याप्तिज्ञान ही कारण है। परामर्श अनुमिति में कारण नहीं है यह सिद्व होता है।

जिस प्रकार लिंग परामर्श अनुमिति के प्रति कारण नहीं है, उसी प्रकार ज्ञायमान लिंग की अनुमिति के प्रति कारण नहीं हो सकता अर्थात मूलस्थ "तृतीय लिंगपरामर्श" शब्द ज्ञायमान लिंग का उपलक्षक है। ज्ञान में विषय होने वाला लिंग ही अनुमिति के प्रतिकरण है, ऐसा मानने पर" पर्व तो वन्हिमान् भविष्यद् धूभात" आदि स्थलों में सबको जो अनुमिति होती है वह नहीं होगी। क्योंकि उस समय वह लिंग नहीं है। इसलिए वहां पर उसके कारणतत्व का व्याभिचार होता है। अतः उसमें करणत्व तो है ही नहीं। अतः प्राचीन नैयायिकों का यह मत ठीक नहीं है। इसलिए व्याप्तिज्ञान ही करण है। अनुमिति को व्याप्तिज्ञान संस्कार जन्य मान लिया जाये तो उस अनुमिति को स्मृति कहना होगा ज्ञानं स्मृति" संस्कार से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं वह स्मृति का लक्षण अनुमिति पर घटित होता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि स्मृतिप्रागभावजन्यत्व या केवल संस्कार जन्यत्व स्मृतित्व का प्रयोजक माना गया है। इस कारण संस्कार ध्वंस और स्मृति दोनोंकी साधारण "संस्कारजन्यत्व" रूप प्रयोजक स्मृति का नहीं माना जा सकता है।[1] व्यक्ति का स्मरण होने पर जहां अनुमिति होती है, वहां संस्कार जन्यत्व कहां? इससे यह प्रतीत होता है कि संस्कार जन्यत्व व्यभिचरित है, क्योंकि व्याप्ति का स्मरण होने पर संस्कार का नाश हो जाता है। परन्तु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि जहां व्याप्ति स्मृति से अनुमिति होती वहां भी व्याप्ति के संस्कार को ही अनुमिति हेतुत्व होता है। स्मृति के

---

1. न च संस्कारजन्यत्वेनानुमितेः स्मृतित्वापत्तिः स्मृतिप्रागभावस्य संस्कारमात्रजन्यत्वस्य वा स्मृतित्व, प्रयोजकतया संस्कारध्वंस–साधारण–संस्कारजन्यत्वस्य तदप्रयोजकत्वात्। वे०परि०अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियम संस्कार नाशकत्व भी नहीं होता। अर्थात् स्मृति के प्रति कारणभूत अनुभव जन्य संस्कार का स्मृति उत्पन्न होने पर नाश होने का कोई नियम नहीं है। क्योंकि धारावाहिक स्मृति का सभी को अनुभव है।1 यह भी शंका ठीक नहीं है। कि स्मृति में संस्कारनाशकत्व यदि न माने तो अनुद्बुद्ध संस्कार से भी अनुमिति होने का प्रसंग आवेगा। "क्योंकि स्मृति के प्रति संस्कारोद्बोध में भी सहकारि–कारणतया होने से स्मृति होने से पूर्व संस्कारोद्बोध होना ही चाहिए। इस प्रकार यह धूमवान् है, "ऐसा पक्षधर्मताज्ञान होने पर "वन्हिमान्" इत्याकारक अनुमिति होती है। परन्तु पक्षधर्मता ज्ञान और अनुमिति ज्ञान इन दोनों में व्याप्ति का स्मरण या तज्जन्य वन्हिव्याप्य धूमवान् इत्यादि विशेषण विशिष्ट ज्ञान इसमें से किसी की भी अनुमिति के प्रति हेतु रूप से कल्पना करना योग्य नहीं है। क्योंकि कल्पना करने में गौरव दोष है तथा कोई प्रमाण भी नहीं।[2] और वह व्याप्तिज्ञान वन्हिविषयक ज्ञान अंश में ही करण है, पर्वतविषयक ज्ञान अंश में नहीं। इसलिए "पर्वतवन्हिमान्" है इस ज्ञान की वन्हि अंश में हीं अनुमितित्व है, पर्वत आदि अंश में नहीं।[3]

---

1. न च यत्र व्याप्तिस्मणादनुमितिस्तत्र कथं संस्कारो हेतुरिति वाच्यम्। व्याप्ति स्मृतिस्थलेऽपितत्संस्कारस्यैवअनुमितिहेतुत्वात्। न हि स्मृतेः संस्कारनाशकत्व नियमः। स्मृतिधारादर्शनात्। वे०परि०अनु०प्र०
2. एवं च अयं धूमवानिति पक्ष धर्मताज्ञानेन, धूमो वन्हिव्याप्य इत्युनभुवाहित संस्कारोद्बोधं च सति, वन्हिमानित्यनुमितिर्भवति न तु मध्ये व्याप्तिस्मरणं तज्जन्यवह्निव्याप्य धूमवानित्यादिविशेषणविशष्टं ज्ञानं वा हेतुत्वेन कल्पनीयं गौरवात् मानाभावाच्च। वे०परि०अनु०प्र०
3. तच्च व्याप्तिज्ञानं वन्हिविषयकज्ञानांश एवं करणम्, न तु पर्वतविषयकज्ञानांश इति। पर्वतो वन्हिमानिति ज्ञानस्य बन्ह्यंश एवाऽनुमितित्वं न पर्वताद्यंशे, तदंशे प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात्। वे०परि०अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामानुज मत में अनुमान

यतीन्द्र मत दीपिका में श्री निवासाचार्य ने अनुमान का निरूपण इस प्रकार से किया है व्याप्य के व्याप्यत्वानुंसाधन हेतु के द्वारा व्यापक विशेष की प्रमा को अनुमिति कहते है। उस अनुमिति का साधकतम् अनुमान प्रमाण है। जैसे व्याप्यधूम की अग्नि के व्याप्यत्वानुसंधान के द्वारा व्यापक विशेष की प्रमिति रूप अग्निविशेष की प्रमिति को अनुमिति कहते है।[1] वेंकटनाथ ने न्यायपरिशुद्धि में लिखा है कि व्याप्य के व्याप्यत्वानुसंधान से व्यापकविशेषप्रमिति को अनुमान कहते है और वह करणदोष रूप बाधकप्रत्य के उपलब्ध न होने से प्रमाण है।[2] व्याप्य हेतु को कहते है व्यापक साध्य को कहते हैं। हेतु में साध्यनिरुपित व्याप्यत्व रहता है। हेतु के इस साध्यनिरूपित व्याप्यत्व ज्ञान के द्वारा पक्ष में रहने वाले व्यापक विशेष की जो प्रमिति होती है, उसी प्रमिति को अनुमिति कहते हैं। उस अनुमिति के करण को अनुमान प्रमाण कहते है। जैसे वन्हि के व्याप्यभूत धूम में व्याप्यत्व का अनुसंधान करके पर्वतादि पक्षों में अग्नि विशेष रूपी व्यापक विशेष की प्रमिति ही अनुमिति है।

अनुमान प्रमाण के लिए व्याप्ति का महत्व –

पक्ष में लिंग दर्शन के होते ही सपक्ष में पूर्वानुभूत लिंग लिंगी के साहचर्य सम्बन्ध रूप व्याप्ति ज्ञान का कारण होता है जो कि परामर्श रूप व्यापार के द्वारा अनुमिति रूप कार्य को उत्पन्न करता है।

व्याप्ति के लिए विभिन्न सम्प्रदायों के दर्शनों में विभिन्न नाम उपलब्ध होते हैं। व्याप्ति, अविनाभाव, साहचर्यनियम, अनोपाधिक सम्बंध आदि। आचार्य गंगेश ने व्याप्ति शब्द का ही प्रयोग किया है और उसे

---

1. व्याप्यस्य व्याप्यत्वानुसंन्धानात् व्यापक विशेषप्रमितिरनुमितिः तत्करणमनुमनाम्। व्याप्यस्य–धूमस्य, अग्निव्याप्यत्वानुसंधानात् व्यापकविशेषप्रतिर्वन्हिप्रमितिः। य०ग०दीअनु०प्र०
2. व्याप्यस्य––––– करणदोषबाधकप्रत्यरहितत्वात्। न्या०प०अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अव्यभिचरितत्व" कहा है। अनेक दृष्टिकोणों से नव्य नैयायिको ने व्याप्ति पर विचार किया है। आचार्य गंगेश की तत्वचिन्तामणि में ही व्याप्ति के अनेक प्रकार के लक्षण उपलब्ध होते हैं। पूर्वपक्ष व्याप्ति, सिद्धान्त व्याप्ति सिहंव्याध्रव्याप्ति पारिभाषिक व्याप्ति आदि इनका आधार आचार्य गंगेशके समकालीन अथवा पूर्वर्ती आचार्य है।

अनुमान के प्रामाण्य के निरूपण के बाद ही आचार्य गगेश ने प्रश्न उठाया है कि– "अनुमिति हेतु व्याप्तिज्ञान का व्याप्ति[1] "जिसका तात्पर्य है कि अनुमान का प्रामाण्य जिस अनुमिति पर आधारित है उस अनुमिति के कारण व्याप्तिज्ञान की विषय व्याप्ति क्या है।[1] अथवा "अनुमिति" में जो इतर पदार्थों के भेद की अनुमिति की जाती है उसके लिए जो हेतु है 'व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मता ज्ञानजन्यत्व" उसके अन्तर्गत आने वाले ज्ञान में विशेषण के रूप में भासित होने वाली व्याप्ति क्या है1

नैयायिक मत में प्रामाण्य की सिद्धि और अनुमिति की भिन्न प्रमा के रूप में सिद्धि दोनो ही अनुमान पर आधारित है और अनुमान का मूलाधार व्याप्ति है। इसलिए व्याप्ति के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा स्वाभाविक है। व्याप्ति स्वरूप के निरूपण की आवश्यकता स्फूट करते हुए दीधितिकार लिखते है जो अनूमान के प्रामाण्य की परीक्षा है, उसका कारण है व्याप्ति ग्रहोपाय का प्रतिपादन। जिसका निदान है व्याप्ति स्वरूप निरूपण, यही कारण है कि अनुमान प्रामाण्य विचार के पश्चात आचार्य गंगेश को व्याप्ति

---

1. तथाचानुमाननिष्ठप्रामाण्यानुमिति हेतु व्याप्तिज्ञानविषयीभूता व्याप्ति वेत्यर्थः। मा०व्या०प० रहस्यपृ०4
2. समारब्धानुमानप्रामाण्यपरीक्षा कारणीभूत व्याप्ति ग्रहोपाय प्रतिपादन निदानं व्याप्ति स्वरूप निरुपणमारभते। त०चि०दी०व्या०पृ०101

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के स्वरूप का विचार करना पड़ा।

आचार्य गंगेश ने पूर्वपक्ष व्याप्ति के पांच स्वरूप उपस्थित किये है। ''यत्र यत्र हेतु तत्र, तत्र साध्यम्'' इस प्रकार के व्याप्ति के स्वरूप को कहा है। किन्तु ''यत्र यत्र'' और ''तत्र–तत्र'' से यह सिद्ध होता है कि सर्वत्र धूम के आश्रय में अग्नि रहता है, किन्तु चार्वाक् का यही आक्षेप है कि किस आधार पर कह सकते है? क्या आपने सर्वत्र देखा है? जब नहीं तो आप किस आधार पर यह प्रतिज्ञा कर सकते है? सर्वत्र जहां धूम होता है अग्नि होती है ''अतः यावद् धूम में व्याप्ति की स्पष्ट करने के लिए उसका परिष्कार करना आवश्यक है और उसके लिए यह भी आवश्यक था कि व्याप्ति स्वरूप निषेधात्मक है बिना उसके व्याप्ति का स्वरूप ही नहीं होता तथा उसमें सार्वभौमिकता नहीं आ सकती। इसलिए निषेध मुख से आचार्य ने उसे अव्याभिचरितत्व अर्थात् व्यभिचाराभाव कहा। व्यभिचाराभाव कहने से सर्वत्र हेतु और साध्य के अस्तित्व को प्रत्यक्षः देखने की आवश्यकता नहीं थी। व्यभिचारग्रह एकत्र भी हो सकता है। व्यभिचाराग्रह से व्यभिचाराभाव का ज्ञान हो जाता है जब कोई धूमाभाव के आश्रय लोह पिण्ड मे अग्नि के अस्तित्व को देखता है तो उसके उनके बीच में व्यभिचार स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार उसे ''साध्याभाववद् वृत्तित्व'' रूप व्याभिचार का ज्ञान होता है। इसी प्रकार व्यभिचार के अन्य भी कई रूप हो सकते हैं।

वैशेयिक दर्शन में व्याप्ति का सर्व प्रथम संकेत महर्षि कणाद के वैशेयिक सूत्र मे उपलब्ध होता है। जो हेतु साध्य से सर्वथा अभिन्न अथवा भिन्न सम्बन्ध वाला होता है। वह अपदेश नहीं हो सकता है। अर्थात नही हो सकता।[1] ''व्याप्तियुक्त'' जो हेतु प्रसिद्धि पूर्वक होता है वही सही हेतु अगृहीत व्याप्ति वालाहोने से अनुमिति का जनक

---

1. अन्यदव हेतु इत्यनपदेशः प्रसिद्धोऽनपदेशः । वै०सू०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नही है। इसलिए व्याप्ति ग्रहण के प्रकार को व्यक्त करते हुए प्रशस्तपाद कहते है कि विधि है जहां धूम है वहां अग्नि है अग्नि के न रहने पर धूप नहीं रहता है, इस प्रकार प्रसिद्ध व्याप्ति "समय वाले असन्दिग्ध धूम के दर्शन और साहचार्य स्मरण के पश्चात् अग्नि का अध्यवसाय होता है। इस प्रकार विधि को व्यक्त करते हुए आचार्य प्रशस्त ने समय और साहचर्य पद के द्वारा व्याप्ति का उल्लेख किया है।

प्रतिबन्ध "व्याप्ति" लक्षण करते हुए किरणावली में आचार्य उदयन लिखते है, अनौपाधिक सम्बन्ध व्याप्ति है। उसका निश्चय अव्यभिचार के निश्चय के बिना या उसके कारणी भूत उपाध्यभाव के निश्चय के बिना नहीं हो सकता है। काणादरहस्यकार ने अव्यभिचारि सम्बन्ध की व्याप्ति मानकर केवलान्वयी स्थल के लिए मात्र सम्बन्ध की व्याक्ति माना है। केवलान्वयी में साध्याभावयुक्त व्यभिचार का प्रदर्शन सम्भव नहीं है।[2] व्योमशिवाचार्य ने प्रशस्तपाद भाष्य में प्रदर्शित "विधि" शब्द का अर्थ व्याप्ति अविनाभाव किया है[3]

व्याप्ति का ग्रहण व्योमशिवाचार्य के अनुसार सामान्य से युक्तों का होता है। अग्नि विशेष और धूम विशेष अनन्त होने से विशेष में व्याप्ति का ग्रहण संभव नहीं है। विशेषों में रहने वाले अग्नित्व और धूमत्व रूप सामान्य के उपग्राहक होने से उनके आधार पर भूयोदर्शन के बल से अग्नि और धूम में व्याप्ति का ग्रहण होता है।

मध्वार्चाय के अनुसार अनुमान –

अनुमान की व्याख्या मध्व सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्री जयतीर्थ ने इस प्रकार की है "निर्दोष कारण अनुमान है। उपपत्ति

---

1. विधिस्तु यत्र धूमः तत्राग्निः अग्न्याभावे धूमो न भवति। एवं प्रसिद्ध समयस्य असन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात तदन्तरं अग्न्यध्यवसायो भवति। प्र०भा०अनु०प्र०
2. ननु तत्रापि व्याप्तिरव्यभिचारितसम्बन्ध ———— केवलान्वयिनि सम्बन्धमात्रस्येव व्याप्तित्वात् ———क०र०अु०प्र०
3. व्योमवती——— अनु०प्र०पृ०5,70

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याप्त युक्ति और लिंग ये अनुमान के पर्यायवाची शब्द है। यह साहचर्य नियम पूर्वक है। व्याप्ति का कर्म व्याप्त है और उसका कर्त व्यापक है। जैसे धूम का अग्नि के साथ व्याप्ति जहां धूम है वहां अग्नि है, यह अव्यभिचार नियम है। यहां पर धूम व्याप्त है और अग्नि व्यापक है।

धर्मों अर्थात गुणों की चार प्रकार की गति है कुछ धर्म समवृत्तिक है जैसे जो वेदो में निषिद्ध है उनका करना पाप है ओर जो पाप है वे वेदो में निषिद्ध है। अर्थात जहाँ दोनों का अन्योन्य व्याप्यव्यापक भाव है। कुछ न्यूनाधिक वृत्ति वाले है जैसे–जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ–वहाँ अग्नि है, यहाँ पर न्यून वृत्ति धूमत्वव्याप्य है और अधिकवृत्ति अग्नित्व व्यापक है। कुछ परस्परपरिहार से रहते है आर्थत कभी भी एक साथ नही रह सकते हैं। जहाँ गोत्व है वहाँ अश्वत्व नहीं और जहाँ अश्वत्व है वहाँ गौत्व नही उनका अन्योन्यव्याप्यव्यापक भाव भी नही है। क्योकि सम्बन्ध का ही अभाव है।[2]

कही पर समाविष्ट होते हुए भी परस्परपरिहार से रहते है। जैसे पाचकत्व पुरूष में पाया जाता है और उस पाचकत्व का पुरूष में समावेश होने पर भी कही–कही स्त्रियो में भी पाया जाता है और कभी–क़भी पुरूष में नही भी पाया जाता। अतः कोई व्याप्ति नही बन सकती है। ये भी अन्योन्यव्याप्यव्यापक भाव वाले नहीं हैं। सम्बन्ध रहने पर भी परस्पर व्यभिचरित है। जहाँ व्याप्य धर्म व्यापकप्रमिति का साधन होता है। वह अनुमान कहलाता है। ओर व्यापक अनुपमेय कहलाता है।[3]

1– निर्दोषोपपत्तिरनुमानम्। उपपतिर्व्याप्यं युक्तिलिगंमिति पर्यायः। अविनाभावो व्यप्तिः। साहचर्य नियम इति यावत्। व्याप्तेः कर्मव्याप्यम्। त्स्याः कर्तृ व्यापकं यथा धूमस्याग्निना व्याप्तिरव्यभिचरितः सम्बन्धः। यत्र धूमः तत्र आग्निरिति नियमात्। तत्र धूमोव्याप्यः। अग्निर्व्यापकः। प्र०अनु०प्र०

2– प्रमाणपद्धति– अनु० प्र०

3– केचित्————————व्यापकश्चानुमेय इति। प्र० अनु० प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्वत पर वर्तमान धूम घर पर रहने वाले पुरूष को अग्निप्रमा को उत्पन्न क्यों नही करता ? इस के पक्ष में कहा है कि अनुमान प्रत्यक्ष के समान अज्ञात करण नही है वह तो सम्यक् ज्ञात है। तो फिर नारिकेलद्वीपवासी का देशान्तर में जाने पर धूम की प्रमिति होने पर भी अग्नि का ज्ञान क्यों नही होता ? कहा जाता है। कि नारिकेलद्वीप में रहने वाले ने धूम और अग्नि की व्याप्ति को नही समझा होगा और व्याप्ति ज्ञात है। तो उसका स्मरण नही होगा।[1]

व्याप्तिज्ञान किस प्रमाण से उत्पन्न होता है? इसके उत्तर में जयतीर्थ कहते है कि यथायथ प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इन प्रमाणों से व्याप्ति का ज्ञान होता है। धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति प्रत्यक्ष गम्य है जैसे महानसादि में धूम और अग्नि के साहचर्य की देखने वाले पुरूष को ही विमर्श होता है कि क्या रसोई घर में ही धूम और अग्नि का सम्बन्ध है? या सभी जगह सभी समय में है ? क्या ये एक दूसरे के परिहार से रह सकते है ? उसके पश्चात् अनेक बार धूम को देखकर अग्नि की भी देखता है और अग्नि के अभाव में धूम का भी अभाव देखता है और कही पर धूम के न रहने पर अग्नि का होना भी पाया जाता है। तो पुनः यह विचार होता है कि बहुत स्थलों में धूप मेरे परिचित स्थलों से अग्नि के साथ सम्बन्ध होने पर भी कही उसको छोड़ कर भी रहता है या सभी जगह इनका सहचर है। तो फिर यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि अग्नि और धूम के सम्बन्ध मे आर्देन्धन संयोग भी उपाधि है और वह धूम व्यापक है स्वयं व्यावर्तन करते हुए उसको व्यावर्तित कर दिया है, अग्नि को नहीं।

---

1. प्रमाणपद्धति अनु० प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह निश्चय कर महा नसादि में उपाधि को गवेषणा में प्रवर्तित होता है।[1] और क्रमशः अविनाभाव का ज्ञान हो जाता है।

अनुमान तीन प्रकार का है। कार्यानुमान, कारणानुमान और अकार्यकारणानुमान। उसमें प्रथम धूम और अग्नि का, द्वितीय विशिष्ट मेद्योन्नत देखकर वृष्टि का होना और तृतीय, यथा रज्जु और रूप का। अनुमान पुनः दो प्रकार का होता है – दृष्ट ओर समान्यतो दृष्ट। वहां पर प्रत्यक्षयोग्यार्थानुमापक दृष्ट है जैसे धूम और अग्नि का और दूसरा प्रत्यक्षायोग्यानुमापक सामान्यतो दृष्ट है जैसे रूप आदि ज्ञान चक्षुआदि का। अथवा यथा भूत व्याप्ति का ग्रह तथाभूत लिंगलिंगी भाव का दर्शन जैसे धूम और अग्नि का और व्याप्यव्यापक का अन्यादृश्यत्व पर भी तत्सामान्याकारानुगम द्वारा लिंगलिंगी का भाव सामान्यतो दृष्ट है।[2]

---

1. ननु व्याप्तिज्ञानं केन प्रमाणेन जायते। यथायथं प्रत्यक्षानुमानागमैरिति ब्रुमः। तत्र तावत् धूमस्याग्निना व्याप्ति प्रत्यक्षगम्या। तथाहि महानसादी धूमाग्न्योः साहचर्यं पश्यतः पुरुषस्यैव विमर्शो जायते। किमत्रैवेती धूमाग्नी सहचरितावन्यत्र देशान्तरे कालान्तरे च, एतज्जातीयो परस्परपरिहारेण वर्तते, उतान्यतर एवान्यतरपरिहारेण किं वा सकलदेश कालौः सहचरितावेवेति। ततः भयोभूयः धूमं पश्यन् अग्नि पश्यति। अग्याभावे च धूमाभावम्। यथा धूमाभावेऽपिक्वचिदग्निसद्भावम्। ततः पुनरेषविचारो भवति बहुषु स्थलेषु धूमेन सहचरितोऽप्यग्निं क्वचित्तं परित्यज्य वर्तते। तथा धूमो मत्परिचत्स्थलेष्वग्निना सहवर्तमानोऽपि क्वचित् परित्यज्य वर्तते.........1 न चेत् निर्णितस्य सम्बन्धस्य धूमस्वभावत्वेन न क्वापि तदभावो भविष्यतीत्येवं निश्चितं महानसादावुपा–धिगवेषें प्रवर्तते।..... प्रमाण पद्ध ति–अनु०प्र०
2. त्रिविधमनुमानं कार्यानुमानम् कारणानुमानम् अकार्यं कारणानुमानं चेति।. ....। व्याप्यव्यापकयोरन्यादृत्वेऽपि तत्सामान्याकारानुगमेन लिंगलिंगीभावे सामान्यतो द्वष्टम्। प्र०अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमान पुनः दो प्रकार का होता है। साधनानुमान और दुषणनुमान। दुषणानुमान भी दो प्रकार का होता है। दुष्टिप्रमिति साधन और तर्क।

अद्वैत वेदान्त में व्याप्ति–

अद्वैत वेदान्त में अशेष साधनों का जो आश्रय तदाश्रित जो साध्य उसमें हेतु का जो सामानाधिकरण्य यही व्याप्ति है और उस प्याप्ति का ग्रहण व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार के दर्शन से होता है। उस सहचार दर्शन में भूयोदर्शन या सकृददर्शन रूप विशेष का कोई आदर नहीं है। क्योंकि उस व्याप्ति में प्रयोजक सहचार दर्शन ही है।

"वन्हिमान् धूमात" इस अनुमिति में धूम साधन है। साधनता धूमनिष्ठ है, साधनता का अवच्छेदक धूमत्व है। उस धूमत्व से अवच्छिन्न धूमत्व है। उस धूमत्व से अवच्छिन्न पर्वतादि भिन्न–भिन्न स्थान के साधन रूप धूम व्यक्तियां है। उनकी आश्रय पर्वत पदार्थ है उन्हीं का आश्रय की हुई साध्यतावच्छेदक रूप वन्हित्व से अवच्छिन्न वन्हित्व रूप साध्य व्यक्तियों के साथ धूम व्यक्तियों का सामानाधिकरण्य होना ही व्याप्ति का स्वरूप है। अर्थात् पर्वतादि पक्ष पर, धूम और अग्नि का होना यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वहि्नः इस आकार का जो सामानाधिकरण्य ही व्यप्ति का स्वरूप है। इस प्रकार व्याप्ति का लक्षण करने में किसी एक बाह्मयादि साधन व्यक्ति के आश्रय महानसादि में रहने वाले किसी एक धूमादि साध्य का समान

---

1. अनुमानं पुनर्द्विविधम्। साधनानुमानं दुषणानुमानं चेति। तत्रत्राधं यथा धूमप्रमित्याप्रतिमिसाधनम्। दुषणानुमानपमि द्वेधा। दुष्टिप्रमिति साधन तर्कश्चेति तत्र आद्यं यथा नेदं स्वसाध्यसाधनसमर्थम्। प्रमाणबाधितत्वादित्यादिकस्याश्चिधर्मस्यांगीकारेऽर्थान्तरस्यापादनं तर्कः।
—————— प्र०प०अनु०प्र०
2. व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा। सा च व्यभिचारदर्शने सति सहचारदर्शनेन गृह्यते। तच्च सहचार दर्शनं भूयो दर्शनं सकृदर्शनं वेतिविशेषो नादरणीयः सहचारदर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्।
वे०परि०पृ० 161

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धिकरण्य, ग्रहण कर "पर्वतो धूमवान् वन्हेः" यह यदि किसी ने अनुमान किया तो वन्हि रूप असद् हेतु में व्याप्ति लक्षण की अतिव्याप्ति होगी – ऐसी आशंका करने पर उसका निवारण इस प्रकार होगा महानस में अग्नि है, इसलिए महानस उसका आश्रय है। महानस में उसके आश्रय से धूम भी रहता है। इसलिए महानस की अग्नि को साधन बनाकर उन दोनों का समानाधिकरण्य है। अर्थात् ये दोनों एक ही अधिकरण महानस में रहते है। इसी आधार पर जहां अग्नि वहां धूम ऐसी व्याप्ति मानकर "पर्वत धूमवान् है क्योंकि उस पर अग्नि है" यह अनुमान यदि कोई करे तो उसमें अग्नि रूप हेतु सत् न होकर असत् है क्योंकि वन्हि व्याप्य धूम की तरह धूम व्याप्य वन्हि नहीं है। अयोगोलक में अग्नि होता है किन्तु धूम नहीं होता। इसलिए वन्हि सत् हेतु नहीं है। यहां पर साधनातावच्छेदक से अवच्छिन्न समस्त वन्हियों के आश्रय महानस, पर्वत तप्तायोगोलक आदि इनमें से अयोगोलक रूप आश्रय पर साध्यतावच्छेदक धूमत्व से अविच्छिन हुआ एक भी धूम नहीं है। इस कारण वन्हि और धूम का पूर्वोक्त समानाधिकरण्य नहीं दिखाया जा सकता। इसलिए व्याप्ति का लक्षण वन्हि रूप असत् हेतु पर अतिव्याप्त नहीं है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसी व्याप्ति का ग्रहण किस प्रमाण से होता है? तर्क से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि व्याप्त के आरोप से व्यापक का आरोप करना रूप जो तर्क है, वह व्याप्ति के अधीन है। सहचार दर्शन में भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि दो पदार्थो का साहचर्य एक बार या बार–या बार–बार दीखने पर भी उसका क्वचित व्यभिचार भी दिखायी देता है। इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है व्यभिचार के अदर्शन के साथ साहचर्य दर्शन से उस व्याप्ति का

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहण किया जता है। जैसे धूम अग्नि का व्यभिचार दिखाई न देते हुए उनका सहचार दीखने से ही धूम वन्हि व्याप्य है वह ज्ञान होता है। जहां धूम हो वहां अग्नि अवश्य ही होती है। धूम है और अग्नि न हो यह कभी नहीं होता। इस रीति से धूम और अग्नि के व्यभिचार का अनुभव न आकर सहचार के अनुभव होने से ही धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है। दो पदार्थों का नियमेन एकत्र दिखना ही सहचार दर्शन है। चाहे यह अनेक बार देखने से हुआ हो या एक बार देखने से हुआ हो। केवल व्यभिचार शून्य सहचार दर्शन की आवश्यकता है। अर्थात् जिनका सहचार ज्ञात हुआ हो, उनकी व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता। इस अन्वय व्यतिरेक के द्वारा सहचार दर्शन ही व्याप्तिज्ञान में हेतु है, यह लाघव से सिद्व होता है। इसलिए सहचार दर्शन में ही व्याप्ति प्रयोजकत्व है। भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन उसमें प्रयोजक नहीं है। उस रीति से अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान होना कारण है और अनुमान के लिए व्याप्ति आवश्यक है। यही व्याक्ति का स्वरूप है।

विशिष्टांद्वैत के अनुसार व्याप्ति–

व्याप्त साध्य की अपेक्षा अधिक देश तथा अधिक काल में नहीं रहता है। व्यापक की अपेक्षा न्यूनदेश अथवा न्यूनकाल में नहीं रहता है। व्याप्य व्यापक का अविनाभूत है अर्थात् व्यापक के बिना व्याप्य नहीं रहता है। व्यापक व्याप्य का प्रति सम्बन्धी होता है। व्याप्य से व्यापक का उपाधि रहित सम्बन्ध व्याप्ति कहलाती है। उस व्याप्ति का ग्रहण, जहां–जहां धूम होता है, वहां वहां अग्निो होती है इस प्रकार बार–बार देखने से होता है। व्याप्ति दो प्रकार की होती है– अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। साधन का सद्भाव बतला कर साध्य का सद्भावप्रतिपादनपुरस्सर गृहीत हो जाने वाली व्याप्ति अन्वयव्याप्ति है। जैसे जो धूमवाला होता है। वह अग्निवाला होता है। साध्य का निषेध करके साधक का निषेध पूर्वक गृहीत की जाने वाली व्याप्ति व्यतिरेक व्याप्ति कहलाती है। जैसे जो–जो अग्नि

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहित होता है। वह निर्धूम होता है। यह दोनों प्रकार की व्याप्ति उपाधि के रहने पर दूषित हो जाती है।[1]

जो साध्य में व्यापक रहते हुए साधन में व्यापक न हो, उसे उपाधि कहते है। जैसे वन्हिरूपी साधन के द्वारा धूम रूपी साध्य की सिद्वि में आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है। जैसे मैत्रेयी के जो पुत्र होता है। वह श्याम वर्ण का होता है। यहां पर शाकपाकजन्यत्व उपाधि है। वह उपाधि दो प्रकार की होती है निश्चित एवं शंकित। निश्चित उपाधि का उदाहरण है – विवादास्पद सेवा दुःखद होती है, क्योंकि वह सेवा राजा की सेवा के समान है। यहां पर पापारब्धत्व उपाधि है। किन्तु दुःख प्रदत्त ईश्वर की सेवा में नहीं है, यह निश्चय हो जाने से निश्चितोपधि है। शंकितोपाधि का उदाहरण है – विवादास्पद जीव इस शरीर की समाप्ति पर मुक्ति प्राप्त कर लेगा, क्योंकि उसकी समाधि शुक आदि के समान निष्पन्न हो गई है। यहां पर कर्मो का अत्यन्त विनाश ही उपाधि है। वह कर्मो का आत्यान्तिक विनाश इस निष्पन्न समाधि वाले जीव का हो चुका है कि नहीं? यह सन्दिग्ध है, अतएव यह शंकितोपाधि का उदाहण है। अतएव सिद्ध हुआ कि उपाधिरहित सम्बन्ध वाला ही व्याप्त होता है।

---

1. अनधिदेशकालनियमं व्याप्यम्। अन्यूनदेशकालवृत्ति व्यापकम्। तदिदमविनाभूतं व्याप्यम् तत्प्रतिसम्बन्धि व्यापकमिति। तेन निरुपाधिकतया नियतसबन्धी व्याप्तिरित्युक्तं भवति। सेयं यत्र धूमस्तत्रवन्हिरिति व्याप्तिर्भूयो दर्शनेन गृह्यते। व्याप्तिर्द्विधा अन्वयव्यतिरेकभेदात्। साधनविधौ साध्यविधिरूपेण प्रवृत्ता व्याप्तिरन्वयव्याप्तिः। यथा यो यो धूमवान् स सोऽग्निमानिति। साध्यनिषेधे साधननिषेधरूपेण प्रवृत्ता वयाप्तिर्व्यतिरेक व्याप्तिः। यथा योऽनग्निः स निर्धूम इति सेममुभयविधा व्याप्तिरूपाधिसम्भवे दुष्टा। यतीन्द्रमतदीपिका अनु०प्र०
2. साध्यव्यापकत्वे सति साधनव्यापकत्वमुपाधिः। यथा वह्निना धूमेसाध्यमाने आद्रेन्धनसंयोग उपाधि। मैत्री तनयत्वेन श्यामत्वे साध्यमाने शाकपाकजन्यत्व–मुपाधिः। स चोपाधिर्द्विविधिः निश्चितः शंकितश्चेति।......। अतो निरूपाधिक–सम्बन्धवद्व्याप्यमिति सिद्वम्। यतीन्द्रमतदीपिका अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों के अनुसार लिंग लिंगी सहाचर्यो का ज्ञान, सपक्ष विपक्ष परामर्श ज्ञान, पक्ष–पक्षतादि पर विचार।

न्याय दर्शन के विचारको के अनुसार अनुमान लिंग लिंगी जहां दोनों की विद्यमानता रहती है। वहां नहीं होता। वह रसोई पर जहां कि हमने लिंग और लिंगी के साहचर्य नियम को सीखा है वह अनुमान का विषय नहीं अपितु प्रत्यक्ष का विषय है। सर्व प्रथम यह बात ध्यान में रखनी है कि अनुमान वहीं होता है जहां केवल लिंग का प्रत्यक्ष होता है। लिंगी का नहीं। यदि दूरस्थ पर्वत पर धुआं उठता हुआ हम देखते है तो वह हमारे अनुमान का विषय बनता है। वहां हमें धूम प्रत्यक्ष दिखाई देता है। परन्तु अग्नि नहीं। हम धुआं को देखकर आग का अनुमान करते हैं। पर कैसे? उसकी प्रक्रिया को न्याय दर्शन में एवं नव्यन्याय में बहुत अच्छे ढंग से समझाया है जिससे परीक्षार्थी, लिंग्यते गम्यते अनेन इति लिंगम् जिससे परोक्ष अर्थ जाना जाये उसका नाम लिंग है और लिंगमस्यास्तीति लिंगी। जो लिंग से सिद्ध हो उसका नाम लिंगी है। लिंग हेतु यह दोनों और लिंगी तथा साध्य यह दोनों पर्याय शब्द है।1 भाष्यकार ने कहा है कि जहां हेतु होता है। वहीं साध्य रहता है। इस व्याप्ति के ज्ञान पूर्वक लिंग लिंगी के स्वरूप को प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव करके किसी अन्य काल में वैसे ही लिंग से लिंगी का अनुमान का नाम पूर्ववत् है।[2]

न्याय में मत के अनुमान तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध के कारण नहीं किया जाता है। महानसादि में लिंग लिंगी के व्याप्ति ज्ञान रूप प्रथम प्रत्यक्ष के अनुसार पर्वतादि पक्ष में धूमादि लिंग का द्वितीय प्रत्यक्ष होने पर अनुमित्सा वाले पुरुष के संस्कारों के

---

1. परीक्षार्थी लिंग्यते गम्यते अनेनेति लिंगम्। "लिंगमस्यास्तीति लिंगी। न्या०द०1/1/3
2. सम्बन्धग्रहणकाले लिंग लिंगीनो प्रत्यक्षतः स्वरूपमवधार्यपुनस्तादृशैवलिंगेन तादृगेवालिंगीतत्पूर्वेण तुल्यंवर्तत इति पूर्ववदनुमानम्। यथा महानसे धूमाग्नी सहचरितौदृष्ट्वापुनः वर्तते धूमग्युनुभानम्।..... न्या०द०भा०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्‌बोध द्वारा जहां धूआं है वहां वन्हि है। इस व्याप्ति ज्ञान का स्मरण होता है। और उक्त व्याप्ति स्मृति अनन्तर जो "अयंधूमः" यह धूम है इस प्रकार तृतीय लिंग दर्शन अर्थात् धूम हेतु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वही अनुमिति का कारण होने से अनुमान कहाता है। जिसका फल पूर्व तो विद्यमान पर्वत वन्हिवाला है इस प्रकार की अनुमिति प्रमा है। अनुमान की इच्छा को "अनुमित्सा" तथा लिंग ज्ञान को लिंगदर्शन" वा लिंगपरामर्श" कहते है। इसी अभिप्राय से" वाचस्पति मिश्र" का कथन है जो व्याप्ति स्मृति पूर्वक अपने साध्य के एक अधिकरण में रहने वाले लिंग का इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। उसी का नाम परामर्श है।[2]

लिंग और लिंगी को एक साथ देखना साहचर्य दर्शन है। लिंग और लिंगी में परस्पर व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध होता है। लिंग व्याप्य और लिंगी व्यापक होता है। इन दोनों के उक्त सम्बन्ध का ज्ञान व्याप्ति ज्ञान कहलाता है।

सपक्ष

जिसमेंलिंग लिंगी का साहचर्य ज्ञान होता है। अथवा जो निश्चित साध्यवान् है उसे दार्शनिक भाषा में सपक्ष कहते हैं।[3]

पक्ष

सन्दिग्ध साध्यवान् को पक्ष कहते हैं।[4] वह स्थल जिसमें कि साध्य का संशय हो, पक्ष कहा जाता है। नव्य न्याय में इस पर बड़ा विस्तृत विचार किया है। न्याय सिद्धान्त मुक्तावली में इसकी व्याख्या करते हुए विश्वनाथ ने कहा है कि सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्धि के अभाव को पक्षता कहा जाता है। इसका

---

1. लिंगलिंगीसम्बन्धदर्शनमाघं प्रत्यक्षं लिंगदर्शनंद्वितीयं बुभूत्सावातो द्वितीयालिंगदर्शनात्संकाराभि व्यकृत्युत्तरकालं स्मृति स्मृत्यनन्तरंचपुनर्लिंगदर्शनं धूम इति तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाणं परामर्शरूपमनुमानं भवति यत्पुनरस्य फलमग्निविषयाप्रतिपत्तिः।..... न्या०वा०
2. सम्बन्धस्मृतिसहकारिणेन्द्रियेणस्वसाध्याविनाभूतलिंगविज्ञानं यदुपजन्यते तत्पशमर्श इत्याख्यायते।.......... न्या०वा०ता०
3. निश्चिसाध्यवान् सपक्षः। तर्क संग्रह
4. सदिग्धसाध्यवान् पक्षः। तर्क संग्रह

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय यह है कि पक्ष में साध्य निश्चय के रहते उसकी अनुमिति नहीं होती, किन्तु सिषाधयिषा के रहने पर साध्य निश्चय रहते भी अनुमिति हो जाती है। अतः साध्य निश्चय अनुमिति का प्रतिबन्धक और उसका अभाव करण एवं सिषाधयिषा उसकी उत्तेजिका होती है। अतः इस तथ्य को ध्यान में रखकर यदि पक्ष की परिभाषा करनी हो तो सम्मिलित रूप में यही कहा जा सकता है। कि सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्धि का अभाव पक्षता है।

द्वैतवाद व अद्वैतवाद के अनुसार अनुमान के विभिन्न भेद –

द्वैतवाद में अनुमान के भेद –

महर्षि गौतम ने अनुमान के तीन भेद स्वीकार किये हैं– पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट। महर्षि वात्स्यायन के अनुसार पूर्ववत् वह अनुमान है जहां कारण के द्वारा कार्य का अनुमान किया जाता है। जैसे मेघों की उन्नति के दर्शन से भविष्य–कालीन वृष्टि का अनुमान होता है।[2] शेषवत् वह अनुमान है जहां कार्य से कारण का अनुमान होता है जैसे पूर्व जन्य से भिन्न प्रकार जल अर्थात् मटमैला तथा नदी की पूर्णता और प्रवाह की तीव्र गति से भूतकालीन वृष्टि का अनुमान होता है।3 इसी प्रकार सामान्यतो दृष्ट अनुमान है जैसे सूर्य की गति का अनुमान, क्योंकि एक स्थान पर देखी गई वस्तु का अन्यत्र दर्शन गति के आधार पर होता है। सूर्य का प्रभात काल में देखे गये स्थान से भिन्न स्थान में दर्शन होता है।

---

1. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोद्दष्टं च।............
   न्या०सू० 1/1/5
2. पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भवष्यिति वृष्टिरिति।
   न्या०वा०भा० 1/1/5
3. शेषवत् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते पूर्वोदकविपरीतमूदकं नद्याः पूर्णत्वं च शीघ्रत्वं च दृष्टवा स्रोतसोऽनुमीयते भूतावृष्टिरिति।...... न्या०वा०भा०1/1/5

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः सूर्य भी गतिमान है यह निष्कर्ष निकलता है।[1]

दूसरे प्रकार से भी भाष्यकार ने उक्त अनुमानो की व्याख्या की है। जहाँ यथापूर्व प्रत्यक्षीभूत दो वस्तुओ में से किसी एक के दर्शन से अप्रत्यक्ष दूसरी वस्तु का अनुमान पूर्ववत अनुमान है। जैसे धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान, धुम और अग्निसहचरिता के रूप में महानस में अनेक बार देखे गये है इसलिए उनमे से एक "धूम" के दर्शन से अग्नि का अनुमान होता है।[2] 'शेष" का अर्थ भाष्यकार ने परिशेष किया है। सम्भावितो का प्रतिवेध किये जाने पर अन्य सम्भावित पदार्थ के न रहने पर जो बच जाये उसे शेष कहते है। परिषेषानुमान को ही भाष्यकार ने शेषवत् अनूमान कहा है। जैसे सद वस्तू नित्य होती है इसलिए वह सामान्यविशेष समवाय के अन्तर्गत नहीं हो सकती शब्द सत् है इसलिए वह द्रव्य गुण कर्म में से किसी के अन्तर्गत हो सकता है। इस सन्देह की उपस्थिति होने पर वह द्रव्य नही है क्योकि वह एक ही द्रव्य मे रहता है। वह कर्म नही है क्योकि शब्द शब्दान्तर को उत्पन्न करता है जबकि कर्म किसी दूसरे कर्म को उत्पन्न नहीं करता है क्रिया से विभाग उत्पन्न होता है। इस प्रकार शब्द में गुणत्व की सिद्धि शेष रहती है। इसलिए शब्द में गुणत्व को सिद्धि अनुमान है[3] सामान्यतोदृष्ट वह अनुमान है जहाँ हेतु और साध्य का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रहता है, किसी अन्य वस्तु के साथ हेतु के साध्य के आधार पर अप्रत्यक्ष साध्य का ज्ञान होता है। जैसे इच्छा के आधार पर

---

1. सामान्यतोदृष्टं व्रज्यापूर्वकमन्यत्र द्रष्टस्यान्यत्र दर्शनामिति तथा चादित्यस्य। तस्माद् अस्त्यप्रत्यक्षमप्यादित्यस्य व्रज्येति।———न्या०वा०भा० 1/1/5
2. अथवा पूर्ववदिति, यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्या– प्रत्यक्षस्यानुमानम् यथा धूमेनाग्निरिति।——— वा०भा० 1/1/5
3. शेषवन्नाम परिशेषः स च प्रसक्तप्रतिशेधेऽन्यात्राप्रसंगाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः यथा सदनित्यमेवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्य विशेषसमवायेम्योः विभक्तस्य शब्दस्य–तस्मिन द्रव्यगुणसंशये, न द्रव्यं एकद्रव्यत्वात, नकर्मशब्दान्तरहेतुत्वात यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शदस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः।—वा०भा० 1/1/5

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रत्यक्ष आत्मा का अनुमान होता है। क्योकि इच्छा ज्ञान आदि गुण है और गुण द्रव्याश्रित होता है इसजिए इच्छा आदि जिस पर आश्रित है, वह आत्मा है यहाँ पर इच्छा का द्रव्याश्रित मात्र ही सामान्यतोदृष्टनुमान से सिद्ध होता है।[1]

वार्तिककार आचार्य उद्योतकर ने त्रिविध पद की व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होने अनुमान के तीन प्रकार व्यतिरेकी, अन्वयर्व्यातिरेकी अन्वयी बतलाये है।[2] इनका यह वर्गीकरण सूत्रनिर्दिष्ट प्रकारो से भी भिन्न हैं।

अन्ययव्यतिरेक की व्याख्या करते हुए वार्तिककार कहते हैं जो हेतु विवक्षित तथा तज्जातीय अर्थात पक्ष और सपथ मे रहता है और विपक्ष में नही रहता वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी है जैसे शब्द अनित्य है क्योकि सामान्य और विशेषवान होते हुए हमारे बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष का विपक्ष है। जैसे घट। इस अनुमान में हेतु पक्ष शब्द तथा सपक्ष घट में अविद्यमान है।[3] अन्वमी अनुमान वह है जिसमें हेतु विवक्षित जातीय अर्थात सपक्ष में रहते हुए विपक्ष से रहित होता है–जैसे सर्वानित्यत्वादियों के लिए शब्द अनित्य है क्योकि कृतक है। यथा घट। इसके लिए विपक्ष नही है क्योकि सभी वस्तुए अनित्य है।[4] व्यतिरेक वह अनुमान है जिसमें विवक्षित में हेतु विद्यमान हो तथा सपक्ष न होते हुए विपक्ष में वृत्ति न हो। जैसे यह शरीर निरात्मक नही है क्योकि प्राणादि से युक्त है। इस अनुमान में सपक्ष नही है तथा हेतु विपक्ष अचेतन वस्तुओ में भी नही है।5 अपने स्वतन्त्र वर्गीकरण के अतिरिक्त सूत्रकारोक्त अनुमानो की भी भाष्य से भिन्न व्याख्या वार्तिकार ने प्रस्तुत की है।

---

1. सामान्यतो दृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिंगलिगीनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिंगस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिंगी गम्यते यथेच्छादिभिरात्मा इच्छादयो गुणाः गुणाश्च द्रव्यसंस्थाना, तद्यदेषां स्थानं स आत्मेति।............वा०भा० 1/1/5
2. त्रिविधमिति अन्वयी व्यतितरेकी अन्यवव्यतिरेकी चेति–न्या०वा० 1/1/5
3. विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः यथा अनित्यः शब्द सामान्यविशेषत्वे सति अस्मदादिबाह्यकरण प्रत्यक्षत्वाद घटवदिति।..........न्या०वा०भा० 1/1/5
4. अन्वयी–विवक्षिततज्जातीयवृतित्वे ....कृतकत्वादिति।न्या०वा०वा० 1/1/5
5. व्यतिरेकी.............. प्राणानिमितत्वप्रसंगात।............न्या०वा०वा० 1/1/5

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्तिककार का विचार है कि अनुमानों के अनन्तभेद हैं।जैसे अन्वयव्यतिरेकी अनुमान के दो भेद है–सपक्ष में वृत्ति और सपक्ष में वृत्ति अवृत्ति।उसी प्रकार अन्वयी भी दो प्रकार का है और व्यतितरेकी एक ही प्रकार का है। क्योंकि इसमें सपक्ष नही होता। इस प्रकार पाचँ प्रकार का अनुमान है। उसका फिर काल के आधार पर वर्गीकरण करे तो तीन कालों के आधार पर इनके पन्द्रह भेद होते हैं फिर पुरूष भेद के आधार पर 60साठ भेद हैं। पुरूष चार प्रकार के होते है।–प्रतिपन्न,अप्रतिपन्न, सन्दिग्ध और विपर्यस्त प्रत्येक के पन्द्रह के हिसाब से साठ प्रकार के अनुमान होते है।फिर उसके अवान्तर अनेक भेद है। इस प्रकार से अनन्त संख्या वाले अनुमानो का उक्त तीन में संग्रह किया है। इसलिए त्रिविध नियमार्थ है।

प्रशस्तपाद ने अनुमान के दो भेद स्वीकार किये हैं–दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट। पक्ष और सपक्ष में जातितः अभेद होने पर जो अनुमान किया जाता है। वह दृष्टानुमान कहलाता है। जैसे नगर में गाय की सास्ना को देखकर गाय का अनुमान होता है कि यह प्राणी गाय है क्योकि सास्ना है, पूर्व देखी हुई गाय के समान है[1] व्योमशिवाचार्य ने दृष्टान्त की व्याख्या इस प्रकार से की है कि अत्यन्त जात्याभेद का अर्थ है साध्यधर्म दृष्टान्त मे ही जिस प्रकार प्रत्यक्ष योग्य है उसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में प्रतयक्षार्ह है।[2] यही साध्यधर्म भेद है जाति अर्थात सामान्य का अभेद यहाँ

---

1. प्रसिद्धसाध्ययोः अत्यन्तजात्याभेदे अनुमानं यथा गव्येन सास्नामात्रमुपलभ्य देशान्तरेऽपि सास्नाभावदर्शनात गविप्रतिपत्तिः।
प्रशस्तपाद भाष्य अनु०वि०प्र०
2. प्रसिद्धश्च साध्यश्चेति प्रसिद्धयोः प्रसिद्धसाध्ययोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो–र्जात्याभेदे यदुनमानं तददृष्टम्।...................व्योभवषी।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवधित नही है। अतः इसका उदाहरण यह है चित्रादि किसी कर्ता के द्वारा सम्पादित है क्योकि चित्रादि याग के जैसे पूर्व में उपलब्ध चित्र आदि कार्य। इसका रहस्य यही है। कि साध्य धर्म अनुमान में पूर्व और पश्चात भी प्रत्यक्षादि है। अतः जाति की भिन्नता होने पर भी दृष्टानुमान सम्भव है।

सामान्यतो दृष्टानुमान के स्वरूप को व्यक्त करते हुए प्रशस्तपाद कहते कि जिस हेतु के साथ में ज्ञात साध्य और उसकी हेतु द्वारा वर्तमान में ज्ञात साध्ययता दोनों भिन्न जाति के हो। हेतु सामान्य से साघ्य सामान्य की व्याप्ति से जो अनुमान होता है उसे सामान्यतो दष्ट अनुमान कहा जाता है। जैसे कृषक, वणिाक और राज पुरूषो की सफल प्रवृत्तियों को देखकर वर्णाश्रमियों के उन धार्मिक प्रवृत्तियों के भी फल का अनुमान होता है–जिनका फल प्रत्यक्ष से उपलब्ध नही होता है।

आचार्य गंगेश ने अनुमान के तीन भेद वर्णित किये है। केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। गंगेश का यह वर्गीकरण नया नही है। इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वप्रथम आचार्य उद्योतकर ने, इसके पश्चात उदयन ने भी किया है। आचार्य गंगेश ने न्याय भाष्यकार के पूर्ववत आदि भेदो की मान्यता नही दी है। आचार्य उद्योतकर ने क्रमशः अन्वयी,व्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी के रूप में प्रतिपादित किया है। आचार्य उदयन ने उन्हे क्रमशः केवलान्वयी,केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी कहा है। इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार मुख्यतः सहचार या व्याप्ति है। व्याप्ति के दो भेद या सहचार के दो भेद अन्वय सहचार और व्यतिरेक सहचार होने से जिसमे अन्वय सहचार या अन्वय व्याप्ति मात्र है वह केवलान्वयी तथा जिसमें व्यतिरेक सहचार या व्यतिरेक व्याप्ति मात्र आधार है वह केवल व्यतिरेकी और जिसमें दोनो का आधार प्राप्त है वह अन्वयव्यातिरेकी है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक और अन्य दृष्टि से अनुमान के दो भेद स्वीकार किये है–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।अनुमान जो स्वीय अनुमिति का जनक होता है स्वार्थनुमान कहलाता है। परार्थनुमान परकीय अनुमिति का जनक होता है। परकीय अनुमिति न्याय प्रयोज्य होती है। पंचावयव वाक्यों के समुदाय को न्याय कहते है। वादी के द्वारा प्रयुक्त न्याय जन्य शब्द बोध से मध्यस्थ की अनुमिति का अन्तिमकरण लिगं परामर्श रूप अनुमान उत्पन्न होता है। जो लोग ज्ञायमान हेतु को अनुमान मानते है उनके मत में हेतु का विशेषण परामर्श न्याय के आधीन होने से उससे युक्त हेतु भी न्यायाधीन होता है।

आचार्य जयन्त का विचार है कि वस्तुतः परार्थानुमान नामक कोई वस्तु नहीं है किन्तु दो प्रकार के अनुमान कर्ता है–एक जो स्वयं व्याप्त्यादि का निश्चय रखता है और दूसरा वह जिसे स्वतः व्याप्त्यदि का निश्चय नहीं हुआ है। जो स्वयं व्याप्यादि का ज्ञान रखता है उसके लिए परार्थानुमान का उपदेश नही होता है। जिसे स्वतः व्याप्त्यादि का निश्चय नही है उसे व्याापि्त का निश्चय कराया जाता है। उसके लिए परार्थानुमान और उसके प्रतिपादक वाक्य की व्याख्या की जाती है। वक्ता का अभिप्राय यह नही होता कि मेरे वचनो से उसे बोध हो, वह अनुमान से उसे अनुमेय का बोध कराना चाहता है। श्रोता व्याप्ति विशिष्ट हेतु के द्वारा स्वयं अनुमेय का ज्ञानं नही कर सकता है, इसलिए उसे बोध कराने का साधन होने से परार्थानुमान है।अतः श्रोता का भी अनुमान स्वार्थानुमान ही है।वक्ता दूसरे के प्रति उसका प्रतिपादन करता है। इसलिए उसे परार्थानुमान कहा है।

अद्वैत के अनुसार अनुमान के भेद

अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त में नैयायिकों की तरह अनुमान का त्रिविधित्व स्वीकार नहीं किया है। वेदान्त मत में यह अनुमान अन्वयी रूप एक ही है। केवालन्वयी नहीं। क्योंकि अद्वैत वेदान्त मत में समस्त धर्म ब्रह्मनिष्ठ

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी होने से जिस अनुमान का साध्य अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी हो ऐसे केवलान्वयी की असिद्धि है। केवल व्यतिरेकी अनुमान भी नही हो सकता क्योंकि साध्य के अभाव में साधनाभाव निरुपित व्याप्तिज्ञान का साधन के द्वारा साध्य की अनुमिति कर्तव्य होने पर कोई उपयोग नहीं है।[2]

तो फिर ऐसी शंका होती है धर्मादि हेतु के होने पर अन्वयव्याप्ति का ज्ञान न रखने वाले व्यक्ति को भी व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञान से ही अग्नि की अनुमिति कैसे हो जाती है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि यह अनुमिति अर्थापत्ति प्रमाण से होती है।[3] अनुमान की अन्वयव्यतिरेकी रूपता भी नहीं है। क्योंकि व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान में अनुमिति की अन्वयव्यतिरेकी रूपता भी नहीं है। क्योंकि व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान में अनुमिति के प्रति हेतुत्व नहीं है।[4] जबकि व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञान में अनुमिति जनकत्व नहीं है, तब नैयायिकों द्वारा मानी हुई अन्वय व्यतिरेक उभय रूपता अनुमान से सम्भव नहीं होती। क्योंकि अन्वयरूप और व्यतिरेक रूप दोनों में से एक अन्वयव्याप्तिज्ञान से ही यदि अनुमिति हो सकती है, तो व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञान को अनुमिति के प्रति हेतु मानना व्यर्थ है। व्यातिरेकव्याप्तिज्ञान की अनुमिति के प्रति हेतुत्व नहीं है, यह व्यतिरेकी

---

1. तच्चानुमानमन्वयिरुपमेकमेव न तु केवलान्वयि। सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठा त्यन्ताभाव प्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वरूप केवलान्वयित्वस्याऽसिद्धः। वे०परि०अनु०प्र०।
2. नाप्यानुमानस्य व्यतिरेरूपत्वम् साध्याभावे साधनाभावनिरुपित व्याप्तिज्ञानस्य साधनेन साध्यानुमितावनुपयोगात्।....... तदैव......
3. अर्थापत्तिप्रमाणादिति वक्ष्यामः।..... तदैव......
4. अतः एवानुमानस्य नान्वयव्यतिरेकिरुपत्वं व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानु–मित्यहेतुत्वात्। तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निराकरण करते समय कथन किया जा चुका है। इस प्रकार अन्वयि एक ही अनुमान है।

वह अनुमान स्वार्थ और पदार्थ भेद से दो प्रकार का है। स्वार्थानुमान का कथन किया जा चुका है। परार्थानुमान न्यायसाध्य है। न्याय का अर्थ है अवयवों का समूह। अनुमान के अवयव तीन ही प्रसिद्ध है। प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन। तार्किक लोग पांच अवयव मानते हैं, परन्तु अद्वैतमत में अनुमान के पांच अवयव नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त किन्हीं तीन अवयवों से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता का ठीक–ठीक ज्ञान होने के कारण अधिक दो अवयवों की कल्पना करना व्यर्थ है।[1]

अपने विवाद का विषय बने हुए अर्थ के साधक अनुमान को स्वार्थनुमान कहते हैं। अर्थात् अपने मन में किसी विशिष्ट स्थान पर विशिष्ट पदार्थ है या नहीं ऐसा संशय उत्पन्न होने पर जिस वाह्य प्रत्यक्षलिंग के ज्ञान से वह निवृत्त हो, वह स्वार्थानुमान है। दूसरे व्यक्ति के विवाद का विषय बने हुए पदार्थ के साधक अनुमान को परार्थानुमान कहते हैं।

इस अनुमान से ब्रह्म भिन्न समस्त प्रपंच की मिथ्यात्व सिद्धि हो जाती है। तथापि ब्रह्म भिन्न सर्व मिथ्या है क्योंकि वह सब ब्रह्मभिन्न है। जो ब्रह्म भिन्न रहता है, वह मिथ्या होता है जैसे शुक्तिरूप्य। इस अनुमान में तीसरे दृष्टान्त रूप अवयव की सिद्धि नहीं होती। ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। क्योंकि शुक्ति रूप्य का मिथ्यात्व हमने प्रत्यक्ष प्रमाण से दिया है। इसी प्रकार ब्रह्मभिन्न हेतु अप्रयोजक है, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि शुक्तिरूप्य रज्जू सर्प आदि के मिथ्यात्व में लाद्यव से

---

1. तच्चानुमानं स्वार्थं परार्थभेदेने द्विविधम्। तत्रत स्वार्थ.......व्यर्थत्वात। तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रहमभिन्नत्व हेतु में ही प्रयोकत्व है।[1] शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थो में जो प्रत्यक्षसिद्ध मिथ्यात्व है, उसका क्या लक्ष्य है? इसका समाधान है कि मिथ्यात्व से यह विवक्षित है कि स्वाश्रय से अभिमत जितनी वस्तु हो, तन्निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व। इस मिथ्यात्व के लक्षण में "अभिमत" पद वस्तुतः स्वाश्रय की अप्रसिद्धि होने से उस पर आने वाले असम्भव दोष की निवृत्ति करने के लिए है और "व्याप्त" पद अर्थान्तर का निकरण करने के लिए है। उस विषय में चित्सुखी में इस मिथ्यात्व के लक्षण में "अभिमत पद वस्तुतः स्वाश्रय की अप्रसिद्धि होने से उस पर आने वाले असम्भव दोष की निवृत्ति करने के लिए है और "यावत्' पद अर्थान्तर का निराकरण करने के लिए है। इस विषय में चित्सुखी में इस प्रकार कहा है। स्वाश्रय से सम्मत पदार्थ मे स्थित अत्यन्ताभाव का सब पदार्थों में प्रतियोगित्व रहता है,यही सब पदार्थो का मिथ्यात्व है।[2]

घटादि किसी कार्य की समवाय में स्थिति कपालादि अपने कारण प्रदेश के अतिरिक्त प्रदेश में नही हुआ करती। अर्थात कपाल तन्तु आदि का कारण जिस स्थान में होते हैं उसमे भिन्न स्थान में घट, पट आदि कार्य हुआ करते हैं ऐसा कोई नही मानता,और वे कार्य रूपालादि कारणो में भी नही रहते,यह प्रमाण सिद्ध है। परन्तु उसके विपरीत प्रत्यक्ष दिखाई देते है। इसलिए सब कार्य मिथ्या है। इस विषय में 'यदसदभासमानं तन्मिथ्यावंस्वप्नगजादिवत्" जो वास्तव में न होकर भी भासता है वह मिथ्या है। जैसे स्वप्नगजादि ब्रह्मभिन्न समस्त पदार्थो का मिथ्यात्व बताने वाले अनुमान प्रमाण का प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होता है क्योकि

---

1. एवंमनुमाने निरूपिते.....................लाघर्वन प्रयोजकत्वात। ....तदैव
2. मिथ्यात्वं च स्वाश्रयत्वेनाऽभिमत.........................वारणाय।
   तदुक्तम्–सर्वोषामेवऽभावानां स्वाश्रयत्वेन सम्मते।
   प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता।।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सृष्टि में सभी पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतीत होते है। इसलिए पूर्वोक्त अनुमान से उनका मिथ्यात्व सिद्ध नही हो सकता,परन्तु यह आक्षेप उचित नही है। क्योकि चन्द्रबिम्ब एक प्रदेश मात्र में प्रत्यक्ष दीखता है। परन्तु शब्द प्रमाण से उस प्रत्यक्ष प्रत्यय का बाध हो जाता है। इससे जो प्रत्यक्ष दिखायी दे वह सत्य ही है यह नियम नहीं। "नेह नानास्ति किचन" इस ब्रह्म मे नानात्व का लेशतक नही है। इत्यादि अर्थ के आगम, ब्रह्म आगम, ब्रह्मभिन्न वस्तु का निषेध करते है। इस कारण समस्त द्वैत मिथ्या है, यह सिद्ध होता है।

स्वाश्रयत्व से अभिमत जितना परार्थ हो उसमें स्थित जो "स्व" का अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। भावरूप से स्वीकार किये हुए घटादि पदार्थों के आश्रय रूप से अभिमत कपालादि उपादान कारणभूत पदार्थ में विद्यमान वास्तविक रूप से घट का जो अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व ही मिथ्या है।

रामानुज सिद्धान्त के अनुसार अनुमान के भेद–

विशिष्टाद्वैत दर्शन में यह स्वीकार किया जाता है कि व्याप्ति एवं पक्षधर्मता से विशिष्ट हेतु के द्वारा ज्ञाता को जो ज्ञान होता है वह अपने लिए ही होता है अतःएव सभी अनुमानो को स्वार्थ ही मानना चाहिए। श्री निवास ने यतीन्द्रमतदिपका में लिखा है। कि अनुमान को स्वार्थ और परार्थ दो भागो में विभक्त करके कुछ लोगो ने उसके दो भाग किए–स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान।

किन्तु सिद्धान्त में सभी अनुमानो को स्वार्थ ही माना है। सिद्धान्तियों का कहना है कि सभी अनुमान अपने ही प्रति संधानार्थ प्रवृत्त होते है। अतएव सभी स्वार्थानुमान ही होते है, परार्थ नही।[1]

---

1. तदेतदनुमानं स्वार्थं परार्थं चेति द्विधा विभज्य केचिदाहुः। सर्वेषामेवानुमानानां स्वप्रतिसंधानादिबलेन प्रवृत्ततया स्वव्यवहारमात्र हेतुत्वमिति स्वार्थनुमानमेवेत्यपरे।अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य वेंकटनाथ ने भी अपने ग्रन्थ न्यायपरिशुद्धि में ऐसा ही लिखा है कि कुछ अनुमान को स्वार्थ और परार्थ भेद से दो प्रकार का विभााजन करते है। जबकि स्वप्रतिसन्धानादि बल से या स्वव्यवहारमान हेतु से अनुमान स्वार्थ ही है।[1] इस प्रकार निष्कर्ष निकला कि विशिष्टाद्वैत में एक ही प्रकार का अनुमान गृहीत है और वह है स्वार्थनुमान। परर्थानुमान का ग्रहण भी स्वार्थानुमान में ही हों जाता है।

दोनों दर्शनों व भाष्यों में अवगत अवयव वाक्य–

महर्षि गौतम ने अपने न्याय सूत्र में अवयवो का निर्देश मात्र किया है। उनके अनुसार अवयव संख्या मे पाचं होते है जे क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन है। न्यायावयवों की "अनुमान"आवश्यकता को व्यक्तकरते हुए वात्स्यायन कहते है कि साधनीय अर्थ अर्थात साध्य धर्म से युक्त धर्मी की अथवा साध्य धर्मी से विशिष्ट साध्य की सिद्धि जिस शब्द समूह से निष्पन्न होती है, उन्हें अवयव वाक्य कहा जाता है।3 पंचावयवो को वात्स्यायन ने परम न्याय कहा है।4 विप्रतिपन्न पुरूष द्वारा प्रतिपादकत्व ही उसका परमत्व है। आचार्य जयन्त के अनुसार स्वयं अनुमान से गृहीत अर्थ को दूसरों के प्रति प्रतिपादन के

---

1. तदिदमनुमानं स्वार्थं परार्थं चेतिकेचिद्षियभजन्ते तदयुक्तम। सर्वेषामप्युमानानां स्वप्रतिसन्धानादिबलेन प्रवृत्तया स्वव्यवहारमात्रहेतुत्वेन च स्वार्थत्वात। न्या०परि०अनु०पृ०154
2. प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमानान्यवयवाः।.................न्या०सू० 1/1/32
3. साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पंचावयवाः बा०भा० 1,1,1
4. सोऽयं परमो न्याय इतिः ....तदैव।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए जितने शब्द समूह में अर्थ का निश्चय होता है उस शब्द समूह को परार्थानुमान कहते है। शब्द समूह के अर्थात् वाक्यों पर आधारित होने से ही पंचावयव वाक्यों को अनुमान का अवयव अर्थात् एक अंश कहा जाता है। वार्तिककार ने अवयवों की स्पष्ट परिभाषा उपस्थित की है। उनके अनुसार दूसरों को बोध कराने वाले वाक्य के अंग जो परस्पर अपेक्षित सम्बन्ध योग्य अर्थ का बोध कराने वाले होते हैं अवयव कहा है।1 वाक्यार्थ को पांचों अयवव मिलकर उपस्थित करते हैं इसलिए ये वाक्यार्थ प्रतिपादक अंश है। अतएवं अवयव शब्द से अंग का ग्रहणकर वाक्यांशों का ग्रहण किया है।

प्रतिज्ञा –

सूत्रकार ने साध्यनिर्देश को प्रतिज्ञा कहा है। केवल साध्यनिर्देश यह लक्षण अव्यापक होने से भाष्यकार ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है। कि प्रज्ञापनीय धर्म अर्थात साध्य से युक्त धर्मी अर्थात् पक्ष की स्वीकृतिका प्रतिपादक वचन प्रतिज्ञा है। जैसे शब्द अनित्य है।3 महर्षि गौतम के लक्षण की आलोचना करते हुए आचार्य गंगेश लिखते है कि साध्य निर्देश प्रतिज्ञा

---

1. साधनीयार्थप्रतिपत्तिपर्यन्तवचनकलापैक देशत्वमवयवानां सामान्यलक्ष–णमाचष्टे।...... न्या०मं०प्रमेय०अव०।
2. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा 1/1/33
3. प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणोः विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा। प्रतिज्ञासाध्यनिर्देशः – "अनित्यः शब्द" इति।.......न्या०वा०भा० 1/1/33

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का लक्षण नहीं हो सकता है। साध्यपद में अतिव्याप्ति होती है। अतः उद्दिष्ट अनुमिति के लिए कारणीभूत लिंग परामर्श प्रयोजक वाक्यार्थ ज्ञान का जनक होते हुए उसी उद्दिष्ट अनुमिति का अन्यून और अनरिक्त विषय वाले शब्द बोध का जनक वाक्य प्रतिज्ञा कहलाता है।[1] जैसे वर्वत अग्निमान है, यह वाक्य'' पर्वतोऽग्निमान्'' इस अनुमिति के प्रयोजक'' वन्हिव्याप्य धूमवान् पर्वतः ''इस परामर्श के प्रयोजक वाक्यार्थ ज्ञान का जनक होते हुए उसी अनुमिति के समान विषय वाले पर्वतोऽग्निमान इस शब्दबोध का जनक भी है। अतः वह उस अनुमिति के लिए प्रतिज्ञा है।

प्रतिज्ञा का प्रयोजन

प्रतिज्ञा साधनांग नहीं है। इस मत का निराकरण गंगेश ने किया है।[2] साध्यनिर्देश के बिना हेतु वाक्य निष्प्रतियोगिक अन्वय बोध कराने में समर्थ नहीं है। हेतु वाक्य में अनुपस्थित भी योग्यता के आधार पर अन्वित होता है। यह नहीं कह सकते अन्यथा अनुपस्थिति मात्र का अन्वय होने लग जायेगा। विप्रत्तिपति से भी साध्य की उपस्थिति मात्र का अन्यवय होने लग जायेगा क्योंकि विप्रतिपत्ति का प्रतिवादी विप्रतिपति से अथवा प्रमाण मात्र के उपस्थापन से विनाश हो जाता है। पर विप्रतिपत्ति और समयबन्ध के बिना किसी वस्तु की स्थापना

---

1. तत्र न प्रतिज्ञा साध्य निर्देशः साध्यपदे अतिव्याप्तेः किन्तूपदे श्यानुमितिहेतु———वाक्यम्। गा०अव०प्र०प्र०ल०
2. त०वि०अव०प्र०प्र०ल०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हो सकती है। दूसरी बात यह है कि विप्रतिपति वाक्य पक्ष का प्रतिपादन में पर्यवसित हो जाने से यह निराकांक्षा हो जाता है। उस हेतु वाक्य में आकांक्षा नहीं रहती है। उसी की आवृत्ति करने पर उसे ही प्रतिज्ञा कहा जाता है। किसी अवयव से भी हेत्वन्वय योग्य साध्य की उपस्थिति संभव नहीं है। अतः हेत्वन्वय योग्य साध्योयस्थिति के लिए अनुमान प्रक्रिया का होना आवश्यक है। क्योंकि पक्ष में विशेषणीभूत साध्य की हेतु के अन्वय का सामर्थ्य रहता है।

उपनय के द्वारा प्रतीत स्वार्थ की अनुपपत्ति से साध्यवान् पद का अनुमान होता है। यह कथन भी योग्य नहीं है। साध्य में हेत्वर्थ का अन्वय होने पर उदाहरण के पश्चात् साध्यव्याप्यवान् कौन है? यह उपनय विषयक का आकांक्षा होने पर उपनय का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार उपनय से साध्याभिधान से उपनय यह अन्योन्याश्रय दोष है। इसलिए उपनय से प्रतीत स्वार्थों की अनुपपत्ति से आक्षेप नही होता। तात्पर्य है कि पक्ष में साध्य ज्ञान के बिना भी साध्य व्याप्त का ज्ञान पक्ष में संभव है।

हेतु–

प्रतिज्ञा के पश्चात् दूसरा अवयव है हेतु। हेतु का लक्षण महर्षि ने दो सूत्रों में प्रस्तुत किया है। अपने सूत्र में वे लिखते हैं कि उदाहरण सादृश्य से साध्य धर्म का साधन हेतु कहलाता है।[1] इस प्रकार भाष्यकार लिखते है कि सामान्य धर्म को समझकर उदाहण में अनुसन्धान करने

---

1. उदाहरण साधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। 1/1/34

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पश्चात् साध्य का साधक हेतु कहलाता है। जैसे "उत्पत्तिधर्मकत्वात्" यह हेतु है। लोक में अन्य उत्पत्ति धर्मक प्रमेय भी अनित्य ही देखा गया है।[1] दूसरा लक्षण इस प्रकार उपन्यस्त किया है कि उदाहरण के असादृश्य से साध्य का साधक भी हेतु है।[2] हेतु अपना वैधर्म्य उदाहण में बतलाकर भी साध्य का साधक होता है। कैसे? शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से जो अनुत्पत्तिधर्मक है वह नित्य है, जैसे आत्मा आदि द्रव्य। यहां आत्मादि का असमान उदाहरण देखकर साध्य में अनित्यत्व साधक "उपपन्न" हेतु सिद्ध किया गया है।[3] इससे अनुमान किया जा सकता है। महर्षि हेतु के दो भेद अन्वयी और व्यतिरेकी मानते हैं।

वाचस्पति के अनुसार "उदाहरणेन साधर्म्यात् साधनस्य इस लक्षण से अन्वय तथा पक्षधर्मता और अन्वयव्यतिरेकी एवं पक्षधर्मता को प्रदर्शित किया गया है। साध्यसाधनं इस अशं में साध्य के कथन से हेतु के अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व को सूचित किया गया है।[4] पक्ष में साध्य के निर्देश के पश्चात स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा उत्पन्न होती हैं।

---

1. उदाहरणेन सामान्यात् धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः साध्ये प्रति सान्ध्य धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः –उत्पत्तिधर्मकत्वादिति। उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति। ....न्या०वा०भा० 1/1/34
2. तथा वैधर्म्यर्यात्। न्या०सू० 1/1/35
3. उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः। कथम 1"अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं यथा आत्मादि द्रव्यमिति।................वा०भा० 1/1/35
4. उदाहरणेन साधर्म्यात्साध्यस्येत्यनेनान्वयपक्षघर्मत्वे अन्वयतिरेकपक्ष–धर्मत्वानि च दर्शितानि साध्यसाधनमित्यत्र च साधयग्रहणेन वाधित विषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वे सूचिते। न्या०वा०ता० 2/2/34,35

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि कैसे? इस जिज्ञासा की पूर्ती के लिए हेतु की अभिव्यंजक विभक्ति वाले हेतु वचन का प्रयोग किया जाता है। बिना जिज्ञासा के किसी वस्तु का प्रतिपादन करने पर वक्ता निगृहीत होता है लोक में इसी प्रकार से आकांक्षा की निवृत्ति देखी जाती है। इसलिए प्रतिज्ञा के पश्चात् परार्थानुमान की प्रक्रिया में हेतु का प्रयोग किया जाता है।

चिन्तामणिकार गंगेश ने हेतु के कई लक्षण प्रस्तुत किये हैं। उनमें पहला है अनुमिति के लिए कारणीभूत लिंग परामर्श का प्रयोजक जो शब्दज्ञान उस शब्द ज्ञान का जनक को साध्य विषय न होने वाली शब्द बुद्धि उसका कारण हेतु विभक्ति युक्त शब्द हेतु वचन कहलाता है। जैसे पर्वतोऽग्निमान् में धूमात् यह वचन।[1] आचार्य गंगेश का दूसरा हेतु लक्षण है। "प्रतिज्ञा वाक्य ज्ञान से उत्पन्न कारण की आकांक्षा का निवर्तक ज्ञान का जनक हेतु विभक्ति वाक्य। "पर्वतोऽग्निमान्" कहने पर कैसे? यह कारण के संबंध में आकांक्षा उत्पन्न होती है। उसका निवर्तक ज्ञान हेतु का साधन है उसका जनक वाक्य धूमात् यह हेतु वाक्य है।[2]

हेतु वाक्य के भेद–

आचार्य गंगेश ने हेतु के तीन भेद अन्वयी हेतु व्यतिरेकि हेतु और अन्वयतिरेक हेतु के रूप में उपस्थित किये है। "अन्वयव्याप्ति को बतलाने वाले अवयव को बतलाने वाले अवयव के अभिद्यान

---

1. हेतुत्वं च अनुमितिकारणी भूतालिंगपरामर्श प्रयोजक शब्दज्ञानजनकसा ध्याविषयक शाब्दधीजनक हेतुविभिक्तमच्छब्दत्वम्।—— त०चि०अव०प्र०हेतु०।
2. प्रतिज्ञावाक्यधीजन्य कारणाकांक्षा निवर्तकज्ञानजनक हेतुमद्विभक्तिमद्वा– क्यत्वं वा। तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोजक जो ज्ञान, उसका जनक हेतुत्व की प्रतिपादक विभक्ति वाला न्यायावयव अन्वयि हेतु है।[1] अन्वयव्याप्ति को बतलाने वाला अवयव है अन्वयी उदाहरण उसका अभिधायक हुआ हेतु अवयव उसके अभिधान कथन का प्रयोजनक ज्ञान है। हेतु ज्ञान, उसका जनक और हेतुत्व का प्रतिपादन करने वाली विभक्ति पंचमी विभक्ति उसका आश्रय वाक्य है। "धूमात्" यह वाक्य अतः यह अन्वयी हेतु है। इसी में व्यतिरेक व्याप्ति के अभिधान के स्थान में व्यतिरेक व्याप्ति का अभिधायक यह पद रखने पर वह व्यतिरेकी हेतु का लक्षण होगा। इसका उदाहरण है – पृथ्वीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात्।

अन्यव और व्यतिरेक उदाहरण की आकांक्षा का प्रयोजक हेतू अवयव अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहलाता है। विकल्प से भी अन्वयव्यतिरेकी आदि हेतुओं का लक्षण गंगेश ने प्रस्तुत किया है। जैसे पक्ष तथा सपक्ष वाला विपक्ष में न रहने वाला हेतु अन्वय व्यतिरेकी है।[2]

उदाहरण :–

तृतीय न्यायावयव को उदाहरण कहते हैं। उदाहरण दृष्टान्त का ही कथन है। इसलिए महर्षि गौतम ने साध्य के साधर्म्य में साध्य अर्थात् पक्ष के धर्म से युक्त दृष्टान्त को उदाहरण कहा

---

1. अन्वयव्याप्त्यामिधायकावयवाभिधायकावयवाभिधान प्रयोजकज्ञान जनक हेतुत्वप्रतिपादक विभक्तिमन्यावयवत्वमन्वयिहेतुत्वम्।.......... तदैव।
2. तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।[1] दृष्टान्त के लक्षण के विषय में सूत्रकार का कथन है कि साध्य का अर्थ धर्म और धर्मी दोनों ही होता है। "शब्दों नित्यः कृतकत्वात्" इस अनुमान में उत्पत्तिमान का अनित्यत्व के साथ साध्य साधन भाव घटादि के सादृश्य के आधार पर ज्ञात होता है। उद्योतकर ने दृष्टान्त को उदाहरण मानकर उदाहरण का लक्षण किया है कि साध्य के सदृश धर्म "वन्हि आदि" से युक्त होते हुए इसी प्रकार से कहा जाने वाला उदाहरण होता है। न्यायमंजरीकार के अनुसार, प्रयोज्य और प्रयोजक भाव जिसका है ऐसे साध्य और साधन धर्मों से युक्त जो दृष्टान्त वह सार्ध्म्य दृष्टान्त है तथा उससे रहित वैधर्म्य दृष्टान्त है।[2]

उपनय –

उदाहरण से हेतु में साध्य की व्याप्ति का ज्ञान होता है किन्तु व्याप्य हेतु पक्ष में है या नहीं उस आकांक्षा के समाधान के लिए व्याप्य हेतु का पक्ष में अस्तित्व प्रदर्शन के लिए उपनय का प्रयोग आवश्यक होता है। धूम में अग्नि की व्याप्ति ज्ञान होने पर भी जब तक व्याप्त धूम् का पक्ष में अनुभव नहीं हेता है। तब तक अनुमिति उत्पन्न नहीं होती है। महर्षि गौतम का कहना है कि उदाहरण के आधार पर साध्य का जो

---

1. साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्तः उदाहणरम् न्या०सू० 1/1/36
2. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः। न्या०सू०1/1/37
3. इह तु प्रयोज्यप्रयोजकभावव्यवस्थितसाध्यसाधन धर्माधिकरणत्वयेकत्वं द्वितीयस्य च तद्रहितत्वं लक्षणमुपपद्यते। न्या०म०अ०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जो उपसंहार है वह उपनय है। उपसंहार दो प्रकार का होता है "तथा चायं" अथवा न तथा चायम्।[1] गौतम सूत्र की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि उदाहरणापेक्ष का अर्थ है उदाहरण के अधीन उदाहरण के वश में। वश अर्थात्–सामर्थ्य। साध्य के साधर्म्य से युक्त उदाहरण में, स्थायी आदि द्रव्य जो उत्पत्ति धर्म वाला है। वह अनित्य देखा गया है और उसी प्रकार शब्द भी उत्पत्ति धर्म वाला है, इस प्रकार साध्य जो शब्द है उसके उत्पत्ति धर्म वाला होने का उपसंहार किया जाता है। किन्तु पुनः साध्य के वैधर्म्य से युक्त उदाहरण में, आत्मा आदि द्रव्य अनुत्पत्ति वाला धर्म नहीं है। इस प्रकार अनुत्पत्ति धर्म वाला होने के उपसंहार का प्रतिषेध करके उत्पत्तिधर्म वाला होने का उपसंहार किया जाता है। यह दो प्रकार का उपसंहार दो प्रकार के उदाहरणों से होता है।[2]

निगमन –

गौतम महर्षि के अनुसार हेतु के उपदेश से प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन है।[3] यद्यपि प्रतिज्ञा और निगमन में पर्याप्त भेद है। साध्य का निर्देश प्रतिज्ञा है जबकि सिद्ध का निर्देश निगमन है। तथापि प्रतिज्ञा में जो साध्य की कोटी में होता है, निगमन में वही सिद्ध की कोटि

---

1. उदाहरणापेक्षस्तूपसंहारो उपसंहारो न तथेपि वा साध्यस्योपनयः। न्या०सू०1/1/38
2. उदाहरणापेक्ष उदाहरणतन्त्र उदाहरणवशः वशः सामर्थ्यम्। साध्यसाधर्म्ययुक्ते उदाहरणे स्थाल्यादिद्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टम्। तथा च शब्दः उत्पत्तिधर्मकः इति साध्यस्य शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंहृियते। साध्यवैधर्म्ययुक्ते पुनरुदाहरणे आत्मादिद्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टम्। नच तथानुत्पत्तिधर्मकः शब्द इति। अनुत्पत्तिधर्म0................भवति। 1–न्या०वा०भा०1/1/38
3. हेत्वोपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्। न्या०सू० 1/1/39

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में आ जाता है – इस प्रकार विषय की समानता से निगमन में प्रतिज्ञा का आधार होता है। इसी को लक्ष्य में रखकर महर्षि ने प्रतिज्ञा के पुनर्वचन को निगमन कहा है। वात्स्यायन ने महर्षि के सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि साधर्म्य के अनुसार तथा वैधर्म्य के अनुसार हेतु के कथन के पश्चात उदाहरण के अनुसार जो साध्य का उपसंहार किया जाता है, वह निगमन है। इसलिए उत्पत्ति धर्म वाला होने से शब्द अनित्य है, यह निगमन है। इससे प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय एक स्थान पर निगमित किये जाते हैं, यह निगमन है। निगमित का अर्थ है समर्थित किये जाते हैं। सम्बद्ध किये जाते हैं।[1] प्रतिज्ञा और निगमन का अभिधेय समान होने पर भी वे दोनों एक नहीं है। क्योंकि दोनों का प्रयोजन भिन्न है। प्रतिज्ञा का प्रयोजन साध्य प्रतिपादन मात्र है जबकि निगमन का प्रयोजन विपरीत शंका निवृत्ति है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी पांच अवयव होते हैं वैशेषिक में अवययवों की व्याख्या में न्याय से कोई विरोध नहीं है दोनों ही समान है, नाम मात्र में अन्तर है जहाँ न्याय प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन के नाम से अभिहित करता है। वही वैशेषिक दर्शन के आचार्यो ने इनको क्रमशः प्रतिज्ञा अपदेश निदर्शन, अनुसन्धान और प्रत्याम्नाय के नाम से जाना है।

मध्वाचार्य सिद्धान्त में भी इनकी व्याख्या और नाम न्याय के अनुसार ही उपलव्ध होते हैं। वहां पर कोई विशेष अन्तर नहीं है।

---

1. साधर्म्योक्ते वा वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुपसंहृियते तस्मादुत्पत्ति-धर्मकत्वाद अनित्यः शब्द इति निगमनम्। निगम्यन्तेऽनेनेति। प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनय एकत्रेति निगमनम्। निगम्यन्ते समध्यन्ते संबध्यन्ते। न्या०वा०भा०। 1/1/39

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयतीर्थ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक प्रमाण पद्वति में परार्थानुमान की व्याख्या करते हुए उसको पंचवयवयुक्त कहकर उसके अवयवो का अभिधान न्याय दर्शनकार महर्षि गौतम द्वारा निर्दिष्ट नाम के समरूप किया गया है।[1]

अद्वैत के अनुसार अवयव वाक्य

वेदान्त परिभाषाकार धर्मराजध्वरीन्द्र ने अवयवों के विषय में लिखते हुए कहा है कि अवयव तीन ही होते हैं। प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण अथवा उदाहण उपनय और निगम रूप। अवयव पंचरूपात्मक नहीं होते हैं। क्योंकि इनमें से किन्हीं तीन अवयवों से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता का ठीक–ठीक ज्ञान होने के कारण अधिक दो अवयवों की कल्पना करना व्यर्थ है।[2]

रामानुज मत

वेंकटनाथ ने न्यायपरिशुद्धि में पंचाषयव ही स्वीकार नहीं किये है। इन्होंने नैयायिकों के पंचावयवों की व्याख्या कर, मीमांसक और सौगत में अनुमत अवयवों की संख्या का निर्देशकर अपने सिद्धान्त में इन सभी को परिगणित कर कहा है कि हम इस विषय में कोई नियम नहीं रखते हैं। हमारे यहां अवयव तीन भी हो सकते हैं। पांच भी हो सकते हैं और दो भी हो सकते हैं।3 इसी पक्ष को सिद्धान्ततः यतीन्द्र मत दीपिका में श्रीनिवासाचार्य ने भी प्रस्तुत किया है।[4]

---

1. परोपदेशस्तु.................यथा पर्वतो वन्हिमान्।.............। पुनः सहेतुकं............ तस्मात्पर्वतो निगमानिति। प्र०पद्ध०अनु०प्र०
2. अवयवाश्च त्रय एव..............व्यर्थत्वात्। वे०परि०पृ166
3. वयं त्वनियमं ब्रूमः। न्या०परि०पृ० 159
4. अस्माकं...........द्वावयवौ। यतीन्द्रमतदीपिका–अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वल्लभमत में अनुमान प्रमाण –

वल्लभ वेदान्त में अनुमान का लक्षण न्यायमतानुसारी ही स्वीकार किया है। न्यायवत् पुरुषोत्तम ने भी अनुमिति के करण को अनुमान माना है। अनुमिति पद का अर्थ है जो ज्ञान का असाधारण कारण हो। कारणभूत ज्ञान का अर्थ व्याप्तिज्ञान से है। व्याप्ति का अर्थ है "साध्य में हेतु" का निरूपाधिक अस्तित्व अर्थात् जहां–जहां एक हेतु होता है। वहां–वहां साध्य होता है और जहां–जहां साध्य का अभाव होता है वहां–वहां हेतु का अभाव होता है, "हेतु" वह होता है जिसके द्वारा हम अनुमान में अग्रसर होते हैं और "साध्य" स्वीकृति अथवा निषेध होता है। इस प्रकार अव्यभिचार से विशिष्ट हेतु तथा साध्य की एकाधिकरणवृत्तिता व्याप्ति कहलाती है।[1]

पुरुषोत्तम के अनुसार अनुमान दो प्रकार का है – केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी ये दोनों अनुमान पुनः स्वार्थनुमान और परार्थानुमान भेद से दो प्रकार के हैं।

पुरुषोत्तम ने अनुमान की व्याख्या पूर्णतः नैयायिकों के अनुसार ही की है। अतः अनुमान के विषय में दोनों पक्ष समानता रखते हैं।

अन्य दर्शनों में अनुमान का स्वरूप – बौद्ध दर्शन में अनुमान

आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में अनुमान का लक्षण करते हुए कहा है। सम्बन्धी के धर्म से धर्मो के विषय में जो परोक्षनुभूमि होती है। वही अनुमान है।[2]

---

1. नियतधर्मसाहित्ये उभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिरिति। प्रस्थानरत्नाकर पृ० 139
2. या च सम्बन्धिनो धर्माद भूतिधर्मिण ज्ञायते सानुमानम्। प्रा०वा० 2/62

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब दो वस्तुओं में उपाधि रहित सम्बन्ध का ज्ञान होता है तब एक वस्तु को देखकर दूसरे के अस्तित्व का अनुमान होता है। आचार्य मनोरथ नन्दी ने दिंगनाग के लक्षण की व्याख्या करते हुए कहा है अन्वयी और व्यतिरेकी हेतु के द्वारा उसके आश्रय में जो परोक्ष अर्थ की प्रतीति होती है उसे अनुमान कहा जता है। जैसे धूम के द्वारा अपने आश्रय में परोक्ष अग्नि का ज्ञान किया जाता है। न्याय बिन्दु में धर्मकीर्ति ने अनुमान के दो भेद बतलाये हैं किन्तु अनुमान का सामान्य लक्षण नहीं बतलाया है। धर्मोत्तराचार्य ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि परार्थानुमान शब्दात्मक है तथा स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है इन दोनों का अत्यन्त भेद होने से इनका एक लक्षण नहीं हो सकता है। इसलिए इनका पृथक लक्षण बताने के लिए इनके प्रकार भेद कहे जाते हैं।[1]

जैन दर्शन में अनुमान का स्वरूप –

प्राचीन जैन साहित्य में अनुमान के लिए अभिनिबोध शब्द का प्रयोग किया गया है। लधीयस्त्रयीकार कहते हैं कि चिन्ता अभिनिबोधरूषा अनुमानादि का कारण है।[2] तत्वार्थश्लोक वार्तिक में आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं साध्यविषयक निश्चय जो कि हेतु द्वारा इन्द्रिय के बिना उत्पन्न होता है उसे अभिनिबोध कहते हैं।[3] इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं कि साध्य के साथ अविनाभाव रखने वाले हेतु से जिस शब्द सिसाधयिषा तथा असिद्ध

---

1. परार्थानुमानं शब्दात्मकं स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्कमक्। तयोरत्यन्तभेदान्नैकं लक्षणमस्ति ततस्तयोः प्रतिनियतं लक्षणमाख्यातुं प्रकार भेदः कथ्यते। न्या०वि०धर्मो
2. लद्ययस्त्री–श्लोक 12
3. तत्वार्थश्लोक वार्तिक 1–13–120

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साध्य का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं।[1] आचार्य श्रुतसागर के अनुसार साधन से होने वाला साध्य विज्ञान रूप स्वार्थानुमान ही अभिनिबोध स्वरूप विशिष्टमतिज्ञान है।[2] इस प्रकार आचार्य श्रुत सागर ने भी अनुमान के लिए अभिनिबोध शब्द का प्रयोग किया है। जैन परम्परा में अनुयोग द्वारसूत्र में अनुमान के तीन भेद किये गये हैं।[3] पूर्ववत् शेषवत् और दृष्ट साधर्म्यवत्। प्रथम दो भेद प्राचीन न्याय, साख्य चरक आदि द्वारा जो स्वीकार किये गये हैं वे ही है। तृतीय भिन्न है प्राचीन न्याय एवं सांख्य में तृतीय को सामान्यतोदृष्ट कहा है जबकि अनुयोगद्वार सूत्र में उसे दृष्ट साधर्म्यत् कहा है।

पूर्वमीमांसा में अनुमान प्रमाण –

यद्यपि मीमांसासूत्र में कोई लक्षण नहीं किया गया है। फिर भाष्यकार शबर स्वामी ने अनुमान का लक्षण इस प्रकार किया है–ज्ञात सम्बन्ध का एक देश के दर्शन से असन्निकृष्ट एकदेशान्तर रूप अर्थ में जो ज्ञान होता है, वह अनुमान है। वह अनुमान दो प्रकार का होता है – प्रत्यक्षतोदृष्ट सम्बन्ध और सामान्यतोदृष्ट सम्बन्ध। प्रत्यक्ष से दृष्ट सम्बन्ध यथा धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होना। सामान्य रूप से दृष्ट सम्बन्ध यथा देवदत्त को गति पूर्वक देशान्तर प्राप्ति को जानकर आदित्य की गति का ज्ञान होना।[4] ज्ञात सम्बन्धस्य का तात्पर्य

---

1. तत्वश्लोक वर्तिक टीका। 1–13–120
2. जैन त०अनु०पृ9 79
3.
4. अनुमानं..........देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्यगतिस्मरणात्। मी०शा०भा०1/1/5

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिंगलिंगी के अविनाभावरूप व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान होना है। यथा किसी व्यक्ति ने महानस में धूम और अग्नि के साथऽसाथ रहने के अर्थात जहां धूम होता है वहां अग्नि भी होती है। इस प्रकार के सम्बन्ध को जान लिया है, वह जब अरण्य में दूर स्थान पर धूम को देखता है, तब इसे महानस में विज्ञात धूम और अग्नि के सम्बन्ध से चक्षु इन्द्रिय से असम्बद्ध अग्नि का ज्ञान हो जाता है। इसे धूम दर्शन से निश्चय हो जाता है कि वहां अग्नि है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान में भी गति पूर्वक स्थानान्तर की प्राप्ति तो दृष्ट ही होती है।

चार्वाक् दर्शन में अनुमान –

चार्वाक् दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है, उसके दर्शन में अनुमान प्रमाण का प्रत्याख्यान किया गया है। जो हेतु अनुमान का साधन है उसका आधार साध्य और साधन का व्याप्ति सम्बन्ध बताया जाता है। इस व्याप्ति का मूल साहचर्य नियम है, यह साहचर्य सम्बन्ध किन्हीं दो प्याप्त और व्यापक के बीच कैसे निश्चय किया जा सकता है? साहचर्य आकस्मिक भी हो सकता है। अग्नि की प्रसिद्ध व्याप्ति में सार्वत्रिकता और सर्वकालिनता का अभवा रहता है। संसार में असंख्य वन्हि और धूम विद्यमान है और उनका साहचर्य सनातन है, यह कोई नियम नहीं है। चार्वाक् के अनुसार जब जब सभी धूम और वन्हि के सम्बन्ध को देख नहीं लिया जाता तब तक व्याप्ति नहीं हो पाती और व्याप्ति के अभाव में अनुमान की प्रमाणणिकता का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित हो सकता है। व्याप्ति के अभाव में अनुमान प्रमाण नहीं है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य दर्शन में अनुमान –

महर्षि कपिल ने अनुमान की व्याख्या करते हुए लिखा है कि व्याप्ति का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को होन वाला जो व्यापक का ज्ञान उसे अनुमान कहते है।[1] इसको विज्ञान भिक्षु ने अपने सांख्य प्रवचन भाष्य में कहा है कि प्रतिबन्ध नाम व्याप्ति का है। और व्याप्ति के ज्ञान से व्यापक का ज्ञान होता है इसी वृत्ति को अनुमान प्रमाण कहते है।[2] सांख्यकारिका में भी अनुमान को लिंगलिंगी पूर्वक अर्थात् व्याप्य व्यापकभाव पक्षधर्मताज्ञान पूर्वक होने वाला ज्ञान अनुमान प्रमाण है।[3] सांख्यतत्व कौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने लिंग को व्याप्त और लिंगी को व्यापक कहा है। जैसे धूमादि व्याप्य हैं क्योंकि लिंग है और वन्हि लिंगी होने से व्यापक है। इन दोनें का अविनाभाव सम्बन्ध से अनुमान प्रमाण का ज्ञान होता है।

---

1. प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्वज्ञानमनुमानम् सां०द० 1/100
2. प्रतिबन्धोः व्याप्ति व्याप्ति दर्शनम् व्यापक ज्ञानं वृत्तिरूपमनुमानं प्रमाणमित्यर्थः। सां०प्र०भा० 1/100
3. तल्लिगंलिगी पूर्वकम्। ....सां०का० 5

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समालोचना

भारतीय दर्शनों में विचेचित अनुमान प्रमाण के स्वरूप के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहूंचते हैं कि इस क्षेत्र में दो ही प्रधान मल्ल हैं न्याय तथा शांकर वेदान्त। दोनों के अनुमान लक्षणों में कुछ अर्थों में समानता है तो कुछ दृष्टियों में वैषम्यता भी है। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान के स्वरूप को लेकर भी न्याय और शंकर वेदान्त में पर्याप्त भेद है। नैयायिक सभी ज्ञान को जन्य मानते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रत्यक्ष प्रमा उत्पन्न होती है। और अनुमान प्रमाण से अनुमिति उत्पन्न होती हे। किन्तु शंकर वेदान्त में ऐसा नही है। शांकर मत के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न नही होता अपितु अभिव्यक्त होता है। इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अथवा विषेयन्द्रिय सन्निकर्ष यह सभी सामग्री पहले से विद्यमान ज्ञान को, आवरण के विनाश के द्वारा केवल प्रकट करती है। नित्य निर्मल ज्ञान की धारा तो अविच्छिन्न गति से सतत प्रवाहमान है। प्रवाहमान भी क्या है ज्ञान के अतिरिक्त तो कुछ है ही नही, केवल अज्ञान के आवरण में उसका स्वरूप तिरोहित हो रहा है। हाँ अनुमिति ज्ञान अवश्य ही जन्य है। क्योंकि अनुमिति मूल ज्ञान नहीं है। न्याय के अनुसार तो प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रत्यक्ष प्रमा उत्पन्न होती है किन्तु आचार्य शंकर के अनुसार तो अनुमान, उपमान, आगम आदि सभी प्रमाणों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।

उपर्युक्त वैषम्य को दृष्टि में रखकर जब हम अनुमान प्रमाण के लक्षण पर समीक्षात्मक दृष्टि के आलोक में विचार करते हैं तो दोनों के लक्षणों के भेद का रहस्य समझ में आ जाता है। यहां देखना यह है कि दोनों दार्शनिकों ने किस लक्ष्य को दृष्टि में रखकर अनुमान का लक्षण निर्धारित किया है। क्योंकि बिना प्रयोजन के प्रयोजक की अपेक्षा नहीं होती। तो यहां यह बात समझ लेनी चाहिए कि न्याय के अनुमान प्रमाण

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का लक्ष्य एक मात्र ईश्वर की सिद्धि करना है क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार प्रत्यक्ष के माध्यम से नहीं हो सकता क्योंकि वहां इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष अपेक्षित होता है, जबकि ईश्वर के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय की पहुंच संभव नहीं है। इसलिए न्याय ने लिंग परामर्श को अनुमान कहा है। लिंग के परामर्श से ही ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है। अन्यथा उसके ज्ञान में कोई हेतु नही है। किन्तु शांकर वेदान्त के अनुमान का यह लक्ष्य नहीं है। वहां ईश्वर की सिद्धि अनुमान प्रमाण से नहीं अपितु शास्त्र या आगम प्रमाण से ही है, इसलिए वहां ईश्वर को शास्त्रयोनि तथा औपनिषद पुरूष कहा है। इसका यही अर्थ है कि शास्त्र ही ईश्वर को सिद्ध कर सकता है। वैसे तो वह नित्य प्रत्यक्ष है किन्तु नित्य प्रत्यक्ष होते हुए भी आगम से उसकी पुष्टि की जाती है, जैसे कण्ठ में पड़ा हुआ हार पुरुष को पहले से ही प्राप्त होता है। फिर भी अयं ते हारः ऐसा किसी अन्य पुरुष के द्वारा बचन से उस प्राप्त की प्राप्ति करायी जाती है। तो फिर शांकर मत के अनुसार अनुमान प्रमाण का लक्ष्य क्या है, यह जानना आवश्यक है। यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर हम इसी प्रकरण में दे चुके है फिर भी उसे यहां पुनः निर्दिष्ट करना आवयक है। अद्वैत वेदान्त के अनुमान का लक्ष्य है संसार का मिथ्यात्व सिद्ध करना ब्रह्म तो वहां नित्य शुद्ध बुद्ध प्रकाश स्वरूप पहले से ही है। उसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता है ही नहीं। वहां तो बीच में आया हुआ यह जो संसार का द्वैत है इसी का निराकरण करना अभिष्ट है। संसार चूंकि बिन बुलाये बीच में आ गया है इसलिए उसका निराकरण तो करना ही पड़ेगा। अन्यथा ब्रह्माद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती।

अद्वैत वेदान्त में व्याप्ति का ग्रहण भूयोदर्शन से न मानकर जो सकृत दर्शन से स्वीकार किया है उसके मूल में भी जगत का मिथ्यात्व ही निहित है। भूयोदर्शन के लिए दीर्घ जीवन अपेक्षित होता है, जो जितना अधिक

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय तक जीवित रहेगा वह उतना ही अधिक भूयोदर्शन कर सकता है किन्तु वास्तव में जीवन तो क्षणभुंगूर है। भूयोदर्शन का तो हमें विनाश करना है उसके विनाश के लिए जीवन के दीर्घत्व की नहीं अपितु उसके न्यूनत्व की आवश्यकता है, इसलिए यदि संसार का मिथ्यात्व सहकृत दर्शन से ही सिद्ध हो सकता है तो भूयो दर्शन की क्या आवश्यकता है, अभिज्ञ पुरुष तो एक बार देखकर ही तत्व को पहचान लेते हैं। जो अज्ञ है, उसको तो भूयोदर्शन से भी तत्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। न्याय ने जो भूयो दर्शन की आवश्यकता को स्वीकार किया है। उसके मूल में सम्भवतः उसका यह उद्‌देश्य छिपा है कि नितान्त अज्ञ पुरुषों को मोक्ष के मार्ग पर कैसे आरुढ़ किया जाये। इसलिए जैसे एक बालक धूम और अग्नि के सम्बन्ध को पौनः पून्येन देखकर दोनों की व्याप्ति को दृढ करता है जैसे ही एक साधारण पुरुष भी संसार के वैचित्र्य को किसी बुद्धिमान् कर्ता के साथ जोड़कर उसके ईश्वर कर्तृत्व को सिद्ध करता है। इसलिए न्याय का लक्ष्य भी दूषित तो नहीं है। लक्ष्य तो उसका भी महानही है किन्तु दोनों की सिद्धि में अन्तर है। न्याय के लिंग परामर्श का लक्ष्य यदि ईश्वर सिद्धि है तो अद्वैत वेदान्त के व्याप्ति का लक्ष्य जगन्मिथ्यात्व की सिद्वि है। हमने दोनों का लक्ष्य प्रतिपादित कर दिया है। इनमें कौन ग्राह्य है इसका निर्णय सुधीजन स्वयं ही करेगें। हमें तो अद्वैत वेदान्त का विचार ही अधिक युक्ति युक्त प्रतीत होता है।

न्याय ने अनुमान के जो दो भेद स्वार्थ और परार्थ किये है यह भी कुछ रमणीय प्रतीत नही होता। इस विषय में तो हमें वेकटंनाथ का मत ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। वेकंटनाथ का मत यह है कि अनुमान का लक्ष्य स्वार्थ सिद्धि ही है परार्थ नही। वस्तुतः उनका यह कथन उपनिषदों का सार अपने अन्दर छिपाये हुए है। छान्दोग्य का ऋषि कहता है। कि संसार में परार्थ कुछ नही होता सब कुछ अपने लिए ही होता है।"आत्मनस्तु

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामाय सवं प्रियं भवति' यही सत्य वचन है। जब एक दार्शनिक ईश्वर अस्ति'' इस सिद्धान्त की सिद्धि अनुमान के बल पर दूसरो के सामने करना चाहता है तो उसमें भी उसका अपना ही स्वार्थ निहित होता है दूसरे लोग भी इसे जाने ऐसा उसका भाव नही होता अपितु दूसरे लोग ऐसा इसलिए जाने क्योकि उसनें भी माना है। इस प्रकार आत्म सम्तुष्टि और अपना हित ही अनुमान कर्ता के हृदय में निहित होता है।

यदि हम पूर्वाग्रहो से युक्त होकर विचार करें तो न्याय के परार्थानुमान का लक्ष्य प्रतिपक्षियों को परास्त करना ही है। प्रतिपक्षियो का शातन करके दिग्विजयी कहलाने का मोह ही न्याय के सभी प्रमाणो में निहीत है इसलिए न्याय की प्राचीन पद्धति को अपर्याप्त समझकर नव्य शैली का अविष्कार किया गया और न्यायदर्शन को केवल प्रमाण शास्त्र अथवा अनुमानशास्त्र के रूप में ही स्थापित किया गया। कहने को तो तत्वबूभुत्सा ही उसका लक्ष्य है। किन्तु वस्तुतः अनुमान पद्धति के चक्रव्यूह में फसकर तत्व बुभूत्सा तो गौण होकर रहगई है। अतः शांकर वेदान्तीयो ने अनुमान प्रपंच को अधिक विस्तार में नही पहुंचाया।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तम अध्याय

हेत्वाभास

हेतु अनुमान का मुख्य आधार होता है, अतः किसी भी अनुमान के लिए आवश्यक है कि उसमें प्रयुक्त हेतु सद्धेतु हों, हेत्वाभास न हों। हेतु यदि निर्दोष न हुआ, अर्थात हेत्वाभास हुआ तो अनुमान दूषित हो जाता है और उससे साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। विभिन्न दर्शनों में अनुमान के अनेक दोष बतलाये गये हैं जो अनुमान के अनेक अंगों के दोषों के रूप में वर्णित है। मुख्यतः हेतु पक्ष और दृष्टान्त इन तीनों अंगों के आभासों को अनुमान के दोष बतलाया जाता है। इस प्रकार से हेत्वाभास तथा दृष्टान्ताभास तथा कहीं कहीं अवयवाभासों का भी वर्णन प्राप्त होता है। नैयायिक केवल हेत्वाभास को ही अनुमान का दोष मानते हैं। उनके विचार से अन्य सभी आभासों का समावेश इन्हीं में हो जाता है। उदाहणार्थ "शब्द अश्रावण है, कार्य होने से घट के समान" इस अनुमान में दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष विरूद्ध पक्षाभास माना है जबकि नैयायिकों के अनुसार यहां बाधित हेत्वाभास है क्योंकि यहां पर साध्याभाव प्रत्यक्षसिद्ध है।

अतः अश्रवणत्व शब्द में प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। इसी प्रकार "घट नित्य है। सत्तावान् होने से आत्मा के समान" दिंडनाग का यह पक्षाभास नैयायिकों का सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास होगा, क्योंकि साध्याभाव अनित्यत्व का साधक कार्यत्व हेतु यहां विद्यमान है। इसी प्रकार दृष्टान्ताभास भी अनुमान में साक्षात बाधक न होकर हेतु की सद्रूपता में ही बाधक होता है।

इस प्रकार चूंकि अनुमान का मूल आधार हेतु ही है, अतः अनुमान के द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि सद्धेतु और असद्धेतु का विश्लेषण परीक्षण किया जाय। जिस प्रकार सद्धेतु के अभाव में उचित अनुमान नहीं हो सकता, उसी प्रकार हेत्वाभास की उपस्थिति में भी अनुमान की सफलता सम्भव नहीं है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय परम्परा में हेत्वाभास का सर्वप्रथम विवेचन महर्षि गौतम ने किया है। महर्षि गौतम ने अपने तत्त्वज्ञानोपयोगी सोलह पदार्थों में हेत्वाभास को स्थान दिया है। अन्य पन्द्रह पदार्थों की तरह ही हेत्वाभास का तत्वज्ञान भी निश्रेयस् की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। तत्व का निर्माण सह हेतुओं पर आधारित होने से सह हेतुत्व की रक्षा के लिए असद् हेतु अर्थात हेत्वाभास का ज्ञान भी आवश्यक है।

व्युत्पत्ति के अनुसार "हेत्वाभास" पद के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं हेतु के समान प्रतीत होने वाले[1] तथा हेतु में प्रतीत होने वाला धर्म। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास का अर्थ दुष्ट हेतु है तथा द्वितीय व्युत्पत्ति में हेतुनिष्ठ दोष का कथन है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने प्रथम उत्पत्ति के आधार पर हेत्वाभास का अर्थ अहेतु किया है, जो हेतु के साथ कुछ समानता रखने के कारण हेतु की भांति प्रतीत होता है। प्रशस्तपादभाष्य के टीकाकार व्योमशिवाचार्य तथा तर्कभावप्रकाशिकाकार ने भी हेत्वाभास का अर्थ हेतुवत् प्रतीत होने वाल अहेतु अर्थात् दुष्ट हेतु किया है। विश्वनाथ, गंगेशोपाध्याय आदि परवर्ती नैयायिक आचार्यों ने हेत्वाभास का अर्थ हेतु दोष कहा है। इसलिए उन्होंने अनुमिति के प्रतिबन्धक यथार्थ ज्ञान का विषय बनकर जो अनुमति का प्रतिबन्धक हो, वह हेत्वाभास है।[2] कहते हुए दोष को ही हेत्वाभास माना है।

हेत्वाभास के नाम के बारे में भी नैयायिको में मतभेद है किन्तु उनकी संख्या के बारे में नैयायिकों में मतभेद नहीं है। गौतम तथा उनके अनुयायी सभी नैयायिक पांच हेत्वाभास मानते हैं। सूत्रकार गौतम के अनुसार पांच हेत्वाभासों के नाम हैं।

---

1. हेतु लक्षणभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः। न्या०वा०भा०1/1/4
2. तत्वचिन्तामणि।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सव्यभिचार, विरूद्व, प्रकरणसम साध्यसम और कालातीत।[1] किन्तु नव्यन्याय में उनके कुछ नाम बदल दिये है। केशव मिश्र के अनुसार इनके नाम है–असिद्वः,विरूद्व,अनैकान्तिक प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट।[2] अन्नंभट्ट ने तर्कसग्रह में सव्यभिचार,विरूद्ध सत्प्रतिक्ष, असिद्ध और बाधित ये नाम गिनाये हैं।[3] विश्वनाथ के अनुसार इन पाचं हेत्वाभासो के नाम है–अनैकन्तिक,विरूद्ध,असिद्ध सत्प्रतिपक्ष और कालात्ययापदिष्ट

प्रशस्तपाद ने काश्यप कारिका के आधार पर लिंग और लिंगाभास के लक्षण को स्पष्ट किया है। सपक्ष सत्वादि तीन रूपों मे से एक या दो लक्षणो से भी रहित हेतु को कश्यप ने असिद्ध,विरूद्ध,सन्दिग्ध नाम का हेत्वाभास कहा है इसी कारिका की व्याख्या में प्रशस्तपाद ने कहा है–पक्ष–सत्व,सपक्ष–सत्व और विपक्ष–सत्व रूप हेतु के तीन धर्मो में से एक या दो धर्मो से रहित हेतु साध्यानुमिति का कारण नही बन सकता है अर्थात वह हेत्वाभास है। प्रशस्तपादोक्त कारिका की व्याख्या करते हुए किरणावलीकार कहते हैं– उक्त लक्ष्णों में से एक या दो लक्षणों अथवा तीनों लक्षणों से रहित तथा कालात्ययापदिष्टत्व और प्रकरणसम से जो युक्त है, उसे काश्यपात्मज कणाद ने लिंगाभास कहा है।[4]

---

1. सव्यभिचारविरूद्धप्रकरण समसाध्यसमकालातीताः हेत्वाभासाः। न्या०1/1/4
2. असिद्ध विरूद्धानैकान्तिक प्रकरणसमकालात्ययापदिष्ट भेदात पंचैव। तर्क भाषा।
3. सव्यभिचारी विरूद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधितश्च। तर्क संग्रह।
4. अत उक्तं लक्षणालिगांत कालात्मयापपिद्धिष्ट प्रकरणसमत्वरहितात् एकेन लक्षणेन द्वाभ्यां लिगंक्षणभ्यां वा शब्दात् त्रितयेन च यद्विपरीतं रहितं तदलिगंसामान्यतो लिंगाभासं काश्यपात्मजः कणादोऽब्रवीत्।–कि० हे० प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि कणाद के अनुसार अप्रसिद्ध असत और सन्दिग्ध तीन प्रकार के हेत्वाभास हैं।[1] जिन्हें पदार्थ सग्रंहकार ने विरूद्ध असिद्ध और सन्दिग्ध कहा है। आचार्य प्रशस्तपाद ने चार हेत्वाभासों का वर्णन किया है। असिद्ध, विरूद्ध,सन्दिग्ध और अनध्यवसिता।[2] आचार्य शंकर मिश्र का कथन है कि वैशेषिक मत में सव्यभिचार, विरूद्ध और असिद्ध तीन ही प्रकार के हेत्वाभास है। उदयनाचार्य हेतु के लक्षण में पाचं रूपो का समावेश करते है जिनका उल्लेख प्रशस्पाद और कणाद ने नही किया है। उन्होने कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम को भी सम्मिलित किया है। यद्यपि सूत्र और भाष्य में कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम का कोई उल्लेख नही है। तो भी किरणावलीकार सूत्रकार का समर्थन प्राप्त करने के लिए सूत्रस्य 'च'' पद का आश्रय लेते हैं।[3]

उदयन के मत की आलोचना करते हुए शंकर मिश्र कहते है। ''अप्रसिद्धोऽनयदेर्शोसनसन्दिधग्श्च'' इस सूत्र के पद से बाध और सत्प्रतिपक्ष का ग्रहण होता है। यह उदयन का मत ठीक नही है। प्रशस्तपाद भाष्य में ''विरूद्धासिद्ध सन्दिग्धं लिंग काश्यपोऽब्रवीत्'' इस कारिका में तीन प्रकार के ही हेत्वाभास कहे हैं। अतः हेत्वाभास तीन ही हैं।[4]

---

1. अप्रसिद्धाऽनउपेदशानसन्िधश्चेति। प्र०भा०हे०प्र०
2. एतेनासिद्धविरूद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति। प्र०भा०केत्वा०निरु०
3. चकारादनपदेशस्य च पुनराणवर्तनादव्यापि कालात्ययापदिष्ट प्रकरण– समरुपो हेत्वाभासोऽस्तीति सूचितम्। 1 – तदैव
4. वै०उप०हेत्वा प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सव्यभिचार

जिसमें व्यभिचार नियम का अभाव होता है। वह अनैकान्तिक सव्यभिचार हेत्वाभास है।[1] अर्थात् एक साध्य अथवा साध्याभाव के अधिकरण में जो रहता है वह एकान्त है। उसस भिन्न अनेकान्त कहलाता है। वात्स्यायन ने व्यभिचार का अर्थ किया है। एक अव्यवस्था अर्थात् एक पक्ष में नियत न होना उस अनियम के साथ जो हेतु हो, वह सव्यभिचार कहलाता है।[2] उदाहरण शब्द नित्य है, स्पर्शरहित होने से स्पर्शवाला घट अनित्य देखा गया है और शब्द उस प्रकार स्पर्शवाला नहीं है इसलिए स्पर्शरहित होने से शब्द नित्य है।[2] यहां दृष्टान्त में स्पर्शवाला होना और अनित्य होना, में दोनों धर्म साधन और साध्य के रूप में नहीं गृहीत होते क्योंकि अणु स्पर्शवाला होता है किन्तु नित्य होता है और आत्मा आदि दृष्टान्त में "उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु होता है। इस लक्षण के अनुसार "अस्पर्शत्वात्" यह हेतु नित्यत्व के साथ नियम से नहीं रहता क्योंकि ज्ञान स्पर्शरहित है और अनित्य है। इस प्रकार से दोनों प्रकार के दृष्टान्त में व्यभिचार होने से यहां साध्य साधन भाव नहीं अतः लक्षण न जाने से यह हेतु नहीं। नित्यत्व भी एक में नियत है अनित्यत्व भी एक में नियत है। जो एक में नियत होता है व ऐकान्तिक होता है, उसके विपरीत अनैकान्ति है।

वार्तिककार ने अनैकान्तिक को सव्यभिचार मानते हुए व्यभिचार का अर्थ पक्ष सपक्ष तथा विपक्ष में होना माना है। निश्चय ही जो पक्ष तथा उसके समान जाती वाले सपक्ष में होता हुआ विपक्ष में होता है, वह

---

1. अनैकान्तिकः सव्यभिचारः। न्या०द० 1/2/5
2. व्यभिचारः एकत्रावस्थितिः। सह व्यभिचारेण वर्तते इति सव्यभिचारः। निदर्शनम् नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात् स्पर्शवान् कुम्भ अनित्यो दृष्टः न च तथा स्पर्शवान् शब्दः तस्मात् अस्पर्शत्वान्नित्यः शब्द इति। न्या०वा०भा०1/2/5
3. कः पुनरयं व्यभिचारः? साध्यतज्जातीयान्यवृत्तित्वं यत् खलु साध्यतज्जातीवृत्तित्वेसति अन्यत्र वर्तते तद्व्यभिचारि। न्या०वा० 1/2/5

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यभिचारी है।[3] सव्यभिचार का लक्षण करते हुए आचार्य गंगेश लिखते हैं – साध्य संशय का जनक होते हुए साध्य और साध्याभाव रूप कोटिद्वय को उपस्थित करने वाला जो पक्षधर्मता का ज्ञान उसका विषय जो हेतु के रूप में अभिमत हो वह सव्यभिचार हेत्वाभास कहलाता है।[1] जैस पर्वतों धूमवान् वन्हेः "इस साधारण व्यभिचार में धूम और धूमाभाव सहचरित वन्हिमान पर्वत यह ज्ञान लेकर लक्षण समन्वय होता है। धूम और धूमाभाव सहचरित वन्हिमान पर्वत इस ज्ञान से धूम और धूमभाव का स्मरणात्मक ज्ञान होता है तथा पर्वत में धूम का सन्देह उत्पन्न होता है। इस प्रकार उक्त पक्षधर्मता का ज्ञान साध्य सन्देह का जनक तथा साध्य और साध्याभाव का कोटिद्वय स्मारक साधारण व्यभिचार भी होता है उसका विषय वन्हिवरूप हेतु हेत्वाभास है।

आचार्य गंगेश ने व्यभिचार का विभाजन साधारण असाधारण तथा अनुपसंहारी के रूप में किया है।[2] विश्वनाथ पंचानन ने भी इस विभाजन को स्वीकार किया है"[3] तर्क भाषाकार के अनुसार साधारण तथा असाधारण दो ही इसके भेद है।[4]

साधारण हेत्वाभास वह है जो साध्याभाव के अधिकरण में भी विद्यमान है। जैसे "पर्वत वन्हिवयुक्त जल–हृदादि में भी रहता है। अतः हेतु साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है। अव्यतिरेक सद्धेतु के लिए जो पांच धर्म आवश्यक है उनमें से विपक्ष व्यावृतत्व का अभाव इसमें है। यह दोष व्याप्ति विरोध द्वारा अनुमिति का विरोध करता है।

---

1. साध्यसंशयजनककोटिद्वयोपस्थापकपक्षधर्मताज्ञानविषयत्वे सति हेत्वाभिमतः सः। त०चि०हे०प्र०।
2. सव्यभिचारोऽपि त्रिविधः साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्। त०चि०हे०प्र०
3. आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणकोऽपरः।
   तथैवानुपसंहारी त्रिधाऽनैकान्तिको भवेत्। न्या०सि०मु०पृ०
4. स द्विविधः साधारणनैकान्तिकोऽसाधारणाऽनैकान्तिकश्चेति। तर्क भा०अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असाधरण अनैकान्तिक हेत्वाभास वह कहलाता है जो साधारणतया सभी सपक्षों और विपक्षों में न रहे किन्तु पक्षमात्र में रहे। जैसे "शब्द नित्य है, शब्दत्वयुक्त होने से" यहां शब्दत्व हेतु सभी नित्य आकाशादि और अनित्य धरादि पदार्थो में तो नहीं रहता किन्तु पक्ष शब्द मात्र में रहता है। अतः यह हेतु असाधारण व्यभिचारी हेत्वाभास है। यह दोष व्याप्ति के घटक साध्य सामानाधिकरण्य के प्रतिबन्ध द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध करता है। इसमें सपक्ष सत्व का अभाव है।

अनुपसंहारी अनैकान्तिक वह है जो अन्वयी और व्यतिरेक के दृष्टान्त से रहित हो। असाधरण में पक्ष के साथ सपक्ष और विपक्ष दोनों होते हैं किन्तु हेतु पक्ष मात्र में विद्यमान होता है जबकि अनुपसंहारी से सपक्ष और विपक्ष होते ही नहीं, क्योंकि इसमें पक्ष अत्यन्त व्यापक कर दिया जाता है, जबकि असाधारण में सीमित। विश्वनाथ ने अनुपसंहारी का लक्षण किया है, जिस हेतु का साध्य अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी हो वह अनुपसांहारी है। जैसे सब कुछ अनित्य है ज्ञान का विषय होने से "इस अनुमान में ज्ञान विषयत्व जो हेतु है वह घटादि अनित्य पदार्थो में भी रहता है, पर इसका सपक्ष उदाहरण नहीं प्राप्त होता क्योंकि पक्ष के भीतर ही सब कुछ आ जाता है। इसको अनुपसंहारी नाम देने का आशय यही है कि इसमें कोई उदाहरण न मिलने के कारण हेतु उदाहरण सपक्ष नही होता। अतः एव यह ऐसा है अथवा ऐसा नही है, इस प्रकार का उपंसहारात्मक उपनयन इसमें नही होता है।

विरुद्ध

सिद्धान्त को स्वीकार करके उसका विरोधी विरूद्ध हेत्वाभास है।[1]

---

1. सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरूद्धः। — न्या०द० 1/2/6

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकृत सिद्धान्त का जो हेतु विरोध करता है। उसे महर्षि ने विरूद्ध कहा है। इसी को उदाहरण के साथ स्पष्ट करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं कि स्वशास्त्र स्वीकृत सिद्धान्त का विरोधी हेतु ही विरूद्ध होता है। सांख्य योग दर्शन शास्त्र का उदाहरण प्रस्तुत कर कहते हैं कि यह अहंकारादि का विकार अभिव्यक्त रहित हो जाते है क्योकि उसकी नित्यता का प्रतिषेध किया गया है। अभिव्यक्ति से प्रच्युत होकर भी उनका अस्तित्व है। नित्य विकार नही हो सकता यह हेतु स्वसिद्धान्त अभिव्यक्ति के पश्चात भी विकार नित्य है। इस सिद्धान्त से विरोध करता है। अस्तित्व और स्वरूप से प्रच्युत होना दोनों परस्पर विरूद्ध धर्म एक साथ नहीं रह सकते। अतः यह विरूद्ध हेत्वाभास है।[1] वार्तिककार भाष्यकार के इस लक्षण को तो स्वीकार करते ही है परन्तु अपना भी लक्षण प्रस्तुत करते हैं उनके अनुसार प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध भी विरूद्ध हेत्वाभास है[2] जिस हेतु में साध्य का असामानाधिकरण्य हो, वह हेतु विरूद्ध है जैसे यह गाय है क्योंकि इसमें अश्वत्व है। यहां अश्वत्व हेतु में साध्यगोत्व का असामानधिकरण्य है। आचार्य विश्वनाथ ने साध्य व्यापकीभूत अभाव के प्रतियोगी हेतु को विरूद्ध कहा है।[3]

प्रकरणसमः–

जिस हेतु से प्रकरण विषयक चिन्ता प्रादुर्भूत होती है उसे निर्णय के लिए प्रयुक्त करने पर प्रकरणसम हेत्वाभास होता है।[4]

---

1. तं विरूणद्धीति तद्विरोधी अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति। यथासोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात् न नित्यो विकार उपपद्यते। अपेतोऽपि विकारोऽस्ति विनाशप्रतिषेधात्। सोऽयं नित्यत्वप्रतिषेधादिति हेतुर्व्यक्तेरपेतोऽपिविकारोऽस्तित्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरूद्ध्यते। न्या०भा० 1/2/6
2. प्रतिज्ञाहेत्वोर्वा विरोधः स विरूद्धहेत्वाभासः। न्या०वा०र्ति० 1/2/6
3. न्या०सि०मु०अनु०प्र०
4. यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः। न्या9द० 1/2/7

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि वात्स्यायन कहते है कि विमर्श के विषय होने वाले पक्ष और प्रतिपक्ष का समाप्त न होना ही प्रकरणसम है। उसका चिन्तन है, विमर्श से लेकर निर्णय होने के पहले तक समालोचना, वह जिज्ञासा जिसके द्वारा की जाती है, निर्णय के लिए प्रयुक्त वह हेतु दोनों पक्षों में समान होने से प्रकरण को समाप्त न करता हुआ प्रकरणसम है, वह निर्णय में समर्थ नहीं होता। उदाहण शब्द अनित्य है नित्य के धर्म की उपलब्धि न होने से जिसमें नित्य का धर्म उपलब्ध नहीं होता वह अनित्य देखा गया है जैसे स्थाली।

नव्य नैयायिकों ने इसको सत्प्रतिपक्ष कहा है।2 आचार्य गंगेश ने इसको इस प्रकार अभिव्यक्त किया है। साध्य के विरोधी के उपस्थान के समर्थ में समान वल की उपस्थिति से जिसके कार्य का प्रतिषेध हो वह हेतु सत्प्रतिपक्ष होता है। जैसे शब्दों नित्य'' श्रवणत्वात्'' शब्दत्ववद् शब्दो नित्यः कार्यत्वात् घटवत'' यहां पर साध्य विरोधी अर्थात साध्य के अभाव अनित्यत्व की उपस्थापना में समर्थ समान बल अर्थात'' अनित्यत्व व्याप्य कार्यत्ववद् शब्दः रूप परामर्श से श्रवणत्व हेतु के कार्य शब्द के नियत्व की अनुमिति का, प्रतिरोध हो जाता है। अतः श्रावणत्व हेतु सत्प्रतिपक्षित कहलाता है।

साध्यसम –

साध्य के समान ही साधनीय होने से कोई हेतु साध्यसम होता है।[3] जिसका तात्पर्य है कि साध्य अनिश्चय की तरह पक्ष में भी अनिश्चित हेतु साध्यसम अर्थात असिद्ध होता है। छाया द्रव्य है, यह

1. विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावुभावनवसितौ प्रकरणम्। तस्यचिन्ता विमर्शात्............ अनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि। न्या०वा०भा० 1/2/7
2. अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इतिउच्चते। तर्क भा०हे०प्र०
3. साध्याविशष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः। न्या०द० 1/2/8

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है गतिवाली होने से यह हेतु है जो साध्य के समान ही साधनीय होने से साध्यसम है। यह भी असिद्ध होने से साध्य के समान सिद्ध करना है। यह तो साधनीय ही है कि क्या पुरुष के समान छाया भी चलती है अथवा यह आवरण करने वाले आवरक द्रव्य के चलने पर आवरण के सन्तान में तेज की अनुपस्थिति का निरन्तर होना गृहीत होता है। निश्चय ही चलते हुए द्रव्य के द्वारा जो–जो तेज का भाग आच्छादित कर लिया जाता है उस–उस भाग की अनुपस्थिति लगातार गृहीत होती है। आवरण तो प्राप्ति का प्रतिषेध है।[1] वार्तिककाार ने भाष्य के व्याख्यान का समर्थन करते हुए इसके तीन भेद किये हैं प्रज्ञापनीय धर्मसाधन स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध और अन्यथासिद्ध। वाचस्पति मिश्र ने इसके चार भेद किये है– स्वरूपासिद्ध,एकदेशासिद्ध, आश्रयासिद्ध और अन्यथासिद्ध।

1. आश्रयासिद्ध

आश्रयासिद्ध हेत्वाभात वह है जिसका आश्रय पक्ष ही अप्रसिद्ध हो जैसे आकांश कमल सुगन्धित है, कमल होने से तालाब के कमल के समान "इस अनुमान में सुगन्ध रूप साध्य का पक्ष आकाश कमल ही अप्रसिद्ध है। अतः यह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है, जिसमें पक्षवृत्तित्व का अभाव है।

2. स्वरूपासिद्ध

स्वरूपासिद्ध वह हेतु है जिस का स्वरूप ही सिद्ध न होकर उसका अभाव पक्ष में विद्यमान हो। जैसे शब्द गुण है नेत्र ग्राह्य होने से" इस अनुमान में शब्द पक्ष में गुणत्व की सिद्धि के लिए दिया गया हेतु नेत्र ग्राह्ययत्व स्वयं पक्ष में असिद्ध है, क्योकि शब्द नेत्र ग्राह्य नही अपितु श्रोत्रग्राह्य है।

---

1. द्रव्यं छायेति साध्यम् गतिमत्वादिति हेतुः। साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात साध्यसमः———–आवरणंतु प्राप्तिप्रतिषेधः। न्या०भा० 1/2/6

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. अन्यथासिद्ध

अन्यथासिद्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि औपिाधिक सम्बन्ध कालातीत हेतु अन्यथासिद्ध हेत्वाभास है।

कालातीत

काल बीत जाने पर कहा गया हेतु कालातीत हेत्वाभास है।[1] महर्षि का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन कहते है कि जिसको हेतु के रूप में प्रयुक्त किया हो उसका एक भाग कालात्यय संयुक्त होता है। तो वह कालातीत कहलाता है। जैसे शब्द नित्य है क्योकि संयोग से अभिव्यक्त होता है। "रूपवत्" इस अनुमान में शब्द की उपलब्धि के समय संयोग नही रहता है। भेरी और दण्ड का संयोग होने पर शब्द ही अभिव्यक्ति होती है। उस समय हेतु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त संयोग नहीं रहता है।

माध्वमत में हेत्वाभास

जयतीर्थ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक प्रमाणपद्धति में पाँच हेत्वाभासों का वर्णन किया है वे है– पक्षधर्मत्व, सपक्ष, सत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्ष।[2]

विशिष्टाद्वैत में हेत्वाभास

जो सदहेतु से भिन्न होकर भी हेतु के समान प्रतीत होते हैं वे हेत्वाभास कहलाते हैं। हेत्वाभास पाँच हैं– असिद्ध विरूद्ध अनैकान्तिक,प्रकरण सम और कालात्पयापदिष्ट। उनमें भी असिद्ध तीन प्रकार का होता है– स्वरूपासिद्ध आश्रयासिद्ध और व्याप्यात्वासिद्ध। जीव

---

1. कालात्ययादिष्टः कालाततीतः। स्या० द० 1/2/9
2. पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्वं विपक्षा आवृतिरवाधिविषत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति हेतो पंचरूपाणि –प्र० पद० हेत्व० प्र०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनित्य है क्योकि वह घट के समान चाक्षुष है। यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है। आश्रयासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है–कि आकाश कमल सुगन्धित होता है क्योंकि वह सरोवर में होने वाले कमल के समान है। हेतु का आश्रय व्योमारविन्द है किन्तु वह असिद्ध ही है। व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास दो प्रकार का होता है एक तो व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव के कारण और दूसरा उपाधि के कारण। पहले का उदाहरण है–जो सत् होता है वह क्षणिक होता। क्षणिकत्व एवं सत्व का व्याप्तिग्राहक कोई प्रमाण ही नही होता । द्वितीय व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण है– अग्निषोमीय याग में होने वाली हिसां से अधर्म होता है क्योकि वह यज्ञ के बाहर की जाने वाली हिसां के समान है। यहाँ पर निविषद्धत्व उपाधि है। अतः एव यहाँ पर हिंसात्व हेतु सोपाधिक है।[1]

---

1. अन्ये हेतुवदाभासमाना हेत्वाभासा ते चासिद्धविरूद्धानैकान्तिकप्रकरण समकालात्ययापदिष्टभेदात्पचंप्रकाराः। तत्रासिद्धस्त्रिविधः – स्वरूपासिद्धःआश्रयासिद्ध व्याप्यत्वासिद्धश्चेति। स्वरूपासिद्धो यथा–अनित्यो जीवश्चाक्षुषत्वात घटवदिति। आश्रयासिद्धस्तु–व्योमारविन्दं सुरभि सरोजारविन्दवत इति। व्योमारविन्दमाश्रयः स चासिद्धः। व्याप्यत्वासिद्धो द्विविधः–एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् अपरस्तु उपाधिसद्भावात्। आद्यो यथायत्सतत्तत्क्षक्षणिकमिति। क्षणिकत्वसत्वयोर्व्याप्तिग्रा हकप्रमाणासिद्धेः। द्वितीयो यथा–अनिग्षोमीयहिसां अधर्मसधिका, हिंसात्वात क्रतुबाह्यहिंसावदिति। अत्रनिषिद्वत्वमुपाधिः। अतो हिसांत्वहेतुसोपधिकः। यतीन्द्रमत० ति०अ०हे०प्र०।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरुद्ध –

साध्य के विपरीत अर्थ में व्यापक हेतु विरुद्ध होता है। जैसे प्रकृ नित्य है क्योंकि वह काल के समान कार्य है, अतः एव कृतकत्व हे नित्यसाध्य के विपरीत अनित्यत्व में व्यापक है।[1]

अनैकान्तिक –

व्यभिचार से युक्त हेतु अनैकान्तिक होता है। अनैकान्तिक हेतु प्रकार का होता है। साधारण तथा असाधारण। साधारण अनैकान्तिक हे वह है जो पक्ष समक्ष तथा विपक्ष तीनों में पाया जाता है। जैसे – श नित्य है, क्योंकि वह काल के समान प्रमेय है। इस अनुमान का प्रमेयत हेतु पक्ष शब्द सपक्ष तथा उसके सजातीय धर्मवान् काल तथा अनि घटादि में पाया जाता है। असाधारण अनैकान्तिक हेतु वह है जो पक्ष मा में पाया जाय। सपक्ष तथा विपक्ष में नहीं। जैसे पृथिवी नित्य है क्योंकि व आकाश के समान गन्धवती है। इस अनुमान का गन्धवत्व हेतु पक्षभूत हे में तो है किन्तु सपक्ष आकाश में तथा विपक्षभूत अनित्य पदार्थो में नहीं है

प्रकरणसम –

प्रकरणसम हेतु वह हेतु है जिसके साध्य के विपरीत अर्थ का साध दूसरा हेतु विद्यमान रहता है। जैसे ईश्वर नित्य है क्योंकि वह अनि धर्मों से रहित है। इस अनुमान का साध्य नित्यत्व है। इस हेतु के विपरी नित्यधर्म रहितत्व हेतु के द्वारा ईश्वर में अनित्यत्व भी सिद्ध किया सकता है। जैसे ईश्वर अनित्य है। क्योंकि वह नित्य धर्मों से रहित है प्रकरणसम को ही सत्प्रतिपक्ष भी कहते हैं।[3]

---

1. साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। तद्यथा प्रकृतिर्नित्या कृतकत्वात् कालवदि कृतकत्वहेतुः साध्याभावव्याप्तः। तदैव।
2. सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स च द्विविध साधारणोऽसासाधारणश्चेति पक्षसपक्षविपक्षवृतिः साधारणानैकान्तिकः यथा। शब्दो नित्यः प्रमेयत्वा कालवत्। असाधारणस्तु सपक्षविपक्षव्यावृतः। यथा भूर्नित्या गन्धवत्वा व्योमवदिति–तदैव
3. प्रकरणसमस्तु साध्यविपरीतसाधक हेत्वन्तरवान्। यथा ईश्वरो नित्यः....... ....अयमेव सत्प्रतिपक्षः। –तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालात्ययापदिष्ट –

कालात्ययापदिष्ट हेतु वह होता है जिस हेतु का साध्य अपने पक्ष में पाया ही नहीं जाता। जैसे अग्नि अनुष्ण है क्योंकि वह जल के समान पदार्थ है। इस अनुमान का साध्य अनुष्णत्व अपने पक्षभूत अग्नि में है ही नहीं। अग्नि का अनुष्णत्व प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा वाधित है। स्पर्शन प्रत्यक्ष के ही द्वारा अग्नि का उष्णत्व सिद्ध होता है।[1]

अन्य दर्शनों में हेत्वाभास –

बौद्ध दर्शन में हेत्वाभास – हेत्वाभास का लक्षण करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि त्रिरूप लिंग के आख्यान को परार्थानुमान कहा है। उसके तीन रूपों में से एक रूप के न कहने पर या एक रूप के असिद्ध होने पर या उसके विषय में सन्देह होने पर हेत्वाभास होता है। अविनाभाव विषय पूर्वक होने पर तथा पक्ष धर्म होने पर हेतु सद् हेतु कहलाता है। उससे भिन्न हेतुओं को हेत्वाभास कहते हैं।[2] साध्य व्याप्त हेतु में हेतु के तीन रूप पक्षधर्मत्व सपक्षसत्व और विपक्षासत्व रूप में पाये जाते हैं। इस तीन रूपों में से एक–एक अथवा दो–दो रूपों के असिद्ध अथवा सन्दिग्ध होने पर यथोयोग असिद्ध, विरूद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभास होते हैं। बौद्ध परम्परा में हेत्वाभावों का विवेचन हमें सर्व प्रथम आचार्य नागार्जुन के उपायहृदय में मिलता है। आचार्य नागार्जुन ने आठ प्रकार के हेत्वाभास माने हैं वाक्, छल, सामान्य, छल संशयसम, कालातीत, प्रकरणसम, वर्ष्यसम, सव्यभिचार, और विरुद्ध। वसुबन्धु ने अपनी वादविधि में तीन प्रकार के हेत्वाभासों का वर्णन सोदाहरण किया है – असिद्ध, अनिश्चित और विरूद्ध। आचार्य दिङ्नाग के हेतु चक्र प्रमाण से हेत्वाभास दो प्रकारों अनेकान्तिक

---

1. यस्य हेतोस्साध्याभाववान्पक्षः स कालात्यापदिष्ट। स यथा अग्निरनुष्णः पदार्थत्वात् जलवत्। अयं च प्रत्यक्षेणवोष्णैत्वावधारणात् वाधितः। – तदैव
2. न्या० वि० 3 परि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा विरुद्ध तथा उनके अवान्तर मेदों में दो का ज्ञान होता है। असिद्ध तथा उनके अवान्तर भेदों का ज्ञान नहीं होता है। असिद्ध के अवान्तर भेदों का वर्णन न्याय प्रवेश में उपलब्ध होता है।[1]

जैन दर्शन में हेत्वाभास –

हेत्वाभास का लक्षण करते हुए आचार्य सिद्धसेन लिखते है कि अन्यथानुपपन्नत्व हेतु का लक्षण कहा जाता है। उसकी प्रतीति न होने पर अथवा सन्देह होने पर या उसका विपर्यास होने पर हेत्वाभासता उत्पन्न होती है।[2] आचार्य सिद्धसेन के अनुसार हेत्वाभास के तीन ही प्रकार हैं – असिद्ध, विरूद्ध और अनैकान्तिक।[3] अन्यथानुपपत्ति की विपरीत रूप से उपलब्धि होने पर विरूद्ध तथा विपरीत होते हुए पक्ष में हेतु के उपलब्ध होने पर अथवा अन्यथानुपपन्नत्व का सन्देह होने पर हेतु अनैकान्तिक होता है।

आचार्य अकलंक ने भी हेतु लक्षण सिद्धसेन दिवाकर के समान ही अन्यथानुपपन्नत्व माना है। इसलिए अन्यथानुपपत्ति का अभाव होने पर हेत्वाभास होता है। आचार्य का मत है। कि वस्तुतः अन्यथानुपपत्ति के न रहने पर अकिंचित्कर नामक एक ही हेत्वाभास होता है। किन्तु अन्यथानुपपत्ति का अभावा कई प्रकार से होता है। इसलिए असिद्ध, विरूद्ध, सन्दिग्ध और अकिंचित्कर हेत्वाभास के चार प्रकार कहे जा सकते हैं। इस प्रकार से जैनन्याय परम्परा में दो धारायें उपलब्ध होती

---

1. न्या० प्र० हेत्वां० प्र०
2. अन्यथानुपमन्नत्वं हेतोर्लक्षणमिरितम्। तद प्रतीति सन्देह– विवर्यासैस्त्वभासता। 1–नया०व०क०पृ०22
3. असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते। विरूद्धो यो अन्याथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः।। न्या०व०क०पृ०22

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है – एक तीन हेत्वाभासों की समर्थक और दूसरी चार हेत्वाभासों की समर्थक। माणिक्यनन्दी तथा उनके व्याख्याकारों ने द्वितीय धारा का समर्थन किया है।[1]

समालोचना

दार्शनिक जगत अनुमान प्रमाण के लिए न्याय दर्शन का उतना ऋणि नही है। जितना हेत्वाभासो की कल्पना के लिए है। हेत्वाभासो की नूतन कल्पना तो न्याय दर्शन की ही देन है। तत्त्वबुभूत्सु और सत्यान्वेषी विद्धज्जन न्याय की इस अमूल्य निधि का सदा से सम्मान करते रहे हैं और करते रहेगें। अनुमान प्रमाण। कोई नूतन वस्तु नही है। यह तो उतनी ही पुरातन वस्तु है जितना प्रत्यक्ष प्रमाण। जब कभी प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता लौकिक और परीक्षक पुरूषों को रही होगी उसके साथ–साथ ही अनुमान प्रमाण भी प्रकाश में आ गया होगा। किन्तु हेतु के रूप में छिपे हुए हेत्वाभास अथवा हेतु दोषों की खोज महर्षि गौतम ने ही की थी। इसलिए सम्पूर्ण दार्शनिक जगत ने यह निधि न्याय दर्शन से ही अधिगृहीत की है।

हेतवाभासों को जानने की आवश्यकता शास्त्रार्थ में रूचि रखने वाले मनीषियों `को उस समय प्रतीत हुई होगी। जब छली और वैतण्डिक प्रतिवादियों ने हेतु का दुरूपयोग करके अर्थ का अनर्थ कर डालने की ठान ली होगी। संसार को नास्तिकता अवैदिकता और अतार्तिकता के दुर्दान्त पंजो मे जकडी हुई मानव जाति को आस्तिक और धार्मिक बनाने के लिए महर्षि गौतम ने प्रतिपक्षियों के पक्षो के शातनार्थ हेत्ववाभासो का ज्ञान अपेक्षित समझा होगा। इसलिए हेत्वाभासों की उपयोगिता सत्यन्वेषण में ही है परमर्म के भेदन में नही है। यदि दुष्ट अभिप्राय वाले प्रतिपक्षी इस हेत्वाभास कल्पना को परमर्म भेदक भी समझते हैं तो यह उनके लिए

---

1. हेत्वाभासा असिद्धविरूद्धानैकान्तिकाकिंचित्कराः।प०मु०सु० 5/21

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उचित नहीं। सूर्य का प्रकाश तो अनन्त जीवो के कल्याण के लिए होता है। यदि उल्लुक जाति सूर्य को अपना विरोधी समझती है तो इससे सूर्य की उपयोगिता को अर्थहीन नही कहा जा सकता। हेत्वाभास तो अनुमान के सूर्य पर छाये हुए दोष रूपी मेघो को छिन्न–भिन्न करने के लिए कल्पित किये गये थे। यदि प्रतिपक्षी दार्शनिक अपनी पराजय का हेतु समझते है तो उन्हे ऐसा समझना ही चाहिए।

हेत्वाभासों की अवधारणा में महर्षि गौतम का एक अन्य महान उद्देश्य भी दिया हुआ है उनका उद्देश्य यह है कि अनुमान प्रमाण को प्रत्यक्ष, उपमान और आगम आदि प्रमाणो से भी उत्कृष्ट तथ्यापादक और सर्वातीशायी सिद्ध किया जा सके। उनकी दृष्टि में अनुमान प्रमाण सबसे बलवान प्रमाण है।इससे प्रस्तुत होने वाला सत्य, सत्य ही रहता है। उससे मिथ्या ज्ञान हो ही नही सकता किन्तु शर्त यह ही है कि यह हेतु निर्दुष्ट हेतु ही होना चाहिए हेत्वाभास नहीं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अनुमान अग्रेंजी का Icference or Opnion नही है। यद्यपि अंग्रेजी में Inference अनुमान का पर्यावाची माना जाता है। किन्तु Inference से न्याय का वह अभिमत प्रकट नही होताा जो अनुमान से होता है, अनुमान तो वह प्रमाण है जो प्रत्यक्ष और आगम प्रमाणों की प्रामाणिता को भी सिद्ध करता है। प्रत्यक्ष से प्रादुर्भूत ज्ञान मिथ्या हो सकता है। किन्तु अनुमान जन्य ज्ञान कथमपि मिथ्या नही हो सकता है। आगम प्रमाण भी आप्त पुरूषों का अनुभूत और कल्पित ज्ञान ही है। उसमें भी पक्षपात आदि दोष हो सकते हैं। किन्तु अनुमान में ऐसी कोई सम्भावना नही है। प्रत्यक्ष प्रमाण चन्द्रमा को हस्तपरिमित सिद्ध करता है जो कि मिथ्या ज्ञान है। आग़म प्रमाण उसे शतयोजन विस्तृत कहता है वह भी एक कल्पना ही है। किन्तु अनुमान शास्त्री यह बात सहज नही सिद्ध कर सकता है कि चन्द्रमा जैसे दिखाई दे रहा है। उससे लक्ष गुणित बडा है क्योकि ज्योत्सना एक ही समय में एक विशाल भूखण्ड पर पडती है। प्रायः पिपिलिकाओ की पंक्ति के कारण को भावि वर्षा और मेघोन्नति का अनुमापक हेतु माना जाता है किन्तु प्रतिपक्षी कहते हैं कि यह कोई सत्य हेतु नही

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि पिपिलिकाओं की पंक्ति–बद्धगति से चलने में वर्षा का होना अवश्य ही सत्य हो अथवा केकाध्वनि किसी अन्य कारण से भी हो सकती है। इसलिए अनुमान प्रमाण भी सत्य का प्रतिपादक नहीं हो सकता। वस्तुतः प्रतिपक्षियों के इन तर्कों की कल्पना महर्षि गौतम और वात्स्यायन ने पहले ही कर ली थी। इसलिए तो उन्हें हेत्वाभासो की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। केवल एक दो स्थानो पर पिपलिकाओं की पंक्तिबद्धगति से भावि वर्षा की अनुमिति नही होती और नही कृत्रिम केकारव से मेघोन्नति का ज्ञान होता है। अपितु जब विभिन्न स्थानों पर पिपिलिकायें मुख में अण्डे लेकर एक साथ यात्रा करती दिखाई दें तथा यह क्रम अनवतर कई दिनो तक चलता रहे, तब यह अनुमिति की जाती है कि आने वाले कुछ ही दिनो में वर्षा होगी। इसी प्रकार कल्पित केकाध्वनि से आकाश में मेघों की सत्ता का ज्ञान नही किया जा सकता अपितु न्याय का सिद्धान्त तो यह है कि जब मयूर की आवाज निरन्तर आरही हो और उसमें हर्ष का भाव विस्तृत हो तो उसे सुनकर कमरे के अन्दर बैठा व्यक्ति भी आकाश की और बिना देखे ही यह जान लेता है कि आकाश में मेघ छाये हुए है।

कहने का अभिप्राय यह है कि यदि हेत्वाभासों का ज्ञान न हो तो मिथ्या हेत्वों से भी हम अनुमिति का प्रयास करेगें और उससे प्रस्तुत ज्ञान निश्चित रूप से मिथ्या ही होगा। उस मिथ्या ज्ञान से हम अनुमान प्रमाण की यर्थाथता पर भी सन्देह करेगें। किन्तु अनुमान प्रमाण से प्रस्तुत ज्ञान तो मिथ्या ज्ञान करा ही नहीं सकता। यदि वह निर्दुष्ट हेतुओं की भित्ति पर आधारित है तो उसमें मिथ्यात्व की कल्पना हो ही नही सकती। इसलिए अनुमान प्रमाण को प्रमाणो का शीर्षमणि सिद्ध करने के लिए हेत्वाभासों की सूक्ष्म कल्पना करके जो महान कार्य किया है। वह वास्तव में स्तुत्य है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टम अध्याय
उपमान प्रमाण

उपमान प्रमाण की परिभाषा–

महर्षि वात्स्यायन ने प्रमाणों का वर्गीकरण करते हुए उपमान प्रमाण को सारूप्यज्ञान कहा है। जैसे गो है ऐसा ही गवय होता है। सारूप्य से तात्पर्य है सामान्य सदृश्य सम्बन्ध।[1] न्याय सूत्रकार महर्षि गौतम ने प्रसिद्ध के साधर्म्य से साध्य की सिद्धि को उपमान कहा है।[2] महर्षि वात्स्यायन ने अपने भाष्य में कहा है कि प्रज्ञात प्रसिद्ध गौ आदि की सादृश्यज्ञान से प्रज्ञापनीय गवय आदि का ज्ञान जिस प्रमाण से कराया जाय उसे उपमान कहते हैं।[3] तर्क संग्रह में उपमिति के करण को उपमान कहा है।[4] प्रसिद्ध साधर्म्य वस्तु अप्रसिद्ध का साधन ही उपमान है।[5] पूर्व ज्ञान का नाम प्रसिद्ध और समान धर्म का नाम साधर्म्य है। साधर्म्य, सापेक्ष तथा सारूप्य यह तीनों पर्याय शब्द है। पूर्व ज्ञात पदार्थ के समान धर्म द्वारा साध्य उपमेय की सिद्धि को उपमिति कहते है। और उपमिति से जिसका ज्ञान होता हो उसको उपमान कहते हैं। वार्तिककार लिखते हैं कि प्रसिद्ध साध म्यात् का अर्थ है। प्रसिद्ध (ज्ञाता) है। सादृश्य जिसका अथवा प्रसिद्ध (ज्ञात) से है सादृश्य जिसका वह यह प्रसिद्ध साधर्म्य वाला गवय है। उससे साध्य की प्रसिद्धि करना उपमान है।[6]

---

1. उपमानं स्वरूप्यज्ञानं यथा गौरयं गवयः इति। सारूप्यं तु सामान्ययोगः। न्या०भा०1/1/3
2. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्। न्या०सू० 1/1/6
3. प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति। "यथा गौरयं गवयः इति। न्या०भा० 1/1/6
4. उपमिति करणमुपमानम्। तर्क सं०उप०प्र०
5. प्रसिद्ध वस्तु साधर्म्यात् अप्रसिद्धस्य साधनम्।
   उपमानं समाख्यातं यथागौर्गवयस्तथा।। स०द०स०
6. प्रसिद्ध साधर्म्यादिति......तस्मात् साध्यसाधनमिति। न्या०वा० 1/1/6

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय की उपमान प्रक्रिया –

न्याय दर्शन में उपमान की प्रक्रिया के विषय को इस प्रकार व्यक्त किया है। आचार्य वात्स्यायन लिखते हैं कि जैसे गो वैसी गवय इस उपमान का प्रयोग करने पर गौ के समान धर्म वाली वस्तु को इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष से उपलब्ध करने वाला उसकी ''गवय'' संज्ञा है, इस प्रकार संज्ञा गवय शब्द और संज्ञी गवय पशु के सम्बन्ध को जान लेता है। इसी प्रकार जैसी मूंग वैसी मुद्गपर्णी जैसा माष वैसी माषपर्णी इस प्रकार उपमान का प्रयोग करने पर उपमान से संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध को जानने वाला इस औषधी को भैषज्य के लिए ले आता है।[1] वार्तिककार उद्योत्कराचार्य ने भी इसको इसी प्रकार स्वीकार करते हुए कहा है कि शब्द प्रमाण द्वारा उत्पादित संस्कार से उत्पन्न स्मृति की उपेक्षा से होने वाला सदृश्य ज्ञान उपमान है– जब इस प्रमाता ने आप्त से सुना होता है, जैसे गौ वैसी गवय'' इस प्रकार गो और गवय का सादृश्य ज्ञान होने पर फिर वह गवय में सादृश्य को प्रत्यक्ष देखता है, तब उसको यह गवय है। इस प्रकार संज्ञा के सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है।[2]

---

1. यथा गौरयं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समान धर्माणमर्थमि- न्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवय शब्दः सञ्ज्ञेति संज्ञासंज्ञीसम्बन्धं प्रतिपद्यते यथा मुदगस्तथा मुद्गपर्णी यथामाषस्ताथा माषपर्णीत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् संज्ञासंज्ञीसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्य तामौषधीं भैषज्याय आहरति। न्या०भा० 1/1/6
2. आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूपप्यज्ञानमुपमानम्=यदा ह्यनेन श्रुतं भवति यथा गौरेवं गवय इति, प्रसिद्धे गौगवयसाधर्म्ये पुनर्गवयसाधर्म्यं पश्यति प्रत्यक्षम्, ततस्तस्य भवत्ययं गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः। न्या०वा०1/1/6

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयन्त भट्ट ने भी अपनी पुस्तक न्यायमंजरी में इसका अनुसरण करते हुए लिख है। उपमान आप्त वाक्य द्वारा प्राप्त वह ज्ञान है जो प्रसिद्ध वस्तु की सदृश्यता से अप्रसिद्ध वस्तु का बोध कराता है। जैसे यदि कोई नगरवासी जंगल में जाकर किसी वनवासी से गवय के विषय में पूछता है कि गवय क्या है और इस प्रश्न के उत्तर में वनवासी ने कहा कि जैसी गाय वैसी गवय'' होता है। यह वाक्य उपमान है। यह अप्रसिद्ध वस्तु की प्रसिद्ध वस्तु से सादृश्य का

बोध कराता है और सदृश्यता से गवय के ज्ञान का भी गमक है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार सूत्र में साधर्म्य का ग्रहण धर्ममात्र का उपलक्षण है। संज्ञा की प्रीतिति का फल भी उपमान है इसमें अव्याप्ति नहीं है। जैसे उत्तरीय भारत का व्यक्ति किसी दाक्षणात्य व्यकित से उट के विषय मे यह कहता है कि क्रमेलक नामक पशु देखने में भद्दा, लम्बी गर्दन, बड़े ओठ तथा कठोर तीक्ष्ण कण्टक युक्त झाड़ियों को खाने वाला होता है। उदीच्य व्यक्ति की यह बात सुनकर जब दाक्षणात्य उदीच्य पक्ष की और गमन करते हुए किसी ऐसे विशेषण युक्त पशु को देखता है तो निश्चय करता है निश्चित रूप से यह ही ऊँट या क्रमेलक है ऐसी उपमिति वाला हो जाता है। इससे भी उपमिति की जाती है। इस प्रकार लोक में और भी बहुत से अन्य उदाहण देखे जा सकते है।[2]

---

1. न्यायमंजरी प्रथम भाग।
2. साधर्म्यग्रहणं च धर्ममात्रोपलक्षणमिति करभसंज्ञाप्रतीतिफलमप्युपमानमेवेति नाव्याप्तिः। ननु यदोदीच्येन क्रमेलकं निन्दतोक्तं धिक्करभमतिदिर्धवक्रग्रीवं प्रलम्बनोष्ठं कठोरतीक्षणकण्टकाशिनं कुत्सितावयवसन्निवेशमपसदं पशुनामिति, तदुपश्रुत्य दाक्षिणात्य उत्तरापंक्ष गतस्तादृशं वस्तुपलभ्य नूनमसो करभ इति प्रत्येति। न्या०वा०ता०टी० 1/1/6

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सादृश्य वाले व्यक्ति के ज्ञान का नाम "उपमान" और उपमान जन्य ज्ञान का नाम उपमिति है, अर्थात् यह गवय पद वाच्यार्थ है। इस प्रकार पद पदार्थ के सम्बन्ध ज्ञान को उपमिति कहते है। इस व्याख्या के अनुसार सादृश्य ज्ञान "करण" आप्त वाक्यार्थ की स्मृति "व्यापार" तथा गव्यादि पदों का शक्ति ज्ञान "फल" है। भाव यह है कि जब पुरुष आप्त वाक्यार्थ से "गो के समान गवय है।" इस गौ, गवय के साधर्म्य को जान लेता है तब उसको कालान्तर में

साधर्म्य ज्ञान द्वारा जो गवयादि पदों का उसने अर्थ के साथ संज्ञासंज्ञी सम्बन्ध का ज्ञान होता है। वही उपमान प्रमाण का फल उपमिति ज्ञान कहलाता है। न्यायकन्दलीकार ने भी इसी रूप में प्रशस्तपदपादभाष्य की व्याख्या करते हुए उपमान को कहा है। कि संज्ञा संज्ञि के साथ गवयादि संज्ञावाची पदों का गवायादि व्यक्ति विशेष के साथ शक्ति का निश्चय होता है वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा नहीं हो सकता किन्तु उक्त निश्चय का असाधारण कारण उमान प्रमाण है।[1]

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथ पंचानन ने भी उपमान की प्रक्रिया को वाचस्पति मिश्र को अनुसार करते हुए व्याख्या की है। उनके अनुसार सर्वप्रथम गवय को देखते समय ग्रामीण के मन में जो गो के साथ सादृश्यज्ञान होता है वह ही उपमिति के कारण है। गो के सदृश गवय होता है। आरण्यक के द्वारा उपदिष्ट इस अतिदेश वाक्यार्थ की स्मृति को व्यापार माना गया है। और "गवय" पद की गौ सदृश जंगली पशु में " यह गवय है" इस प्रकार की शक्ति का ज्ञान ही उपमान का

---

1. सम्बन्धस्य परिच्छेद संज्ञायाः संज्ञिना सह।
   प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः।। न्या०क०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फल है।[1] केशव मिश्र ने अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ गौ की समानता से युक्त पिण्ड के ज्ञान को उपमान कहा है। उदारणार्थ–नीलगाय को न जानने वाला नगरवासी जब किसी वनवासी से यह वाक्य सुनकर कि "जैसी गाय वैसी नीलगाय" वन में जाता है और वहां इस वाक्य के अर्थ का स्मरण करते हुए, गौ की समानता से युक्त पिण्ड को देखता है, तब उस वाक्यार्थ के स्मरण के साथ गौ की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान ही उपमान प्रमाण कहलाता है। क्योंकि वह उपमिति का कारण है। इस गौ की समानता से युक्त पिण्ड ज्ञान के पश्चात् यह पिण्ड गवय शब्द का वाक्य है। इस प्रकार जो गवय शब्द तथा संज्ञी गवय वस्तु के सम्बन्ध की प्रतीति होती है वह उपमिति कहलाती है। वही उपमिति उपमान का पल है।[2]

कुछ आचार्य सादृश्य ज्ञान की भांति वैधर्म्य को भी उपमिति का कारण मानते हैं उनका कथन यह है कि खड्गमृग पद के वाच्यार्थ को न जानने वाले नगरवासी ने वनवासी से सुना था।

---

1. ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम्।
   सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात् सा करणं मतम्।।
   वाक्यर्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्चते।
   गवयादिपदानां तु शक्तिधीरूपमाफलम्। न्या०सि०मु० 79–80
2. अतिदेशवाक्यार्थस्मरण सहकृत गौ सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम् यथा गवयमजानन्नपि नागरिको "यथा गौस्तथा गवयः कश्चिदारण्यकात्पुरूवाच्छ्रुत्वा वन गतौ वाक्यार्थ स्मरण यदा गौसदृश्यं विशिष्ट पिण्डं पश्यति तदा तदवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गौसादृश्यविशिष्ट पिण्डज्ञानमुपमानमुपमिति–करणत्वात्। तर्क भाषा उ०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि ऊंट से विपरीत ह्रस्व ग्रीवादि अवयवों वाला और नासिका के अग्रभाग में सींग वाला पशु विशिष्ट खड्‌मृग, गैण्डा पद का वाच्यार्थ है इस प्रकार वनवासी पुरुष के वाक्य को सुनकर नगर निवासी ने वन में जाकर जैसे ही पशु को देखा और उक्त वाक्यार्थ के स्मरण से उसको यह ज्ञान हुआ कि यह खड्‌गमृग पद का वाच्यार्थ है, इसी का नाम उपमिति का वैधर्म्य ज्ञान वाक्यार्थ स्मृति ''व्यापार'' तथा उष्ट्रनिरुद्व धर्मवाली व्यक्ति का प्रत्यक्ष सहाकरी कारण है स्मृति को व्यापार और वाक्यार्थ ज्ञान को कारण मानते है पर उक्त दोनों मतो में कारण भेद होने पर भी फल भेद नहीं है।

संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति की उपमिति को करण ग्रहण कर उसे उपमान का फल माना जाता है। इसी से उपमान के तीन भेद किये गये हैं –

साधर्म्योपमान, वैधर्म्योपमान और धर्ममात्रोपमान।[1] साधर्म्योपमान वह है जहां अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान अतिदेश वाक्य के अनन्तर प्रसिद्ध वस्तु की सादृश्यता से होता है, जैसे किसी दृष्ट वस्तु के विषय में वक्ता से सुना कि ''गवय'' प्रसिद्ध वस्तु गौ के समान है। इस वाक्य को सुनकर वन में गये हुए नागरिक के वाक्य को स्मरण कर गौ सदृश वस्तु को देखकर ''गवय'' का ज्ञान प्राप्त करता है। यह साधर्म्योषमान है।[2]

---

1. अत्रातिदेशवाक्यार्थस्त्रिविधः परिग्रह्यते।
   साधर्म्यं धर्ममात्रं च वैधर्म्यं चेति भेदतः।। तार्कि० पृ० 87
2. तत्र यथा गौस्तथा गवय इति श्रुतातिदेशवाक्यस्य पश्चात् वन गतस्य नागरिकस्य वाक्यानुभूतस्य गोसदृशस्यः गवयेः यत् प्रतिसन्धानमयमसौ गो सदृश इति तत्साधम्योपमानम्। न्या०सा०सं०पृ०8

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैधर्म्योपमान वह है जहां ज्ञेय वस्तु प्रसिद्ध विसदृश धर्मों से जानी जाती है। जैसे अश्व क्या है, ऐसा पूछने पर प्रष्टा को यह बताया जाय कि अश्व गो के समान दो खुर वाला नहीं होता है। इस अतिदेश वाक्य के श्रवण से प्रष्टा जब ऐसे पशु को देखता है जो दो खुर वाला नही है तो वह गौ से उसके वैशादृश्य को देखकर एक खुर वाला होने से यह अश्व ही है ऐसा ज्ञान वैधम्योपमान कहलात है।[1] इसको इस प्रकार भी उद्‌धृत किया जा सकता है कि पृथ्वी जल आदि से विरूद्ध धर्म वाली है, ऐसा सुनकर

गन्ध रहित पाषाण को देखकर भी उसमें जल आदि अन्य चार द्रव्यों के धर्मो के अभाव से ज्ञाता को यह ज्ञान हो जाता है। कि यह पृथ्वी है।[2]

धर्ममात्रोंपमान वह उपमान है जहां वस्तु उसी के विशेष लक्षणों से ज्ञात होती है जैसे उष्ट्र लम्बी व टेढी गर्दन वाला है, प्रलम्बमान ओष्ठ तथा कंटीली झाड़ियों को खाने वाला होता है। ऐसा सुनकर जब कोई ऊँट को न जानने वाला ऐसे विशेषण से युक्त पशु को देखता है तो उसे ऊँट का ज्ञान हो जाता है। यह धर्ममात्रोपपान है।[3] इस प्रकार उपमान के तीन भेद किये गये है।

अद्वैतवादी आचार्यो की उपमान समीक्षा

शंकर मत में उपमान

धर्मराजध्वरीन्द्र उपमान का निरुपण करते हुए लिखते हैं कि सादृश प्रमा के कारण को उपमान कहते हैं। वह इस प्रकार है – जिस व्यक्ति ने शहर में गोपिण्ड को देखा हो, वह अरण्य में जाकर जब "गवय" को देखता है चक्षु इन्द्रिय का गवय के साथ सन्निकर्ष होता है, उस समय उसे यह पिण्ड गो सामान है, ऐसा ज्ञान होता है।

---

1. वैधर्म्योपमानं तु कीदृगश्व इति प्रश्ने गवयादिवत् द्विशफो न भवत्यश्व इत्यतिदेशवाक्याद्‌गवादिवैशादृश्वमधिगतवतः पश्चादेकशफत्वादि रुपस्य वैशदृशस्य तुरंगमे प्रत्यभिज्ञानम्। तदैव
2. वैधर्म्यविशिष्टपिण्डदर्शनं करणं जलादिविधर्मवती पृथ्वी इत्यातिदेशवाक्यार्थ स्मृति व्यापारः। दिनकरी – 263
3. न्या०सा०से०पृ० 88

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदनन्तर उसे इस गवय जैसी ही मेरी गाय है, निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इन दो ज्ञानों में से अन्वय और व्यतिरेक के बल से स्वयं में होने वाला जोसादृश्यज्ञान है, वह करण उपमान है और गौनिष्ठ गवय का सादृश्य ज्ञान उपमिति है।[1]

प्रमाण रूप सादृश्यज्ञान में "गौ" की गवय से उपमा दी गई है। अर्थात इस ज्ञान में "गौ" उपमान और गवय उपमेय है। और प्रमारूप सादृश्य ज्ञान में "गौ" को "गवय" की उपमा दी गई है। अर्थात इस ज्ञान में "गवय" उपमान और "गौ" उपमेय है। यही दोनों में भेद है। इनमें प्रथम सादृश्य ज्ञान द्वितीय सादृश्यज्ञान का जनक, कारण है और तृतीय सादृश्य ज्ञान उसका फल है। इस प्रकार इनमें जन्य–जनक भाव है। इस सादृश्य ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियादिकों से नहीं होती, अतः उपमान एक पृथक प्रमाण सिद्व होता है।

उपमान को वेदान्ती तथा नैयायिक दोनों ही स्वीकार करते हैं परन्तु उनमें मतभेदहै। नैयायिको का अभिमत है कि "उपमान" प्रमाण किसी आरण्यक व्यक्ति से "गवय" गौसदृश होता है, सुनकर अरण्य में गये हुए शहरी व्यक्ति का "गवय" के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर यह गोसदृश है ऐसा गो सादृश्य ज्ञान होता है। तदनन्तर आरण्यक व्यक्ति के बताये हुए "गवय" गोसदृश होता है "वाक्यार्थ का स्मरण होता है। इसके पश्चात् यह गवय पशु "गवय" शब्द का वाच्य अर्थ यह ज्ञान होना ही उपमिति है। इसके मत में उपमान प्रमाण वस्तुबोधक न होकर शक्ति ग्राहक है। "गवय" पद की एक विशिष्ट पशु में शक्ति है–

---

1. अथोपमानं निरुप्यते। तत्र सादृश्य प्रमाकरणमुपमानम्। तथा हि, नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुष वनं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः, अयं पिण्डो गो सदृश इति। तदनन्तरं भवति निश्चयः अनेन सदृशीमदीया गोरिति। तत्रान्वययतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणम्। गोनिष्ठसादृष्यज्ञानं फलम्। वे०परि०अनु०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार का ज्ञान कराना ही उपमान का प्रयोजन है।

परन्तु वेदान्तियों के मत में "उपमान" का यह प्रयोजन नहीं है। उनके मत में इस गवय जैसी ही मेरी गौ – यह ज्ञान होता है। इस ज्ञान का होना ही उपमान प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से भी हो सकेगा उसके लिए उपमान को एक स्वतन्त्ररूप से प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है तो इसका उत्तर यह है कि यह गवयनिष्ठसादृश्य ज्ञान प्रत्यक्ष से भी हो सकता है। यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उस समय गो का व्यक्ति से इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं रहता। "अनुमान से भी उसका सादृश्य ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि "गवय" में रहने वाला "गो" का सादृश्य "गो" में रहने वाले गवय के सादृश्य का लिंग नहीं बन सकता है। अतः उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है।

रामानुज मत में उपमान प्रमाण –

उत्तर मीमांसीय विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय ज्ञान के मात्र तीन–प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ही स्रोत स्वीकार करते हैं। अन्य ज्ञान के साधनों का प्रत्यक्षादि में अन्तर्भाव करते हैं। अतः उपमान का भी अनुमान आदि में अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे अतिदेश वाक्य के स्मरण के अर्थ की सहायता से सादृश्य विशिष्ट पिण्ड का ज्ञान उपमान कहलाता है। गवय को नहीं जानने वाला व्यक्ति जैसी गौ होती है। वैसा ही गवय होता है। इस तरह की कहीं से वनवासी की बात सुनकर वन में जाकर अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करते हुए जब गौ के सादृश्यविशिष्ट पिण्ड को देखता है। तो उस वाक्य के अर्थ के स्मरण की सहायता से उसे गो सादृश्य विशिष्ट पिण्ड का ज्ञान होता है। इसी को उपमान कहते है। उस ज्ञान के स्मरण स्वरूप होने के कारण प्रत्यक्ष में अन्त

---

1. न चेदं प्रत्यक्षेण संभवति, गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्निकर्षात्। नाप्यनुमाने गवयनिष्ठगोसादृश्यस्यातल्लिंगत्वात्। वे०परि०उ०प्र०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भार्व होता हे। उसका व्याप्तिग्रह सापेक्ष होने से अनुमान में अन्तर्भाव होता है। किंच वह ज्ञान वाक्यजन्य होता है। अतः एव उसका शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव होता है।1 इस प्रकार उपमान ज्ञान का सर्वात्मना प्रमाणत्रय में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः उपमान को एक अतिरिक्त प्रमाण मानना उचित नहीं है।

वल्लभाचार्य दर्शन में उपमान :–

बल्लभ वेदान्ती भी उपमान प्रमाण को पृथक प्रमाण स्वीकार नहीं करते है। इसके खण्डन के लिए वल्लभ वेदान्ती का कथन है कि सादृश्य तथा अतिदेश वाक्यार्थ के स्मरण के साथ नेत्रेन्द्रिय से ही संज्ञा तथा संज्ञी के ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, सादृश्यज्ञान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना युक्ति संगत नहीं है। अन्यथा योग्यानुपलब्धी को भी प्रमाणान्तर मानन पड़ेगा। इस प्रकार उपमान का प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यदि कहें कि उपमान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करने से तो उपमान की परोक्षता नष्ट होती है तो वल्लभ वेदान्ती को इष्टापत्ति है। अथवा उपमान का मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। क्योंकि अति देश वाक्य से लक्षण से पूर्ण जाना हुआ और पदार्थ के स्फूरण मात्र से स्फुरित सादृश्य की संस्कार द्वारा शब्दाभिव्यक्ति होने पर वाक्य के सहकार से ही मानसिक गवयपद वाक्य पदार्थ का संज्ञासंज्ञि

---

1. एवमनुमाने निरूपिते उपमानादेरनुमानादावन्तर्भावः। यथा अतिदेशवाक्यार्थ–स्मरणसहकृतसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमनुमानम्। गवयमजानन्नऽपि यथा गोस्तथा गवय इति कुतश्चिदारण्यकाच्छ्रुत्वा वनं गतो अतिदेशवांक्ययार्थ स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्ट पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसह–कृतोगोसादृ– यविशिष्टपिण्डज्ञानं जायते तदुपमानमित्युच्चते। तस्य स्मरणरूपत्वात्प्रत्य– क्षेऽन्तर्भावः व्याप्तिग्रहापेक्षत्वादनुमानेऽन्तर्भावः वाक्यजन्यत्वाच्छब्दे चान्तर्भावः। य०म०दी०द्वि०अ०पृ०48

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिच्छेदात्मक मानसिक ज्ञान हो जायेगा। प्रसिद्ध पद को बताने वाले वाक्य के स्मरण के साथ ही मानसिक ज्ञान हो जाता है जैसे मधुकर आदि पद के शक्ति ग्रह की उपपत्ति। उसी के पश्चात एतत्पदवाच्य यह पदार्थ है – उसे मैं जानता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है जो मानसिक प्रत्यक्ष का निश्चायक है।[1]

उपमान प्रमाण के विषय में विभिन्न आचार्यो का मत

जैन दर्शन के अनुसार उपमान की समीक्षा

जैनाचार्यो ने तीन ही प्रमाणों की उपादेयता को स्वीकार किया है। ये उपमान को पृथक प्रमाण नहीं मानते, अपितु परोक्ष प्रमाण में उपमान की प्रत्यभिज्ञा का समावेश करते है। जैन दर्शन के विद्वान् पं0 आचार्य श्री हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण मीमांसा के प्रत्यभिज्ञा निरूपण में उपमान को पृथकत्वेन नहीं स्वीकारा है। उपमान प्रमाण को जैन न्याय में उसी प्रकार अनुपयुक्त माना है जिस प्रकार किसी मानव के छः अंगुलियों का होना अनुपयुक्त सिद्व होता है। वे अनुमान में ही उपमान की संक्षिप्त व्याख्या करते हैं।

बौद्ध दर्शन

बौद्धाचार्यो ने भी उपमान को पृथक प्रमाण स्वीकार नहीं किया है। ध र्मकीर्ति ने मुख्यतया दो ही प्रमाणों को स्वीकार किया है। प्रत्यक्ष और अनुमान इनके अनन्तर शब्द प्रमाण को भी सिद्ध किया लेकिन प्रमाण संख्याविप्रतिपत्ति निराकरण में प्रथम दो का ही नाम लिया है। अतः इन्होने उपमान को कोई महत्व नहीं दिया है। इससे सिद्व है कि बौद्ध दार्शनिक भी उपमान प्रमाण को स्वीकार नही करते हैं।

---

1. प्रस्थान रत्नाकर – पृ० 148

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साख्य और योग में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान तथा शब्द दो प्रमाण और स्वीकार किये हैं। तथा उपमानादि अन्य प्रमाणों का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव स्वीकार किया है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्य कारिका की टीका करते हुए अपनी तत्वकौमुदी में लिखा है कि प्रमाण सामान्य के लक्षणों एवं उसके भेदों के लक्षणों के हो जाने पर जो अन्य उपमानादि प्रमाण प्रतिवादियों के द्वारा माने जाते हैं वे इन तीनों में ही अन्तर्भाव या समाविष्ट हो जाते है।[1] जैसे – जैसी गाय होती है वैसी वन गाय या नी़ल गाय होती है। वह वाक्य उपमान माना जाता है तो इससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान आगम प्रमाण ही है और जो "गवय" शब्द गाय के सदृश का वाचक है यह ज्ञान है तो वह भी अनुमान ही है। जो शब्द जिस अर्थ में बृद्धों के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। वह अन्य वृत्ति या व्यक्ति के अभाव में उस अर्थ का वाचक होता है जिस प्रकार "गो" शब्द गोत्व का वाचक है। अतः "गवय" शब्द इसी रूप में गोसदृश के लिए प्रयुक्त होता है। अतः गोसदृश का ही वाचक है, इस प्रकार यह ज्ञान अनुमान ही है। गवय के प्रत्यक्ष गौचर होने पर उसके विषय में जो गाय के सादृश्य का ज्ञान होता है। वह प्रत्यक्ष ही है।[2] इसलिए स्मृति गोचर गाय में गवय के सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष है क्योंकि ऐसा नहीं है कि गाय गवय के सदृश है और गवय गाय के सदृश है। एक जाति के बहुत के बहुत से अवयवों की समानता का दूसरी जाति में होना ही एक जाति का दूसरी जाति में सादृश्य कहा जाता है और इस समानता का होना

---

1. एवं प्रमाणसामान्यलक्षणेषु तद्विशेषलक्षणेषु च सत्सु यानि प्रमाणान्त– राण्युपमानादिनि प्रतिवादिभिरभ्युपेयन्ते तान्युक्तलक्ष्णेष्वेव प्रमाणेष्वन्तर्भवन्ति। सा०तत्व०को०का० 5
2. तथा हि— उपमानं तावत् "यथा गोस्तथा गवयः "इति वाक्यम्, तज्जनिता धीरागम एव। योऽप्ययं "गवयशब्दो गोसदृश वाचकं इति प्रत्ययः सोऽप्युनुमानमेव। यो हि शब्दो यत्र——— ज्ञानमनुमानमेव। यस्तु गवयस्य चक्षुः सन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत् प्रत्यक्षमेव। सा०तत्वको०का०5

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों जातियों में एक ही है। फलतः उस समानता का होना यदि गवय में प्रत्यक्ष है तो गाय में भी प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार उपमान का कोई प्रमेय नहीं है। जिसके लिए उपमान रूप भिन्न प्रमाण माना जाये।[1] अतः उपमान कोई पृथक् प्रमाण नहीं है।

मीमांसक –

मीमांसाचार्यो के अनुसार भट्टीय परम्परामें उपमानादि छः प्रमाणों में उपमान की उपादेयता को स्वीकार किया गया है। प्रभाकर पांच ही मानते है, उनके मत में भी उपमान को पृथक प्रमाण मानना उचित है। अतः मीमासकों के अनुसार उपमान एक पृथक् प्रमाण है। उपमान की व्याख्या इन आचार्यों ने न्याय के अनुसार ही की है। परन्तु दोनों आचार्यो में इसके विषय में थोड़ा सा अन्तर है। कुमारिल भट्ट के अनुसार गाय को पहले ही से जानने वाला मनुष्य जंगल में जाकर किसी गवयाकृति को देखता है और सादृश्यवश उसे अपनी गाय की याद आजाती है। वह सोचता है कि सम्मुख उपस्थित जानवर मेरी गाय के सदृश ही है। इस सादृश्य के आधार पर उसका वर्तमान गवय के सादृश्य से युक्त अपनी गाय का स्मरण ही उपमिति है। इसको केवल प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है क्योकिउपमान का आधार सदृश्य और स्मरण (गाय और गवय) विषयों को लक्ष्य करके है। प्रत्यक्ष इन्द्रिय सनिन्कर्ष मूलक होता है। वह सन्निकर्ष केवल गवय का है, गाय का नहीं। यही उपमान को पृथक प्रमाण मानने का कारण है। जबकि प्रभाकर सादृश्य द्वारा अदृष्ट विषयक ज्ञान को उपमान कहते हैं। गवय को प्रत्यक्ष से देखते हुए सादृश्य द्वारा अप्रत्यक्ष गाय का स्मरण ही जाता है।

---

1. स चेंद गवये प्रत्यक्षः गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति यत्र प्रमाणन्नतरमुपमानं भवेत्। इति न प्रमान्तरमुपमानम्। तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समालोचना

उपमान को प्रमाण की पदवी पर प्रतिष्ठित करने वालों में सबसे मुख्य है न्याय दर्शन और उसी का अनुकरण करने वाले हैं मीमांसा और वेदान्त/पूर्व मीमांसा और वेदान्त का प्रधान उद्देश्य प्रमाण विवेचन नहीं है। वह तो उसे ज्ञान का गौण साधन मानते हैं। प्रमाणों का विशेष विवचेन तो न्याय का ही लक्ष्य है। उनमें भी उपमान पर विशेष बल देने वाला न्याय ही है। उपमान को अन्य प्रमाणों की अपेक्षापृथक् प्रमाण मानने पर चार्वाक बौद्ध, जैन वेशेषिक सांख्य, योग और कुछ नैयायिकों ने भी आपत्तियाँ की हैं। चार्वाक् उपमान को प्रत्यक्ष से पृथक नहीं मानता। दिंगनाग जैसे बौद्ध भी उपमान की अनुमान से पृथक सत्ता स्वीकार नहीं करते। जैन उसे प्रत्यभिज्ञा कहता है। सांख्य और योग उसे शब्द और अनुमान इन दोनों का मिलाजुला रूप मानते हैं और भासर्वज्ञ जैसे नैयायिक शब्द में अन्तर्भाव करते है।

यदि सारग्रहण की प्रवृत्ति को अपनाकर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार किया जाये तो उपमान के प्रति न्याय का आग्रह उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि हम ऐसा कोई प्रयोजन नहीं देखते जिसकी सिद्धि प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से न होती हो और उपमान प्रमाण से होती हो। उपमान को पृथक प्रमाण मानने में न्याय का तर्क यह है कि प्रत्यक्ष से आप गौ को अर्थ देख सकते हैं और गवय को देख सकते है। अनुमान से गौ सादृश्य का ज्ञान कर सकते हैं। आप्त वाक्य से यथा गौ तथा गवय इस ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं, तथा प्रत्यभिज्ञा से गौ सादृश्य का स्मरण कर सकते हैं किन्तु यह पुरोवर्ती द्रव्य ही गवय पद का वाच्य है ऐसी प्रतीति उपमान के अतिरिक्त और कोई नहीं करा सकता है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि "इदं द्रव्यं गवयपदवाच्यम्" यह वाक्य शब्द प्रमाण से भिन्न कैसे है। इसमें अधिकांश अंश तो शब्द प्रमाण का है। उससे अल्प प्रत्यक्ष का योगदान है और उससे न्यून अनुमान प्रमाण उपयोगी है। उपमाण के प्रति न्याय का मोह हमारी समझ में नहीं आता।

यदि हम उपमान पद की रचना पर ध्यान दें तो हम बडी सरलता से

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस निष्कर्ष पर पहूचँ सकते हैं कि उपमान प्रमाण तो वास्तव में अन्य प्रमाणो का सार भूत है। मानस्य समीपे इति उपमानम "अथवा' मानमुपगतमिति उपमानम् इन दोनों व्युत्पत्तियों का निष्कर्ष यही बताता है कि उपमान कोई पृथक प्रमाण नहीं है। अपितु यह अन्य प्रमाणो के निकट गया हुआ उसी से मिलता जुलता प्रमाण है। चूँकि यह अन्य प्रमाणो से मिलकर बना है इसलिए इसकी थोडी–थोडी समानता अन्य प्रमाणो में मिल जाती है यदि "इदं गवय पद वाच्य' ऐसे तुच्छ ज्ञानो के लिए भी पृथक प्रमाण की आवश्यकता मानी जायेगी तब तो उपमेय नेत्रों का काजल और भौं को देखने के लिए दपर्ण को भी प्रमाण मानना पडेगा और तब प्रमाणो की संख्या अगण्य हो जायेगी।

दूसरी बात यह है कि जैसे प्रत्यक्ष का प्रयोजन संसार के वैचित्र को देखना है, अनुमान का प्रयोजन जगत वैचित्रय् के द्वारा ईश्वर की सिद्धि करना है तथा आगम प्रमाण का लक्ष्य वेदकर्तृत्व की सिद्धि के द्वारा ईश्वर का नित्यत्त्व और सर्वज्ञत्व सिद्ध करना है वैसे ही उपमान का कोई प्रयोजन हम नही देखते। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रमाणो का लक्ष्य लौकिक अर्थो का ज्ञान नहीं है। अपितु इनका लक्ष्य आध्यात्मिक है। यदि लौकिक अर्थ ज्ञान ही इनका प्रयोजन होता तो दर्शन शास्त्र को इतने बडे उहा पोह और कष्टसाध्य मानसिक व्यायाम की आवश्यकता नहीं होती। उसके लिए तो आबालगोपाल सभी का ज्ञान पर्याप्त है। यदि उपमान का कोई प्रयोजन खोजा भी जाये तो वह लौकिक ज्ञान का अतिक्रमण करके स्थित नही हो सकता। इसलिए जब अन्य दार्शनिक अपने प्रयोजन की सिद्धि में उपमान प्रमाण के अभाव को विघ्न नही समझते तो न्याय पूर्णमीमांसा और वेदान्त का उपमान के प्रति मोह एक अतिरिक्त प्रयास ही मानना होगा। क्योंकि न तो उपमान से ईश्वर की सिद्धि हो सकती है न वेदो का कर्तृत्व सिद्ध हो सकता है और न ही किसी संस्कार कर्मफल पुनर्जन्म आदि अदृष्ट पदार्थों की सिद्धि हो सकती है। अतः हमारी मान्यता यह है कि उपमान का जो तुच्छ लौकिक प्रयोजन है वह अन्य प्रमाणों से ही सिद्ध कर लेना चाहिए और गौरव दोष से बचना चाहिए।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवम अध्याय
शब्द–प्रमाण

चार्वक् बौद्ध, वैशेषिक दर्शन को छोडकर अन्य सभी भारतीय दर्शनों में शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में ग्रहण किया है। अद्वैत वेदान्त व न्याय शास्त्र में ज्ञान साधन का यह चतुर्थ प्रमाण है। न्याय दर्शन में शब्द शक्ति के प्रकरण में कहा है कि जिसको पदार्थ का ठीक–ठीक साक्षात्कार हुआ हो तथा यथार्थ देखे हुए पदार्थ की यथार्थ कथन करने की इच्छा रखता हो ऐसे उपदेष्टा का नाम आप्त और आप्त द्वारा कथन किये हुए वाक्य का नाम शब्द प्रमाण है।[1] महर्षि वात्स्यायन ने आप्त की व्याख्या करते हुए कहा है कि वस्तुतः धर्म का साक्षात्कार करने वाला जैसा देखा वैसे पदार्थ को कहने की इच्छा से प्रयुक्त हुआ वक्ता आप्त कहलाता है।[2] पदार्थ का साक्षात्कार करना आप्ति है,उससे जो प्रवृत्त होता है वह आप्त है। यह यद्यपि,आर्य तथा म्लेच्छो का समान लक्ष्ण है और उसी प्रकार सबके व्यवहार चलते है।[3] और यह वाक्य दो प्रकार का है। दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक।[4] जिसका इस लोक में विषय देखा जाता है वह दृष्टार्थक है, जिसका परलोक में प्रतीत होता है, वह अदृष्टार्थक है। इस प्रकार ऋषि वाक्यों और लौकिक वाक्यों का विभाग है। यह इसलिए है कि यह न मान लें कि दृष्टार्थक आप्तोदेश ही प्रमाण है, क्योंकि वह अर्थ का निश्चय करा देता है, अदृष्टार्थक भी प्रमाण है क्योकि वह अर्थ का अनुमान कराता है।[5]

---

1. आप्तोपदेशः शब्दः। न्या० द० 1/1/7
2. आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। न्या० वा० भा० 1/1/7
3. तदैव
4. स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात। न्या० द० 1/1/8
5. न्या० वा० भा० 1/1/8

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिगंनाग ने इस पर आक्षेप किया है कि आप्तों का उपदेश शब्द प्रमाण है, इस वचन से क्या आप्तों का यथार्थ वक्ता होना बतलाया जा रहा है अथवा पदार्थ का शब्द के अनुकुल होना? यदि आप्तों का यथार्थ वक्ता होना बतलाया जा रहा है तो वह अनुमान से ज्ञात हो जाता है। यदि अर्थ का शब्द के अनुकुल होना बतलाया जा रहा है तो वह भी प्रत्यक्ष से उपलब्ध करता है तब अर्थ का शब्द के अनुकुल होना जान लेता है। इसके उत्तर में उद्योतकर कहते हैं कि यह आपका आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि आपने सूत्र का अर्थ भली भातिं नही जाना है– सूत्र का यह अर्थ नही है। कि आप्तों का उपदेश शब्द है, अपितु सूत्र का अर्थ है कि इन्द्रिय से सम्बद्ध या असम्बद अर्थों में जो शब्द के उल्लेख के साथ यथार्थ ज्ञान होता है वह आगम का विषय है। अतः आपका आक्षेप निरर्थक है।[1] तर्क सम्मत आक्षेप के न होने से शब्द प्रमाण की सार्थकता सिद्ध होती है। आने वाले सभी न्यायार्चों ने महर्षि गौतम के शब्द के इस लक्षण को स्वीकार किया है। तर्क संग्रह में भी शब्द प्रमाण की व्याख्या में इस प्रकार कहा है– आप्त वाक्यं शब्द है।[2]

न्यायसिद्धान्त मुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथ पंचानन ने कहा है कि शब्दबोध के प्रति पद ज्ञान कारण है, पदार्थ ज्ञान व्यापार शाब्दबोध फल है और शक्ति सहायक है। ताप्पर्य यह है कि शक्ति ज्ञान से जन्य पदार्थ की उपस्थिति के द्वारा शब्दबोध रूपि बल उत्पन्न होता है।[3] शब्दबोध में पद ज्ञान ही करण है।

---

1. आप्तोपदेशः शब्द इति किमाप्तानामविसंवादित्वं प्रतिपाद्यते अर्थार्थस्य तथाभाव इति, यद्याप्तानामविसंवादित्वं प्रतिपाद्यते तदनुमानात्। अर्थार्थस्य तथाभावः सोऽपि प्रत्यक्षात्। यदा ह्ययमर्थं प्रत्यक्षत उपलभते तदा तथाभावमर्थस्य प्रतिपद्यते इति। तन्न सूत्रार्थापरिज्ञानात–नायं सूत्रार्थः आप्तोपदेश शब्द इति,अपितु इन्द्रियसम्बद्धासम्बद्धेष्वर्थेषु या शब्दोल्लेखेन प्रतिपत्तिः सा आमस्यार्थः। न्या० वा० 1/1/7
2. आप्तवाक्यं शब्दप्रमाणम्–तर्क संग्रह।
3. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्तपदार्थधीः। शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।न्या० सि० मु०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञायमान पद ही करण यही है, क्योकि शुकसारिका द्वारा पढ़े गये श्लोक में श्रुयमाण पद तो रहता नही, इसलिए शाब्दबोध हो नही सकता।[1] शब्द और अर्थ में जो अर्थ स्मरण के अनुकुल परस्पर सम्बन्ध विशेष उसका नाम वृत्ति है। जो शक्ति और लक्षण के नाम से दो प्रकार की होती है। शक्ति ज्ञान का उपयोग तो पद ज्ञान जन्यपदार्थोपस्थिति में ही हैं। क्योकि पद ज्ञान के रहने पर भी अर्थ में शक्ति गृह से, शक्ति ग्रह के न रहने से शक्तिरूप सम्बन्ध या लक्षण रूप सम्बन्ध के द्वारा स्मरण नही हो सकता। शक्य सम्बन्ध को लक्षण कहते है। पद ज्ञान तो एक सम्बन्धी के ज्ञानसे दूसरे सम्बन्धी का स्मारक है जैसे हाथी का ज्ञान होने से हाथीवान् का अथवा हाथीवान् के ज्ञान से हाथी का स्मरण हो जाता है। जैसे पद और अर्थ में अर्थात्मक दूसरे सम्बन्धी का स्मरण होता है किन्तु जिन्हे शक्तिग्रह नहीं है,उन्हे शब्दबोध नही होता।[2]

पद के साथ पदार्थ के सम्बन्ध विशेष का नाम शक्ति है। वह इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए ''इस ईश्वरेच्छा के रूप में है।[3] न्याय का मत है कि'' अमुक पद से अमुक अर्थ का ग्रहण करना चाहिए ''इस प्रकार की ईश्वरीय इच्छा विशेष हुआ करती है। लौकिक मनुष्यों के द्वारा रखे गये नाम भी'' दसवे दिन पिता नामकरण करे ''इस श्रुति वाक्य के आधार पर ईश्वरीय इच्छानुसार ही समझना चाहिएं। नव्य न्याय में ईश्वरीय इच्छा के स्थान पर केवल इच्छा को ही शक्ति का कारण माना गया है। अतः उनके मतानुसार आधुनिक लौकिक संकेत में भी शक्ति विद्यमान रहती है, इसमें कोई आपत्ति नही हैं।[4] आधूनिक संकेत सहित अपभ्रंशादि शब्दो से भी अर्थ का बोध इसी नियम के आधार पर होता है।[5]

---

1. न्या० सि० मु० का० 81
2. वृत्तिश्च ——एकसबन्धिज्ञानविधयार्थ0 न्या०सि०मु०
3. शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः स चास्माच्छव्दादयमर्थो बोधव्यः इतिश्वर० न्या०सि०मु०श०ख०
4. तदैव
5. तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याहार से भी शक्ति का ज्ञान होता है। जैसे प्रयोजक वृद्ध ने घट लाओ'' कहा इसे सुनकर प्रयोज्यवृद्ध घट लेकर आया। पास में बैठे हुए बालक ने प्रयोजक वृद्ध के वाक्य तथा प्रयोज्य वृद्ध के कार्य को देखकर ''घट लाओ'' इस वाक्य का ''घट लाना'' अर्थ है, यह निश्चय करता है। इसके बाद घट के लाओ ''गो लाओ इत्यादि वाक्य को सुनकर एक पद के साथ किसी दूसरे पद को जोड़कर या किसी अन्य पद को घटादि पदार्थों की कार्यान्वित घट में शक्ति ग्रहण करता है। जैसे घटं आनय और ''घटं नय'' के आनय हटाकर नय को रखा। ''कार्यान्विते पद का अर्थ है कि एक पद दूसरे पद के साथ क्रियान्वित होकर ही पहले सुना जाता है बाद में आवापोद्वाय के कारण अर्थ भेद होने पर उन–उन पदों का अलग–अलग अर्थ समझा जाता है।

सामान्यतः शब्द दो प्रकार का होता है – ध्वन्यात्मक और वर्णनात्मक। ध्वन्यात्क शब्दों का न्याय के अनुसार कोई अर्थ नही होता, किन्तु आधुनिक भाषा विज्ञान शास्त्री ध्वनियों को भी सार्थक मानते हैं। वर्णात्मक शब्द दो प्रकार के होते हैं। सार्थक और निरर्थक। सार्थक शब्द शक्ति विशेष से युक्त होते हैं और वे ही वाक्यों में प्रयोग किये जाते हैं। निरर्थक शब्दों में कोई शक्ति नहीं होती है। शक्तियुक्त सार्थक शब्द ही पद कहे जाते हैं।

न्याय सिद्धान्त के अनुसार शक्ति सम्पन्न पद चार प्रकार के होते हैं– योगिक, रूढि, योगरूढ़ि तथा यौगिकरूढि। जहां प्रकृति प्रत्ययरूप अवयवार्थ ज्ञान पूर्वक पदार्थ का ज्ञान होता है, वह यौगिक पद कहा जाता है – जैसे पाचकादि पद। ''पच'' धातु से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल'' प्रत्यय करके पाचक बनता है। अतः पाचक पद अपने अवयव ''पच्''

---

1. न्या०सि०मु०शु०ख०
2. शक्तिपदं तच्चुतर्विधम् क्वचिद्यौगिकं क्वचिद्रूढ़ं, क्वचिद्योगरूढ़, क्वचिद्योगिकरूढम्। न्या०सि०मु०श०ख०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धातु तथा कर्तृवचाक "ण्वुल" प्रत्ययार्थ के द्वारा पाक कर्तृरूप अर्थ का बोध कराता है। रूढि पद वह कहलाता है जो अवयव शक्ति की अपेक्षा के बिना ही समुदाय शक्ति मात्र से अपने अर्थ का बोध कराये। जेसे गो, मण्डल आदि पद अवयवार्थ की अपेक्षा के बिना ही समुदाय शक्ति मात्र से अर्थ की प्रतीति कराते हैं, अतः रूढ़ि पद कहलाते हैं। जिन पदों से समुदाय शक्ति और अवयव शक्ति दोनों की अपेक्षा से अर्थ बोध पाया जाये उनको योगरूढ कहते हैं जैसे पंकज आदि शब्द। पंकज शब्द पंक शब्द पूर्वक "जन" धातु ओर "ड" प्रत्यय – इन तीनों अवयवों के अर्थ को लेकर "पंकज" शब्द कमल रूप अर्थ का वाचक है। यद्यपि अवयव शक्ति के अनुसार पंक से उत्पन्न किसी भी पदार्थ के लिए पंकज शब्द का प्रयोग हो सकता है। किन्तु समुदाय शक्ति के आधार पर पंकज शब्द कमल अर्थ में ही रूढ़ है। ऐसे स्थलों में समुदाय में शक्ति से उपस्थित अर्थ में अवयवो का अन्वय सानिध्य के कारण होता है। जिन पदों से यौगिक और रूढ़ अर्थो का बोध स्वतन्त्र रूप से होता है। उन्हें यौगिक रूढ़ि कहते हैं। जैसे उद्भिद आदि पद। इसमें अवयव शक्ति के द्वारा भूमि का उद्भेदन कर निकलने वाले तरूगुल्मादि अर्थ का और समुदाय शक्ति से योग–विशेष का बोध होता है।[1]

न्याय सिद्धान्त के अनुसार पदों की वृत्ति दो प्रकार की होती है – शक्ति और लक्षण। इसी शक्ति को दूसरे शास्त्रों में अभिधा कहा जाता है। शक्ति का अर्थ है– संकेत के अनुकूल पद और पदार्थ का सम्बन्ध। इस विषय में दार्शनिकों के भिन्न–भिन्न मत हैं कि पद का जिस अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है, वह क्या है, व्यक्ति, जाति अथवा जातिविशिष्ट व्यक्ति? यदि व्यक्ति में संकेत मानते हैं तो व्यक्ति अनन्त होने से उनमें संकेत ग्रहण सम्भव नहीं होगा। जाति पक्ष में किसी एक पद का उच्चारण

---

1. यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम्। यथा पाचकादिपदम् यत्रावयव शक्तिनैरपेक्ष्येण..........। यत्र तु यौगिकार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्रेण बोधस्तद्योगिकरूढ़म् यथाद्भिदादिपदम्। तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरूगुल्मादिरपि बुध्यते यागविशेषोऽपीति। –तर्क भा०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने पर जाति मात्र का बोध होना चाहिए। एवं प्रवृत्ति निवृत्ति आदि क्रियायें भी जाती में ही होनी चाहिए जो कि सम्भव नहीं है। अतः जाति और व्यक्ति दोनों पक्ष युक्त नहीं है। अथवा जाति में शक्ति मानकर व्यक्ति को आक्षेपगम्य माना जाय यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तद्विषयक शब्धबोध के प्रति पदज्ञान जन्य तद्विषयक् उपस्थिति कारण होने से जाति में शक्ति मानने पर पद ज्ञान के अधीन जाति रूप अर्थ की ही उपस्थिति है व्यक्ति की नहीं, अतः व्यक्ति का शब्द बोध में मान किसी भी प्रकार न हो सकेगा। अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही शक्ति स्वीकार करना चाहिए न कि केवल जाति और व्यक्ति में यही न्याय सिद्धान्त है।[1]

पदों में विद्यमान इस शक्ति का ग्रहण व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवचन, व्यवहार वाक्य शेष, विवरण तथा प्रसिद्ध पदों के सानिध्य से भी होता है। किन्तु नैयायिकों का विचार है कि शक्ति ग्रहण के लिए सर्व प्रथम व्यवहार ही सर्वोत्तम साधन है। उदाहरणर्थ जब कोई बालक यह देखता है कि किसी पुरूष ने किसी दूसरे पुरूष से कहा कि ''घोड़ा लाओ'' जब वह पुरुष घोड़ा ले आता है। फिर उनसे कहा कि इसे ले जाओ तो वह उसे ले जाता है। यह सब देखकर बाालक अनुमान करता है तथा उस प्रयत्न के द्वारा अश्वानयन के सम्बन्ध में उसके ज्ञान का अनुमान करता है, तदनन्तर यह जिज्ञासा होने पर भी इस ज्ञान का कारण क्या है, बालक उक्त शब्द को ही अनुमान

---

1. ———1 तत्र जातावेव शक्तिर्न तु व्यक्तौ व्यभिचारादानन्त्याच्च। व्यक्तिं विना जातिमानस्यासम्भावादव्यक्तेरपि मानमिति केचित् तन्न शक्तिं बिना व्यक्तिभानानुपपत्तेः न च व्यक्तौ लक्षण अनुपपत्तिप्रतिसन्धानं विनापि व्यक्तिबोधात्। न च व्यक्तिशतावनन्त्यं सकलव्यक्तावेकस्या एव शक्तेः स्वीकारात्। न चाननुगमः गोत्वादेवानुगमकत्वात। ——— तस्यात्तज्जात्या–कृतिविशिष्टतत्तद्व्यक्ति बोद्वानुपयत्या कलप्यमाना शक्तिर्जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्तौ विश्राम्यतीति।–तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा ज्ञान का हेतु निश्चित करता है। इसके पश्चात अन्वय व्यतिरेक के आधार पर अश्व आनय आदि प्रत्येक पद का अर्थ निश्चित करता है।

शक्यार्थ सम्बन्ध को लक्षण कहते हैं जिसके द्वारा शक्यार्थ से सम्बन्धित अशक्यार्थ की प्रतीति होती है उसे लक्षणा कहते है। उदाहरणार्थ–"गंगायां घोषः "गंगा में घोष है इत्यादि वाक्यो में गंगा आदि पद से लक्षण के द्वारा तटादिरूप अर्थ की प्रतीति होती है। गंगा पद में नियमत प्रवाह रूप अर्थ को प्रकट करने की शक्ति है। किन्तु इस वाक्य में गंगा शब्द के यथोपस्थित वाक्यार्थ के ग्रहण करने पर उसका घोष के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता है। अतः यहाँ लक्षण के द्वारा वाक्यार्थ बोध के उपपादन के लिए गंगा शब्द के शक्यार्थ प्रवाह से सम्बन्धित तट रूप अर्थ का ग्रहण किया जाता है। लक्षणा में तात्पर्यानुपपत्ति को कारण माना जाता है अर्थात वक्ता का तात्पर्य अभिधा शक्ति से उपपन्ननही होता तो उसके लिए लक्षणा का आश्रय किया जाता है जैसे काकेभ्योदधिरक्षताम्" अर्थात कौवों से दही की रक्षा करो, इत्यादि स्थलों में यदि यथोपस्थिति सामान्य शक्यार्थ का ही ग्रहण किया जाये तो वक्ता का तात्पर्य उपपन्न नहीं होता। वक्ता का तात्पर्य उपपन्न नहीं होता। वक्ता का तात्पर्य केवल कौवों से ही दही की रक्षा करना है यह नहीं है अपितु दधिभक्षक विनाशक जितने भी जन्तु हैं, उन सबसे दही की रक्षा करना यह है। इस पर यदि लक्षणा का बीज मुख्यार्थ बाध अथवा अन्यवानुपपत्ति को मानते हैं तो उक्त दोनों स्थलों में इन दोनों निमित्तों में से किसी एक के भी उपस्थित न होने से अर्थात मुख्यार्थ एवं अन्वय की उपपत्ति होने से लक्षण का आश्रय नहीं किया जा सकेगा। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षण का निमित मानना चाहिए, यह नैयायिकों का मन्तव्य है। इस प्रकार तात्पर्यनुपपत्ति को निमित्त मानने पर चुंकि उक्त स्थलों में शक्यार्थ के ग्रहण से वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता अतः गंगा के शक्यार्थ प्रवाह से सम्बन्धित तटरूप अर्थ में गंगा पद की लक्षणा की जाती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द बोध के प्रति पद ज्ञान और पदजन्य पदार्थोपस्थिति के चार अन्य कारण भी नैयायिक मानते हैं। वे हैं आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्य ज्ञान।[1]

पदों के सन्निधान को आसत्ति कहते हैं।2 अन्वय के प्रतियोगी और अनुयोगी पदों के अव्यवधान को आसत्ति कहते हैं। आसत्तिज्ञान शाब्द बोध में कारण होता है। आसत्ति स्वरूपतः शाब्द बोध में कारण नहीं होती। अतः एवं कहीं पर व्यवधान रहने पर भी अव्यवधान भ्रम होने पर शाब्दबोध होता है। ऐसा भी कई स्वीकार करतें है।[3] वस्तुतस्तु जिस पदार्थ का जिस पदार्थ के साथ अन्वय अपेक्षित हो उन दोनों पदों की कालकृत और देशकृत व्यवधान से रहित होकर अर्थात अव्यवहित रूप से उपस्थिति रूप आसति शाब्द बोध में कारण है। जैसे "गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन "इस स्थल में शाब्द बोध नहीं होता क्योंकि वक्ता का तात्पर्य है कि गिरीः अग्निमान् देवदत्तेन भुक्तम्" किन्तु उक्त पद समूह में पदों की अव्यवधान से उपस्थिति नहीं है। अतः इसे वाक्य भी नहीं कह सकते तथा इनसे शाब्दबोध भी नहीं होता। यह व्यवधान देशकृत व्यवधान कहा जाता है। कालकृत व्यवधान तो उन स्थलों में होता है जो विलम्ब से उच्चरित होते हैं।[4]

---

1. आसित्तयोग्यताकांक्षातात्पर्यज्ञानमिष्यते। न्या०सि०मु०शु०ख०का०2
2. सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरूच्चते। 1——तदैव 93
3. तत्तासत्तिपदार्थमाह सन्निधानं त्विति। अन्वयप्रतियोग्यनुयोगी– पदयोरव्यव– धानमासत्तिः तज्ज्ञानं शाब्दबोधे कारणम्। क्वचिद् व्यबहितेप्यव– व्यवधानभ्रमाच्छाब्दबोधादिति केचित्। —— तदैव।
4. वस्तु तस्तु अव्यवधान ज्ञानस्यापेऽत्वात् यत्पदार्थेन यत्पदार्थस्यान्वयोऽ– पेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः शाब्दबोधेकारणस्। तदैव।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः देश कृतव्यवधान और कालकृत व्यवधान से रहित पदों की सन्निधि ही आसत्ति है।

एक पदार्थ से अपर पदार्थ के सम्बन्ध को योग्यता कहतें है।[1] उस योग्यता के न रहने के कारण ही "वन्हिना सिज्चति" अर्थात वन्हि से सींचता है। इत्यादि पद समूह से शाब्दबोध नहीं होता। क्योंकि सिंचन की योग्यता जल में होती है। अग्नि में नहीं। यहां यह कहना कि इस योग्यता ज्ञान सर्वत्र शाब्दबोध के कारण होने के नाते पूर्व रहना अनिवार्य है किन्तु पूर्व रहना सम्भव नहीं क्योंकि सर्वत्र वाक्यार्थ शाब्दबोध होने के पूर्व अनिश्चित रहता है। किन्तु यह शंका उचित नहीं। क्योंकि किसी भी स्थल में उन–उन पदों से जन्य उन–उन पदार्थों के स्मरण होने से किसी स्थल में संशय रूप में किसी स्थल में निश्चिय रूप में योग्यता ज्ञान रहता ही है। अतः कार्य नियत पूर्ववर्तित्व रूप कारणत्व योग्यता ज्ञान में नहीं है।[2]

जिस पद के बिना जिस पद में शब्द बोध जनकता न रहे उसके साथ उसकी आकांक्षा होती है।[3] इसे ही आकांक्षा कहते हैं। जैसे जिस क्रिया के पद के बिना जिस कर्मादि कारण पद का अन्वयबोध न होने दे उस क्रिया पद के साथ उस कारक पद की आकांक्षा है।

वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते हैं।[4] वक्ता ने श्रोता को जैसे वाक्यार्थ बोध की इच्छा से वाक्यार्थ का स्मरण किया है उस इच्छा को तात्पर्य कहते है। यदि शाब्दबोध में वक्ता के तात्पर्य

---

1. पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता। तदैव 83
2. पदार्थे इत्यादिना एकपदार्थे परपदार्थससम्बन्धो योग्यतेत्यर्थः तंज्ञानाभावाच्च वन्हिना सिंचतीत्यादौ न शाब्दबोधः। नन्वेतस्मात्योग्ययताया ज्ञानं शब्दबोधात्प्राक्सर्वत्र न सम्भवति वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति चेत–न–तत्तत्पदार्थस्मरणे सति क्वचित्संशय क्वतचिनिश्चयरूपस्य योग्यताज्ञानस्य सम्भ्वात्। ––तदैव।
3. यत्पदेनविना यस्याननुभावात् भवेत । आकाक्षां–तदैव– 84
4. वक्तुरिच्छा तु तात्पर्य परिकीर्तितम्।–– तदैव–84

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान को कारण न मानें तो सैन्धवमानय" इस वाक्य से भोजन की बेला में लक्षण तथा यात्रा की बेला में "अश्व" आनयन का बोध न होता। इस प्रकार वेदस्थल में भी वक्ता के तार्त्यज्ञान के लिए ईश्वर की कल्पना की जाती है। वेद में अध्यापक के तात्पर्य का ज्ञान शाब्दबोध में कारण नही माना जाता क्योकि सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर के अतिरिक्त कोई दुसरा अध्यापक ही नही था। अतः वेदस्थल में ईश्वर के तात्पर्यक्षान को शाब्दोबोध में शाब्दोबोध में कारण माना जाता है।[1]

तर्कभाषाकार आचार्य केशवमिश्र भी शब्द प्रमाण की यही व्याख्या करते है।उनके अनुसार भी आप्त वाक्य शब्द प्रमाण है और आप्त तो जैसा पदार्थ है उसको तैसा ही कहने वाला पुरूष होता है।[2] और आकाक्षां, योग्यता तथा सन्निधि वाले पदो का समुह वाक्य होता है। इसलिए गो, अश्व, पुरूष, हस्ती ये पद वाक्य नही हैं, क्योकि इनमें परस्पर आकांक्षा का अभाव है।"अग्नि से सीचे" यह पद समूह भी वाक्य नहीं क्योकि यहाँ योग्यता नहीं है। अग्नि तथा सेचन में परस्पर अन्वय की योग्यता नही होती। इस प्रकार एक–एक करके–पहर में एक साथ उच्चरित न किये गये" गामानय" इत्यादि पद समुह भी वाक्य नही होते क्योकि वहाँ परस्पर आकाक्षां होने पर भी तथा परस्पर अन्वय की योग्यता होने पर भी परस्पर सन्निधि अर्थात आसत्ति का अभाव है।[3] जो साकांक्ष परस्पर अन्वय के योग्य तथा सन्निधि अर्थात आसत्ति पद होते है, वे ही वाक्य कहलाते है। जैसे स्वर्ग की कामना वाला जयोतिष्टोम याग करे" इत्यादि तथा जैसे "नदी

---

1. इत्थं च वेदस्थलेअपि तात्पर्यज्ञानार्थमीश्वरः कल्प्येते न च तत्राध्यापकतात्पर्यज्ञानं कारणमिति वाच्यं सर्गादावध्यापकाभावात्।——तर्क भाषा
2. आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्ततु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरूषः। शा० प्र०
3. वाक्यं त्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समुहः। अतः एव गौरश्वः पुरुषो हस्ती इति पदानिन वाक्यं परस्पराकाक्षाविरहत्वात।——परस्परा सन्निधाभावात्। तर्क भा०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तट पर पाचं फल है "इत्यादि वाक्य हैं। और जैसे वे ही आकाक्षां और योग्यता से विशिष्ट "गामनय' इत्यादि अविलम्ब से उच्चरित पद वाक्य होते हैं।[1] आकांक्षा योग्यता तथा सन्निधि से विशिष्ट पदों का समुह वाक्य कहलाता है। यह वाक्य दो प्रकार का होता है वैदिक तथा लौकिक।[2] वैदिक वाक्य का उदाहरण है ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग कामो यजेत् "यहाँ याग साधन है, स्वर्ग साध्य है और स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति उसका अधिकारी है। यहाँ तीन पद परस्पर आकांक्षा योग्यता तथा सन्निधि से युक्त है। अतः यह पद समुह वाक्य है। लौकिक वाक्य का उदाहरण है "नदी तीरे –"इत्यादि। यहाँ भी पद समुह आकाक्षां योग्यता तथा सन्निधि संयुक्त है। अतः यह भी वाक्य है।

अब प्रश्न यह है कि उपर जिन पद समुहो को आकांक्षा,योग्यता तथा सन्निधि मे से किसी एक के अभाव में वाक्य नही माना गया, क्या वे भी किसी प्रकार वाक्य हो सकते हैं।? इसके उत्तर में केशवमिश्र ने कहा है कि "गौः,अश्वः" इत्यादि में योग्यता भी नही हो सकतीं।फलतः ये दोनों पद समुह वाक्य नहीं बन सकते। किन्तु "गामानय" इत्यादि पदों का यदि विलम्ब से उच्चारण न किया जाये तो उनमें सन्निधि हो सकती है।, अतः वह पद समूह वाक्य बन सकता है। इसका अर्थ यह है, जो पद आकांक्षा योग्यता विशिष्ट तो है किन्तु सन्निधि के अभाव में वाक्य नही कहलाते उनका यदि बिना विलम्ब से उच्चारण किया जाये तो वाक्य कहला सकते है। इसलिए यह अर्थ हुआ कि अर्थ प्रतिपादन के द्वारा

---

1. यानि तु साकांक्षाणि योग्यतावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येव वाक्यं। यथा "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि यथा च "नदीतारे पंचफलानि सन्ति"–इति" यथा च तान्येव "गामानय' इत्यादि पदान्यविलम्बितो– च्चारितानि।––तदैवं।
2. वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं।––च तर्क संग्रह।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य पद के विषय में अथवा अन्य अर्थ के विषय में श्रोता की आकांक्षा उत्पन्न करने वाले तथा अवाधित प्रतीयमान परस्पर अन्वय के योग्य अर्थो का प्रतिपादन करने वाले और अविलम्ब से उच्चारित सन्निधियुक्त पदो का समुह वाक्य कहलाता है। इस प्रकार यह वाक्य आप्त पुरूष के द्वारा प्रयुक्त होकर शब्द नामक प्रमाण कहलाता है। इसका फल है वाक्य के अर्थ का ज्ञानं। यह शब्द नामक प्रमाण लोक तथा वेद दोनो में समान रूप से होता है किन्तु लोक में अन्तर यह हे कि कोई–कोई व्यक्ति ही आप्त होता है। सब आप्त नही होते। इसलिए कोई लौकिक वाक्य ही आप्त प्रमाण हुआ करता है। जिसका वक्ता आप्त पुरूष होता है। परन्तुवेद में तो सभी वाक्य परम आप्त परमात्मा द्वारा रचित है, अतः सभी प्रमाण है। क्योकि सभी आप्त वाक्य है।1 इस प्रकार शब्द प्रमाण सिद्ध होता है।

शक्तिग्रह के उपाय–

न्याय दर्शन में सुत्राकार शब्द लक्षण के प्रसंग में "आप्तवाक्यं शब्दः" ऐसा कहा है। यह सम्भवतः इसलिए कहा है कि वाक्य के अन्तर्गत पद एवं शब्द के लिए नित्यत्वानित्यत्व का प्रसंग अविलम्ब हाथ आ सके। आप्त का वाक्य शब्द है। इन लक्षण में अविलम्ब ही यह प्रश्न उठता है कि आप्त कौन है ? और वाक्य क्या है? शक्तिग्रह की परिधि में शब्द और वाक्य दोनों ही प्रभावी हैं। आप्त के लक्षण शक्तिग्रह के उपाय की व्याख्या के प्रसंग में आप्त की परिभाषा इस प्रकार की गई है, जो यथाभूत अर्थ को ज्यों का त्यों कहता है। अर्थात् जो वस्तु जिस स्थिति में, जैसी हो उसे वैसी ही यथावत् बताना ही आप्त का कार्य है।

---

1. तदिदंवाक्याप्तपुरूषेण प्रयुक्तं सच्छब्दनामकं प्रमाणम्। फलन्त्वस्य वाक्यार्थज्ञानम्। तच्चैतच्छब्दलक्षणं प्रमाणं लोके वेदे च समानम्। लोके त्वयं विशेषाो यः कश्चिदेवाप्तो भवति, न सर्वः। अतः किंचिदेवं लौकिकं वाक्यं प्रमाणं यदाप्तावकृतकम्। वेदेतु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणम्। सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात्। तर्क भाषा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पद से अर्थ का बोध हो, इस प्रकार के संकेत नाम "शक्तियाँ कहलाती हैं। नियत पद पदार्थ के सम्बन्ध का नाम "शक्ति" तथा उक्त शक्ति के आश्रयभूत उपाय के पद का नाम "शक्त" है। आप्त पुरुषों के उपदेश, वृद्व पुरुषों के व्ययहार तथा प्रसिद्ध अर्थ वाले पद की समीपता से शक्ति का ग्रहण होता है। जब पुरुष की उक्त तीनों कारणों में से किसी एक कारण द्वारा शक्ति का ग्रहण हो जाता है, तब कालान्तर में पद समूदाय रूप वाक्य विशेष के श्रवण करने से जो वाक्यार्थ का बोध होता है उसी का नाम "शाब्दी प्रमा है" और उक्त प्रमा के असाधारण कारण आप्तोक्त वाक्य को "शब्द प्रमाण" या शाब्दबोध, वाक्यार्थज्ञान आदि नामों से अभिहित किया जाता है। उक्त शाब्द बोध में शक्ति वाले पदों का नाम "करण" उपस्थित पदजन्य पदार्थ स्मृति" व्यापार तथा "आकांक्षादि चारों सहकारी कारण एवं शक्तिग्रह के उपाय हैं। वैयाकरण लोगों ने वाक्य की परिभाषा में वाक्य को एकलिंग वाक्य ऐसा कहा है अर्थात् जिसमें एक लिंग अर्थात् एक ही क्रिया आती हो उसे वाक्य कहते हैं। व्याकरण के क्षेत्र में यह उपयोगी भी है। परन्तु न्याय में तो कर्ता क्रिया के मेल के वाक्य बना देने से ही तात्पर्य है। व्याकरण इस प्रकार के औचित्य अनौचित्य पर विचार करना दूसरों पर छोड़ देता है। अन्यथा "अग्निना सिंचति" (आग से सीचंता है) यहां पर अग्नि में सींचना के प्रति करणत्व में तृतीया विभक्ति असम्भव है। "घटे उष्ट्रः घड़े में ऊँट का अधिकरण बन सकता है।

न्याय में वाक्य की यह परिभाषाा नहीं चल सकती। वाक्य की परिभाषा आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि युक्त पदों के समुह को कहा गया है। जैसे–गाय,घोड़ा, व्यक्ति आदि वाक्य नही कहलाते, क्योंकि उनमें परस्पर आकांक्षा नहीं है। किसी भी पद को सुनकर श्रोता को उसके विषय में एक प्रकार की आकांक्षा उत्पन्न होती है, ऐसे शब्द के समूह को वाक्य कहते हैं। जैसे गाय चरती है। घोड़ा खड़ा है

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति देवता है। आदि वाक्यों से श्रोताओं की आकांक्षा को पूरा कर देने से यह वाक्य बन जाता है।

मध्वमत में शब्द प्रमाण –

जयतीर्थ के अनुसार निर्दोष शब्द आगम कहलता है। निरभिधेयता या अन्वयभावेन बोधकत्व, विपरीतबोधकता, ज्ञाप्त ज्ञापकता, अप्रयोजनता, अनभिमत प्रयोजनता अशक्यसाधनप्रतिपादन दोष रहित शब्द ही आगम है अथवा निर्दोष वाक्य ही आगम प्रमाण है।[2]

विभक्ति में अन्तिम अक्षर युक्त वर्ण पद कलाते हैं। आकांक्षा सन्निधि योग्यता से युक्त पद समूह को वाक्य कहते है। आकांक्षा का अपर नाम जिज्ञासा है और वह चेतन का धर्म है। उस चेतन के विषय होने से पदार्थ और उसके प्रतिपादक पद साकांक्ष होते है। अविलम्ब से उच्चरित शब्दों को सन्निधि कहते हैं जो पद का धर्म है। प्रतीत अन्वय के प्रमाण विरोधाभाव को योग्यता कहते हैं जो पदार्थ का धर्म है। उसके वाचक होने से पद भी योग्यता वाले है ऐसा कहा जाता है। पद से निरभिधेयता की आकांक्षा सन्निधि से अन्वयाभाव की योग्यता से विपरीत बोधकता की निरस्ति होने पर सकलदोष के विकास के लिए निर्दोष पद का ग्रहण किया है।[3]

आगम प्रमाण मध्वमत में दो प्रकार का होता है। अपौरूषेय और पौरूषेया वेद अपोरूषेय है और इससे भिन्न पोरूषेय है।

---

1. निर्दोषः शब्दः आगमः। प्र0प0श0ख0
2. निरभिधेयत्वेनान्वयभावेन वा बोधकत्वं विपरीतबोधकत्वं, ज्ञातज्ञापकत्वम् शब्द आगमः। तदैव
3. विभक्त्यन्ताः वर्णाः आकांक्षा सन्निधियोग्यतावतां समूहो वाक्यम्। अशेषदोषनिरासार्थं निर्दोषग्रहणम्। तदैव।
4. आगमो द्विविधः। अपौरूषेयः पौरूषेयश्चेति। तत्र अपौरूषेयो वेदः पौरूषेयोऽन्य। तदैव।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैत दर्शन में शब्द प्रमाण का स्वरूप –

अद्वैत आचार्य धर्मराजध्वरीन्द्र ने उपमान प्रमाण के अनन्तर आगम शब्द प्रमाण का निरूपण किया है। अद्वैत वेदान्त में शब्द प्रमाण एक महत्वपूर्ण प्रमाण है। क्योंकि अद्वैतवाद का सम्पूर्ण सिद्धान्त श्रुति पर ही आधारित है और श्रुति आगम प्रमाण के अन्तर्गत आती है। अतः अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए श्रुति का निर्देश करते हुए आगम प्रमाण का आश्रय लेना होता है। आगम विरूद्ध किसी भी सिद्धान्त की सत्यता में विश्वास नहीं किया जा सकता है वही सिद्धान्त ग्राह्य तथा यथार्थ है जो श्रुति से अच्छी प्रकार परिपुष्ट हो तथा श्रुति से जिसका किंचित मात्र भी विरोध न हो।

आगम प्रमाण का निरूपण करते हुए वेदान्तपरिभाषाकार लिखते हैं कि जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग, अन्य प्रमाणों से वाधित नहीं होता, वह वाक्य या आगम प्रमाण होता है। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा योग्यता आसत्ति और तात्पर्यज्ञान ये चार कारण होते है।

आकांक्षा, योग्यता आसत्ति और तात्पर्यज्ञान इनमें से पदार्थो की परस्पर जिज्ञासा में विषय होने की योग्यता को आकांक्षा कहते हैं।[2] क्रिया के श्रवण होने पर कारक के ज्ञान की इच्छा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार कारक का श्रवण होने पर क्रिया की और करण का श्रवण होते ही इति कर्तव्यता की आकाक्षा होती है। जिज्ञासा रहित व्यक्ति को भी वाक्यार्थ का बोध होने से उसके बोध में आकांक्षा का लक्षण अव्याप्त न हो इसलिए लक्षण में योग्यत्व'' पद दिया है।

---

1. अथागमो निरुप्यते। यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंगों मानान्तरणे न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने च आकांक्षायोग्यताऽऽसत्त-यस्तात्पर्यज्ञानंचेति चत्वारि कारणानि। वे०परि०आगा०परि०
2. तत्र पदार्थानां परस्पर जिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा। – तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रियात्व, कारकता आदि धर्म, उस योग्यता के अवच्छेदक होने से आकांक्षा के लक्षण की "गौ, अश्व, पुरूष" आदि पद समूह में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार की तत्वमसि" इत्यादि अभेदान्वप्रतिपादक वाक्यों में समानविभक्ति वाले पदों से प्रतिपाद्यत्व ही अवच्छेदक है। इसलिए वहां भी लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। अद्वैत द्वारा अभिमत आकांक्षा का लक्षण मीमांसको को भी मान्य होने से उन्होंने भी इसी प्रकार की आकांक्षा को मानकर बलावलाधिकरण में वह अभिक्षा वैश्वदेवी" है। और वाजिन वाणिदेवताक" है इस वाक्य का विचार करते समय वहां पर वैश्वदेव याग का आभिक्षा के साथ अन्वय होने से वाजिनान्वय की उसे आकांक्षा नहीं रहती। इसलिए वैश्वदेवयाग का वाजिन से अन्वय नहीं होता। ऐसा व्यवहार होता है।[1]

"तप्ते पयसि" इत्यादि वाक्य में भी वाजिन कोवैश्वदेव याग की जिज्ञासा का विषयत्व न होने पर भी जिज्ञासा का विषय होने की योग्यता है ही क्योंकि प्रकृत में यागनिरुपित अर्थात् याग में जिज्ञासाविषयत्व होने की योग्यता का अवच्देदक प्रदेयद्रव्यत्व है, और वह प्रकृत वाजिन में भी है।

---

1. क्रियाश्रवणे कारकस्य कारकश्रवणें क्रियायाः करणश्रवणे इति कर्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात्। अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थबोधाद् योग्यत्वमुपात्तम्। तदवच्छेदकं च क्रियात्वकारकत्वादिकमिति नातिव्याप्तिः गौरश्व" इत्यादौ अभेदान्वये च समानविभक्तिक प्रतिपाद्यत्वं तदवच्छेदकमिति तत्वमस्यादिवाक्येषु नाव्याप्तिः। एतादृशाकांक्षाऽभिप्रायेणैव बलाबलाधिकरणे" सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्" इत्यत्र वैश्वदेवयागस्यामिक्षाऽन्वितत्वे न वाजिनाकांक्षेत्यादि व्यवहारः। तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि हम केवल प्रदेयद्रव्यत्व को ही योग्यता का अवच्छेदक नहीं मानते। किन्तु स्वसमानजातीय पदार्थ के अन्वयबोध भाव से सहकृत प्रदेय द्रव्यत्व ही प्रकृत स्थल में योग्यता का अवच्छेदक है। इस कारण "वाजिन" से अन्वय करते समय उक्त अवच्छेदक नहीं है किन्तु आमिक्षा" से याग का अन्वय करते समय उक्त योग्यतावच्छेदक उसमें रहता है। क्योंकि आमिक्षा से याग का अन्वय करते समय उक्त अवच्छेदक नहीं है किन्तु आमिक्षा" ये याग का अन्वय करते समय उक्त योग्यतावच्छेदक उसमें रहता है। क्योंकि आमिक्षा से योग का अन्वय करते समय उसका वाजिन से अन्वय उपस्थित ही नहीं होता। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में श्रुति से अन्य लिंगादि प्रमाणों में पारदौबर्ल्य न्याय से आकांक्षा का अभाव रहता है।[1]

तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का बाध न होना ही योग्यता है। "अग्नि से सींचन करता है। आदि वाक्य में योग्यता नहीं है। क्योंकि उस वाक्य का अग्निकारण आर्द्रीकरण रूप अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता हे। "उस प्रजापति ने अपनी वपा को खींचकर निकाला और उससे अग्नि में हवन किया" आदि वाक्य का पशु प्राशस्त्य ही तात्पर्यविषयी भूत अर्थ है और यह किसी प्रमाण से बाधित न होने के कारण उस वाक्य में योग्यता है। इसी तरह "वह ब्रह्म तू है" आदि वाक्य में भी योग्यता के लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि "तत्" और "त्वम्" इन पदों के वाच्यअर्थ में अभेद का बाध होने पर भी लक्ष्यार्थ भूत चैतन्य के अभेद का बाध होने पर भी लक्ष्यार्थ भूत चैतन्य के अभेद रूप अर्थ का बाध नहीं होता। अव्यवधान से अर्थात्

---

1. नुन तत्रापि वाजिनस्य जिज्ञासाऽविषयत्वेऽपितद्योग्यत्वमस्त्येव। प्रदेय द्रव्यत्वस्य यागनिरूपित जिज्ञासाविषयताऽवच्छेदकत्वादिति चेत्, न। स्व समानजातीय पदार्थान्वयबोध विरह सहकृतप्रदेयद्रव्यत्वस्यैव तदबच्छे दरूपत्वेन वाचिनद्रव्यस्य स्वसमानजातीयामिक्षाद्रव्यान्वयबोधसहकृतत्वेन तादृशावच्छेदकाभावत्। आभिक्षायां तु नैवम्। वाजिनान्वयस्य तदानुपस्थितत्वात्। उदाहरणान्तरेऽष्वपि दुर्बलत्वप्रयोजक आकांक्षा विरह एव द्रष्टव्यः। वे0परि0 तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच में अन्य पदों का व्यवधान उपस्थित न होकर जो पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति उसे आसत्ति कहते है। प्रत्यक्षादि शब्देतर प्रमाणों से उपस्थित होने वाले पदार्थों का अन्वय मे बोध नहीं होता, इसलिए "पद जन्य" यह पद लक्षण में दिया है। पदजन्य पदार्थोपस्थिति अपेक्षित होने से ही जहां पर क्रिया कारकादि दूसरा पद नहीं कहा हो ऐसे "द्वारम्" इस एक शब्द के अर्थ की पूर्ति करके के लिए "पिधेहि" ऐसे पदों का अध्याहार करना पड़ता है और इसी कारण "इषे त्वा" इत्यादि मन्त्रों में "छिन्धि" ऐसे पद का ही अध्याहार करना चाहिए। ऐसी पदजन्य उपस्थिति मीमांसकों को मान्य होने से सौर्यादि विकृति यागों में सूर्याय जुष्टं निर्वपामि" में सूर्य देवता को उद्देश्य कर सावित्त हवि का निर्वाप करना हूं। इन पदों का उच्चारण करना चाहिए, यह सिद्धान्त है।[1]

शब्द जन्य पदार्थोपस्थिति, शब्दबोध में कारण है। परन्तु वह पदार्थ कितने प्रकार का है? इस विषय में अद्वैतवादी कहते है कि वह पदार्थ शक्य तथा लक्ष्य भेद से दो प्रकार का है। उनमें शक्य का अर्थ है, शक्तरूपवृति से युक्त और लक्ष्य का अर्थ है लक्षण रूपवृति से युक्त। पदों के वाच्य अर्थ में स्थित मुख्य वृत्ति को ही शक्य पद की घटना शक्ति कहते है। जैसे "घट" पद की तल तथा मध्य भाग में वर्तुल आकार से युक्त वस्तु विशेष में रहने वाली वृत्ति ही शक्ति कही जाती है। वह शक्ति, पृथक अर्थात् अतिरिक्त पदार्थ है। क्योंकि कारण में विद्यमान होती हुई कार्योत्पत्ति के अनुकूल समस्त शक्ति के

---

1. योग्यता च तात्पर्य विषयीभूतसंसर्गाबाधः। बन्हिना सिंचतीत्यादौ तादृशसंस–र्गबाधन्न योग्यता। "स प्रजापतिरात्मनोवपामुदखिदत्" इत्यादावपि तात्पर्यविषयी भूतपशुप्रशस्त्याबाधाद् योग्यता। तत्त्वमस्यादि वाक्येष्वपि वाच्याभेदाबाधेऽपि लक्ष्यस्व रूपाभेदे बाधाभावात्योन्यता आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपिस्थितिः मानान्तरोपस्थापितपदार्थस्यान्वय–बोधमावात्पदजन्येति। अत एव श्रुतापदार्थस्थले तत्रपदाध्याहारः द्वारम् इत्यादौ "पिधेहि" इति। अतः एव "इषे त्वा" इत्यादि मनो" छिन्द्य इति पदाध्याहारः। अतः एव विकृतिषु "सूर्याय" जुष्टं निर्वपामि" इति पदप्रयोग। तदैव।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त में पृथक पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। और वह पदनिष्ठ शक्ति तत्तद् विशेष पद से तत्तद् विशेष पदार्थ के ज्ञानरूप कार्य से अनुमेय है। पदार्थ में ऐसी शक्ति की विषयता होना उसकी शक्यता है। वह शक्यत्व जाति में ही रहता है, व्यक्ति में नहीं। क्योंकि व्यक्ति अनन्त होने से व्यक्ति पृथक शक्यत्व मानने में गोरव है। व्यक्ति में यदि शक्यत्व नहीं है तो "गौ" आदि पदों में श्रवण करते ही सास्नादिमानगो व्यक्ति का ज्ञान कैसे होता है? उत्तर यह है कि जाति व्यक्ति ज्ञान रूप एक ही ज्ञान से संवेद्य होने से जाति ज्ञान के होते ही व्यक्तिज्ञान और व्यक्ति ज्ञान से होते ही उसमें ही जाती ज्ञान होता है।[2]

अथवा "गौ" इत्यादि पदों की व्यक्ति में स्वरूपतः विद्यमान शक्ति है, व्यक्ति में विद्यमान वह शक्ति ज्ञात होकर व्यक्ति के बोधन में कारण नहीं होती। किन्तु जाति के बोधन में मात्र वह शक्ति ज्ञात होकर ही कारण होती है। "व्यक्ति" अंश में व्यक्ति शक्ति का ज्ञान भी कारण है, यह मानना आवश्यक नहीं है। क्योंकि व्यक्ति शक्ति ज्ञान तथा जाति शक्ति ज्ञान दोनों को शब्द बोध में कारण मानने में गौरव होता है और जाति शक्तिमत्व का ज्ञान होने पर व्यक्ति शक्ति का ज्ञान होने पर भी व्यक्ति के ज्ञान न होने में विलम्ब नहीं होता। इसलिए जहां शक्ति का ज्ञान न होते हुए भी

---

1. पदार्थश्च द्विविधः शक्यो लक्ष्यश्चेति। तत्र शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः यथा घटपदस्यपृथुबुधनोदराद्यावृति विषिष्टे वस्तुविशेषे वृत्ति। सा च शक्तिः पदार्थन्तरम्। सिद्धान्ते कारणेषु कार्यानुकूलशक्तिमात्रस्य पदार्थन्तरत्वात्। तदैव

2. सा च तत्तत्पदजन्य पदार्थज्ञानकार्यानुमेया। तादृशशक्तिविषयत्वं शक्यत्वं। तच्च जातेरेव न व्यक्तेः व्यक्तिनामानन्त्येन गुरुत्वात्। कथं तर्हि गवादि पदाद् व्यक्तिमानमिति चेत् जातेर्व्याक्तिसमानसंवत्सिंवेवद्यत्वमिति ब्रुमः। तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु का ज्ञान होता है, वहां शक्तिज्ञान की कल्पना करना अनुचित है, अतः एव न्यायमत में भी शक्ति अन्वय में स्वरूपसी (स्वरूपतः विद्यमान) रहती है। ज्ञायमान शक्ति में जो पदार्थ विषय होता है, यही वाच्य होता है। इस प्रकार वाच्य का लक्षण होने से जाति ही "गवादि' पदों का वाच्य ठहरती है। अतः व्यक्ति वाच्य नही होती।[1]

अथवा व्यक्ति का बोध लक्षण से माना जा सकता है जिस प्रकार "नील घट" इस वाक्य में नील गुणवाचक पदों की भी जातिविशिष्ट व्यक्तियों में लक्षणा कर लेनी चाहिए। अतः एव मीमांसको ने जो अर्थ अनन्यलभ्य हो वही शब्दार्थ होता है। यह बताया है । इस प्रकार शक्य पदार्थ का निरूपण किया गया है।[2]

अब लक्ष्य पदार्थ का निरूपण किया जाता है।–शक्य और लक्ष्य में से लक्ष्य वह होता है जो पदार्थ लक्षणा में विषय हो। केवल लक्षणा और लीक्षितलक्षणा भेद से लक्षणा दो प्रकार की है। उनमें शक्य का साक्षात्सम्बन्ध जहाँ हो वह केवल लक्षणा है। जैसे–"गंगायां घोषः" इस वाक्य में गंगा पद की गंगापदवाच्य गंगा प्रवाह रूप पदार्थ के साथ साक्षात संयोग से सम्बद्ध रहने वाले तीर रूप अर्थ में केवल लक्षणा है।[3]

---

1. यद्वा गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती न तु ज्ञाता हेतुः। जातौ तु ज्ञाता। न व्यक्त्यंशें शक्तिज्ञानमपि कारण गौरवात्। जातिशक्तिमत्व ज्ञाने सति व्यक्तिशक्तिमत्वज्ञानं बिना व्यक्तिधीविलम्बाभावाच्च। अतः एव न्यायमतेऽप्यन्वये शक्तिःस्वरूपसति इति सिद्धान्तः। ज्ञानमान शक्ति विषयत्वमेव वाध्यत्वमिति जातिरेव वाच्या। ———— तदैव।———
2. अथवा व्यक्तेर्लक्षणमावगमः। यथा नीलो घटः इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुण विशिष्टे लक्षण तथा जातिवाचकस्य तद्विशिष्टे लक्षणाः। तदुक्तं अनन्यलभ्योहि शब्दार्थ" इति एवं शक्योनिरूपितः।——— तदैव———
3. अथ लक्ष्यपदार्थो निरूप्यते। तत्र लक्षणविषयो लक्ष्याः। लक्षणं च द्विविधा केवललक्षणा लक्षित लक्षणाश्च चेति। तत्र शक्यासाक्षात्सम्बन्धः केवल लक्षणा यथा" गंगायां घोषः' इति अत्र प्रवाहसाक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गंगापदस्य केवललक्षणा।—— तदैव ——

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल लक्षणा का निरूपण कर शक्य परम्परा सम्बन्धरूप द्वितीय लक्षणा के प्रकार को इस तरह परिभाषित किया है– जहाँ पर शक्यार्थ के परम्परा सम्बन्ध के द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति हो वहाँ लक्षितलक्षणा समझना चाहिए। जैसे "द्विरेफ" रूप अर्थ में शक्त पद की भ्ररपद से घटित परम्परा सम्बन्ध से मधुकर रूप अर्थ में वृत्ति है।[1]

गौणवृत्ति भी लक्षितलक्षणा ही है। जैसे यह वटु सिंह है "इस वाक्य में" सिंह शब्द का वाक्यार्थ जो सिंह पशु उसके सम्बध रहने वाले क्रूरत्वादि धर्म रूप सम्बन्ध से माणवक की प्रतीति होती है।[2] सिंहो माणवकः यह बटु सिंह है, यहाँ पर "सिंह शब्द का" "सिंह पशु" वाच्यार्थ है। परन्तु उसके साथ "बटु" का किसी प्रकार से सम्बन्ध ा नहीं है। इस कारण यहां शक्य सम्बन्ध रूप लक्षण का संभव नहीं है। अतः शब्द की गौणी नामक पृथक् वृत्ति माननी चाहिए, यदि गौणीवृत्तिवादी ऐसा कहे तो ऐसा नहीं है क्योंकि यहां शक्यार्थ का लक्षणार्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध संभव न होने पर भी "द्विरेफ' पद के समान परम्परा सम्बन्ध का संभव हो सकता है। इस कारण " लक्षितलणा' नामक लक्षणा के द्वितीय प्रकार में गौणीवृत्ति का अन्तर्भाव होता है। इसलिए गौणी वृत्ति को पृथक् रूप से मानने की आवश्यकता नहीं है। कारण यह है कि "गंगायां घोषः" और द्विरेफ इन शब्दों से प्रतीयमान तीर और मधुकर रूप अर्थों की उपपत्ति लगाने के लिए शक्य साक्षात्सम्बन्ध ओर शक्यपरम्परा सम्बन्ध रूप द्विविध सम्बन्ध के कारण केवल लक्षणा और लक्षित–लक्षण नामकालक्षणा के दो भेदों को स्वीकार अवश्य करना चाहिए। उनको स्वीकार कर लेने पर "सिंह माणवकः" इत्यादि स्थलों में भासमान परम्परा सम्बन्ध से उस वाक्यार्थ की उपपत्ति लग जाने के कारण गौणी को पृथक् वृत्ति मानना व्यर्थ है।

---

1. यत्र शक्यपरंम्परा सम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षित–लक्षणा। यथा द्विरेफ पदस्य रेफद्वयशक्तस्य भ्रमरपदघटित परम्परासम्बन्धेन मधुकरे वृत्तिः। तदैव –
2. गौण्यपि लक्षितलणैव यथा सिंहो माणक इति अत्र सिंह शब्द वाच्य सम्बन्धिक्रोघ्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीतिः। तदैव–

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकारान्तर से इस लक्षणा के तीन भेद किये हैं। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लणा। उनमें से जिस लक्षणा में वाच्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में न होकर अन्यार्थ अर्थात शक्यभिन्न अर्थ की प्रतीति होती है, उसे जहल्लक्षणा कहते है। जैसे विष खा" इस वाक्यगत पदों से विषभक्षण रूप वाच्यार्थ का ज्ञान न होकर "शत्रु के घर पर मत जाओ" इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः यह जहल्लक्षणा है और जहां पर शक्यार्थ का अन्तर्भाव करके ही लक्ष्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहां पर वाच्यार्थ का त्याग न किये होने से अजहल्लक्षणा होती है। जैसे – शुक्लो घटः" इस वाक्य में शुक्ल शब्द अपने शुक्लगुण रूप" स्वार्थ का शुक्लगुण विशिष्ट द्रव्यरूप लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव करके ही शुक्लगुणवान् द्रव्य रूप अर्थ में लक्षणावृत्ति से रहता है। अर्थात् उपर्युक्त अर्थ का बोधन कराता है। अतः यह अजहल्लक्षणा है।[1]

जिस वाक्य में विशिष्ट वाचक शब्द अपने विशेषण रूप एक देश को छोड़कर विशेष्य रूप से अंश का बोधक होता है, वहां जहदजहल्लक्षणा होती हे। जैस– "सोऽयं देवदत्तः वह यह देवदत्त इस वाक्य में "वह" पद का तत्काविशिष्ट और "यह" पद का एतत्काल विशिष्ट अर्थ है। परन्तु "देवदत्त" परोक्ष और अपरोक्ष रूप विरुद्ध उभय कालों से विशिष्ट होकर एक ही समय में स्थित नहीं हो सकता।

---

1. प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदहल्लक्षणाचेति। तत्र शक्यमन्तर्भाव्यं यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा यथा विषं भुङ्क्ष्वेति। अत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिर्लक्ष्यते। यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैर्थन्तर प्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा, यथा शुक्लो घट इति। अत्र हि शुक्लशब्दः स्वार्थं शुक्लगुणभन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते। तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए "वह" और "यह" दोनों पद केवल देवदत्त रूप विशेष्य अर्थ के ही बोधक हैं। अर्थात् दोनों पद केवल विशेष्य परक है। स्वार्थ परक नहीं। इसलिए यह जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है। अथवा "तत्वमसि" वह ब्रह्म तू है "आदि अभेद बोधक वाक्यों में" तद् पद का वाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य के साथ ऐक्य का सम्भव नहीं हो सकता। अतः चैतन्यों की एकता के लिए स्वरूप में उसकी लक्षणा करनी पड़ती है, ऐसा प्राचीन वेदान्तियों का मत है। नवीनों का कथन है कि वही यह देवदत्त "वह ब्रह्म तू है। आदि वाक्यों में सः" अयम्" तत् और "त्वम्" ये विशिष्टवाचक पद यद्यपि विशेष के एक देश के ही बोधक हैं, तथापि उस बोध के लिए उन पदों की विशेषयांश में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि शक्तिवृत्ति से उपस्थित हुए तत्कालतया एतत्काल से विशिष्ट देवदत्त के अभेदान्वयरूप अर्थ की अनुपपत्ति रहने पर भी शक्तिवृत्ति से ही उपस्थिति हुए विशेष्यों का अभेदान्वय करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। जैसे "घट" अनित्य है" इस वाक्य में घट पद के घटत्वजातिविशिष्ट घट "रूप वाच्यार्थ का एक देश यद्यपि अनित्यत्व के साथ अन्वित होने के योग्य नहीं है, तथापि अन्वययोग्य घटव्यक्तिरूप विशेष्यांश के साथ उसका अन्वय हो सकता है। तात्पर्य यह है कि हम "घट" व्यक्ति को ही अनित्य समझते हैं। घटत्व जाति को नहीं यह ज्ञान शक्ति से ही होता है।

---

1. वयन्तु ब्रुमः सोऽयं देवदत्तः तत्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचकपदानामेकदे–शपरत्वेऽपिनलक्षणा। शक्त्युपस्थितयोर्शिष्टयो– रभेदान्वयानुपपत्तौ विशेष्ययोः शक्त्युपस्थितयोरेवाभेदान्वयाऽविरोधात्। यथा घटोऽनित्य इत्यत्त। घट पदवाच्यैकदेशघटत्वस्यायोग्यत्वेऽपि योग्यघट व्यक्त्या सहानित्यवान्वयः।– वे० परि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस समय वाक्य में पदार्थ के एक देश की विशेष रूप से उपस्थिति हो वहीं पद उसकी स्वतन्त्र तथा उपस्थिति होने के लिए लक्षणा का अभ्युपगम करना पड़ता है। जैसे "घट" नित्य है" इस वाक्य में "घट" पद से शक्तिवृत्ति के द्वारा केवल घटत्व की स्वतन्त्रतया उपस्थिति नहीं होती, इसलिए वैसी उपस्थिति होने के लिए घट पद की घटत्वरूप अर्थ में लक्षणा का स्वीकार करना पड़ता है। इसी न्याय के अनुसार "तत्वमसि" इत्यादि प्रवृत वाक्यों में भी लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शक्तिवृत्ति के द्वारा स्वतन्त्रतया चैतन्यरूप से उपस्थिति रहने वाले "तत्" और "त्वम्" पदार्थों का अभेद से अन्वय होने में कोई भी वाधक नहीं है। अन्यथा "घर में घट है" घट में रूप है" "घट लाओ" आदि वाक्यों में भी घटत्व गेहत्व आदि धर्मों में गृहादि पदार्थ रूप अंशों में अभिमत अन्वय बोध ा करा देने की योग्यता न होने से वहां पर भी घटादि पदों का केवल विशेष्यपदत्व लक्षण से ही होने लगेगा। तस्मात् पूर्वाचार्यो ने "तत्वमसि" आदि वाक्यों में जहदजहल्लक्षणा को अभ्युपगमबाद से स्वीकार किया है।

"कौओं से दही की रक्षा की जाये इत्यादि वाक्य ही जहदजहल्लक्षणा के उदाहरण हैं। क्योंकि ऐसे वाक्यों में "काक्" शब्द के वाच्यार्थ का परित्याग कर और अशक्यार्थ का पुरस्कार कर "काक" शब्द की काक तथा अकाक अर्थ में प्रवृति है। परन्तु तात्पर्य की अनुपपत्ति ही लक्षणा में बीज है। अन्वय की अनुपपत्तिलक्षणा में बीज नहीं है। क्योंकि "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" वाक्य में अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है। उसी प्रकार गंगायां घोषः आदि वाक्यों में तात्पर्य की अनुपपत्ति का भी सम्भव होता है। लक्षणा केवल पदव्याप्तवृत्ति नहीं है। किन्तु वाक्यवृत्ति भी है। जैसे गम्भीरायां नद्यां घोषः गहरी नदी पर ग्वालो का घर है इस वाक्य में गम्भीर और नदी दो पदों के समूह की तीर अर्थ में लक्षणा है।

---

1. यत्र पदार्थैकदेशस्य विशेषणतयोपस्थितिः......बोध्या।– वे० परि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यार्थ में अशक्यता होने से अर्थात् वाक्यार्थ में अशक्यत्व के न होने से उसमे शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा है। यह कैसे कहा जा सकेगा ? ऐसी शंका यदि हो तो कहते हैं शक्ति से पद सम्बन्ध के द्वारा जो बोधित किया जाता है। उसका सम्बन्ध ही लक्षणा है और पदार्थ जैसे शक्ति के ज्ञाप्य होता है, वैसे वाक्यार्थ भी शक्ति से ज्ञाप्य होता है। अतः वाक्य में लक्षणा के स्वीकार करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। अर्थवाद वाक्य के पदों की ही प्राशस्त्य अथवा निन्दितत्व रूप अर्थ में लक्षणा यदि मान लें तो एक ही पद से लक्षणा के द्वारा उन अर्थो की उपस्थिति हो जायेगी जिससे अन्य पद व्यर्थ होगे। अर्थात् एक ही पद से प्राशस्त्य या निन्दितत्वादि अर्थों व लक्षणा के द्वारा यदि ज्ञान हो जाये तो अन्य पद व्यर्थ है। समझना पड़ेगा। इसलिए अर्थवाद वाक्य के पद समूह में विधि से अपेक्षित ऐसे प्राशस्त्यरूप पदार्थ की बोधकता होने के कारण पदस्थानीयत्व होता है। अर्थातवह पद एकवाक्यता होती है। इसलिए अर्थवाद वाक्यों की पदैकवाक्यता मानी जाती है।

पदजन्य पदार्थ की अव्यवधान से उपस्थिति को ही आसत्ति कहते हैं। वह शाब्दबोध में कारण होती है। क्योंकि आसत्ति रहने पर शाब्दबोध होता है और आसत्ति के न रहने पर शाब्दबोध नहीं होता यह अन्वय व्यतिरेक प्रत्यक्षतया सभी के अनुभव में आता है। इसी प्रकार महावाक्यार्थ का बोध होने से अवान्तर वाक्यों के प्रत्येक वाक्य का ज्ञान कारण होता है क्योंकि उसके अन्वयदि का भी वैसा ही निश्चय होता है।[2]

अब क्रम प्राप्त तात्पर्य का निरुपण किया जाता है। निरूपणीय तात्पर्य के लक्षण प्रमाण को बताते समय यदि अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चरितत्व यह तात्पर्य का लक्षण करें तो वह ठीक नहीं

---

1. वेदान्त परिभाषा
2. तदुपस्थितिश्चासत्तिः। स च शाब्दबोधे हेतु तथैवान्वयव्यरितेकदर्शनात्। एवं महावाक्यार्थबोधेऽवान्तन्तरवाक्यर्थबोध हेतु तथैवान्वयाधवधारणात्।— वे० परि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा। क्योंकि जिस पुरुष को वाक्यार्थ ज्ञान नहीं है ऐसे के द्वारा उच्चारण किये जाने वाले वेद वाक्य से अर्थ ज्ञान न होने का प्रसंग आयेगा। अर्थज्ञान शून्य व्यक्ति के द्वारा कहे गये वेद वाक्य से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी। इसके अतिरिक्त यह अध्यापक अव्युत्पन्न है। इस प्रकार के विशेष दर्शन से उसमें तात्पर्य भ्रम का अभाव रहता है इस कारण उसे इसका ज्ञान है यह भी नहीं कह सकते। अब यदि ऐसा कहें कि उन वाक्यों का अर्थ ज्ञान ईश्वर के तात्पर्य ज्ञान से होता है वह भी ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व न मानने वाले व्यक्ति को भी उन वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होता देखने में आता है।[1] अद्वैतवादी तात्पर्य का लक्षण करते हैं कि पदार्थो के संसर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की वाक्य में योग्यता का होना ही तात्पर्य है, "घर में घट है" यह वाक्य घर और घट के सम्बन्ध का अनुभव कराने में योग्य है न कि गृह और घट के ससंर्ग का।[2] यदि तात्पर्य का यह लक्षण स्वीकृत करने पर अनेकार्थे में रूढ़ पदों से युक्त वाक्य में अतिव्याप्ति होगी जैसे "सैन्धवमानय" यह वाक्य श्रोता के नमक लाने का ज्ञान हो इस इच्छा से जब कहा जाय तब उस वाक्य में अश्व संसर्ग का ज्ञान करा देने की स्वरूप योग्यता भी रहती है इस कारण " इस वाक्य लवण संसर्गबोधक है।" ऐसा ज्ञान होने के

---

1. क्रमप्राप्तं तात्पर्य निरुप्यते। तत्र तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं न तात्पर्यम्। अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चरिताद् वेदादार्थ प्रत्ययाभावप्रसंगात्। अयमध्यापकोऽव्युतपन्न इति। विशेषदर्शनेन तत्र तात्पर्यभ्रमस्याप्यभावात् न चेश्वरीयतात्पर्यज्ञानात् तत्र शाब्दबोध इति वाच्यम्। ईश्वरानंगीकर्तुरपि तदवाक्यार्थ प्रतिपत्ति दर्शनात्। तदैव
2. तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्। गेहे घट इति वाक्यं गेहे घटसंसर्गप्रतीति जननयोग्यं न तु घट संसर्गग्रतीति जननयोग्यमिति तद्वाक्यं घटससर्गपरं न तु पटसंसर्ग परिमित्युच्यते। वे०परि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय ही'' यह अश्वादि संसर्ग बोधक है'' ऐसा ज्ञान भी होने लगेगा। ऐसी शंका करना ठीक नहीं क्योंकि तात्पर्य के लक्षण में ''विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उसका उच्चारण न होना'' इस विशिषेण का निवेश करणीय है। अर्थात् जो वाक्य उस अर्थ की प्रतीति के उत्पन्न करने की स्वरूप योग्यता से युक्त होकर भी जिस अन्य अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चरित नहीं होगा वह वाक्य उसी संसर्ग का बोधक कहा जाता है।

शुक से कहे गये वाक्य में एवं अव्युत्पन्न व्यक्ति से बोले गये वेदवाक्य में वक्ता में वक्ता की विशेषार्थ प्रतीतिविषयक इच्छा ही नहीं रहती। इस कारण अव्यर्थ प्रतीति की इच्छा से उस वाक्य को बोला गया है। यह नहीं कहा जा सकता, इसलिए तदितरप्रतीतीच्छया अनुचरितत्वं'' लक्षण उक्त वाक्यों में घटित होने से अव्याप्ति नहीं हो पाती है। अब प्रश्न है कि तत्प्रतीतिजननयोग्यता का अवच्छेदक क्या है? अर्थात् विशिष्ट अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता, शब्द में किस कारण आती है? इसके उत्तर में कहते हैं कि उक्त यावत् शब्दप्रतीतिजननयोग्यता की अवच्छेदक ''शक्ति'' ही है। हमारे अर्थात् अद्वैत मत में सर्वत्र ''शक्ति'' को ही कारणता का अवच्छेदक माना है। अतः किसी प्रकार का दोष नहीं है।

यह तात्पर्य ज्ञान, वेद वाक्यों में मीमांसा के द्वारा परिशोधित न्यायों से ही निश्चित होता है। परन्तु लौकिक वाक्यों में प्रकराणादियों से तात्पर्य का निश्चय होता है। वहां लौकिक वैदिक वाक्यों में से

---

1. उक्त प्रतीति मात्रजननयोग्यतायाश्चावच्छेदिका शक्तिः अस्माकं तु मते सर्वत्र कारणतायाः शक्तेरेषावच्छेदकत्वान्न कोऽपि दोषः। वे० परि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लौकिक वाक्य तो प्रमाणन्तरों से ज्ञात हुए अर्थ का ही अनुवाद करते हैं। परन्तु वैदिक वाक्यों का अर्थ प्रमाणान्तर से अज्ञात होने के कारण अनुवाद रूप नहीं होता है।[1]

इस प्रकार आगम प्रमाण के दो भेद होते हैं। लौकिक और वैदिक। लौकिक पौरूषेय है और वैदिक अपोरूषेय। वेद स्वतः प्रमाण ईश्वरोच्चरित होने से, लौकिक परतः प्रमाण है पुरुषोच्चरित होने से क्योकि पुरुष का ज्ञान भ्रमादि से अयथार्थ भी हो सकता है।

रामानुज मत में शब्द प्रमाण :–

श्री निवासाचार्य ने यतीन्द्रमतदीपिका में शब्द प्रमाण का निरूपण किया है। जो वेंकटनाथ की न्यायपरिशुद्धि में वर्णित शब्द प्रमाण के अनुरुप है। उनके अनुसार जो अनाप्त व्यक्ति के द्वारा नहीं कहा गया हो उस वाक्य से उत्पन्न अर्थ का ज्ञान ही शब्द ज्ञान है। उस शब्द ज्ञान के साधकतम् को शब्दः प्रमाण कहते हैं लक्षण में अनाप्त युक्त पद का सन्निवेश करके वेदों को पौरूषेय मानने वाले नैयायिकों के मत का निरास किया गया है। अथवा ऐसे वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं, जो कारणदोष तथा बाधक ज्ञान से रहित है। सृष्टि के आरम्भ में श्री भगवान पूर्व पूर्वक विशिष्ट वेदों को स्मरण करके ब्रह्म को उनका उपदेश देते हैं, इस उक्ति के अनुसार वेदों की नित्यता तथा अपौरूषेयता सिद्ध होती है। अतः एव वेदों में कारण दोष तथा बाधक प्रत्यय शब्द प्रमा के साधकतम् को शब्द प्रमाण कहते हैं

---

1. तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसा परिशोधित न्यायादेवावधार्यते, लोकेतु प्रकराणादिना तत्र। लौकिक वाक्यानां मानान्तरावगतार्थानुवादकत्वम्। वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम्। य०म०दि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अभाव है।[1] ऐसा वाक्य अनाप्त पुरुष के द्वारा नहीं कहा गया हो, उस वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान को शाब्दी प्रमा कहा जाता है। अनाप्त युक्तत्व वाक्य का विशेषण बतलाकर कहा गया है कि शाब्दज्ञान के जनक वाक्य का किसी पुरुष के द्वारा उक्त होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वेद जो अपौरुषेय है। उनका प्रवक्ता कोई पुरुष नहीं है। ईश्वर भी उन वाक्यों के स्वतन्त्र वक्ता नहीं है। ईश्वर तो सृष्टि के प्रारम्भ में पूर्वकल्प में विद्यमान यथायथ आनुपूर्वी सहित वेदों का स्मरण करके उनका उपदेश ब्रह्मा को दे देते हैं। एतावता स्पष्ट है कि ईश्वर भी वेदों के वक्ता नहीं है। अतः एव वेद किसी पुरुष विशेष द्वारा उक्त नहीं है। अपितु वे अपौरूषेय हैं तथा नित्य हैं। सर्वदा एक समान आनुपूर्वी से युक्त रहना ही वेदों की नित्यता है। जिसकी रचना किसी पुरुष की बुद्धि के अधीन होती है। वह पौरुषेय है। वेदों की रचना किसी पुरुष की बृद्धि के अधीन नहीं हुई है। विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार वाक्य का उक्त होना आवश्यक नहीं है किन्तु यदि वाक्य किसी स्वतन्त्र वक्ता द्वारा उक्त है तो उसका वक्ता अनाप्त नहीं होना चाहिए, अपितु उसे आप्त होना चाहिए। आप्त उसे कहते है। जो किसी भी कारणवश अयथार्थ न कहे, अपितु जो सदा यथार्थ ही कहे, उसे आप्त कहते हैं।

---

1. अनाप्तानुक्तवाक्यजनिततदर्थविज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं शब्दप्रमाणम्। अनाप्तानुक्तेत्युक्तत्वाद्वेदस्य पौरूषेयत्वमतनिरासः। कारणदोषबाधकप्रत्यया-भववद्वाक्यं वा। सर्गादौ भगवान् चतुर्भुखाभ्यां पूर्वपूर्वक्रमविशिष्टान्वेदान् स्मृत्वा स्मृत्वा उपदिशतीत्युक्त्यावेदस्य नित्यत्वमपौरुषेयत्वं च सिद्धमिति कारणदोषाभावो बाधकप्रत्यमाभावश्च। य०म०दी०तृ०अ०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द प्रमाण का दूसरा लक्षण करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं अथवा जो कारणदोष एवं वाधक प्रत्यय से रहित होता है। वहीं वाक्य शब्द प्रमा का जनक होता है। चूंकि वेद नित्य है, अतः एव पोरूषेय वाक्यों में होने वाले भ्रम प्रमाण करणपाटव विप्रलिप्सा रूपी कारण दोषों का अभवा है। वेद वाक्य यथार्थ ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं अतः एव उन ज्ञानों का कोई भी बाधक ज्ञान नहीं है। इस प्रकार वेद वाक्य शब्द प्रमा के जनक है। लोक में भी आप्त पुरुषों द्वारा प्रोक्त वाक्य कारण दोष एवं बाधक प्रत्यय से रहित होते है। अतः एवं वे भी शब्द प्रमा के जनक होते हैं।

वल्लभ मत में शब्द प्रमाण :–

वल्लभ संम्प्रदाय के अनुसार वेदों को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना गया है। जो वेद मूलक नहीं है। वे सब अप्रमाणिक है। वेद ही आप्तोपदिष्ट होने से प्रामाणिक है। परमेश्वर ही परम आप्त है। उनके द्वारा प्रोक्त वेद ही आप्त माने जाते हे। आप्त का अर्थ है। यथास्थिति अर्थ का प्रतिपादक/पुरुष दो प्रकार के हैं लौकिक, और अलौकिक।

लौकिक आप्त पुरुष हम लोगों में से कोई–कोई होता है। अलौकिक आप्त पुरुष ऋषियों से प्रारम्भ होकर ईश्वर तक माने जाते हैं। ये आप्त वाक्य उत्तरोत्तर प्रवृद्धमान होते हुए परम आप्त ईश्वर में पर्यवसित होते हैं अतः एव ईश्वर के उपदेश रूप वेद ही श्रेष्ठ प्रमाण है। वेद शब्द मूलक हैं। अतः वल्लभाचार्य ने शब्द को ही एक मात्र प्रमाण माना है। तथा शब्द में भी अलौकि अर्थ के ज्ञापक शब्दों को ही प्रमाण माना है।[1] इन्हीं को वल्लभाचार्य ने स्वतः सिद्ध प्रमाण माना है। अर्थात शब्द की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध निरपेक्ष व नित्य है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद अन्तर्यायी संकल्प से सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ के पूर्व स्वप्न पदार्थ के समान केवल प्रतिभामात्र से अनुभव किये गये हैं। ईश्वर सर्वज्ञ होने से उसी के समान निर्माण करता है। अपने तत्वार्थदीपनिबन्ध नामक ग्रन्थ में वल्लभाचार्य ने कहा है कि वेद श्री कृष्ण के वचन (गीता), व्यास के सूत्र और व्यास की समाधि भाषा ये चार ही प्रमाण हैं।[2] इसमें वेदाः पद बहूवचनान्त होने के कारण वेद के कर्म और ज्ञान दोनों काण्डों में प्रयुक्त समस्त वाक्य, पद, अर्थवाद आदि रूप वाक्य सभी का समावेश हो जाता है। अर्थात् वेदों के प्रत्यक्षर को प्रमाण रूप में बल्लभाचार्य ने स्वीकार किया है। प्रस्थान रत्नाकर में पुरुषोत्तम ने भी वेद के वाक्य, उनके अर्थ, अर्थवाद आदि का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया है। उन्होंने वेदों के समस्त प्रकार अर्थों, पदों वाक्यों आदि को प्रमाणिक माना है। अर्थ ज्ञान पर्यन्त वेदों का ही अध्ययन करना आवश्यक है। क्योंकि केवल वेदों के पठन मात्र से सन्देह उत्पन्न नहीं होता। सन्देह की उत्पत्ति नहीं होने पर ब्रह्मसूत्र द्वारा निर्णित अर्थ प्रयोजनहीन हो जावेंगे।

श्रीमद्भागवत् गीता श्रीकृष्ण के वाक्य होने से वेदों में ही

---

1. शब्द एव प्रमाणम्, तत्राप्यलौकिकज्ञापकमेव। तत्स्वतः सिद्ध प्रमाणभावं प्रमाणम्।
   तत्वार्थदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थ0 प्र0पृ0 27
2. वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
   समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणतच्चुतुष्टयम्।। तत्व0मि0शा0प्र0 कारिका–7

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिगणित है तथापि भगवान श्रीकृष्ण ने उसका उपदेश अर्जुन को उसके अधिकार के अनुरूप स्मृतिरूप में दिया था। स्मृति के रूप में उपदिष्ट होने के कारण श्रीमद्भगवत गीता को वेदों से अलग मान गया है। स्मृति का मूल अनुभव है। अतः स्मृति भी प्रमाण है। वेदों का उपवृहण इतिहास तथा पुराण से होता है। अतः रामायण, महाभारत तथा पुराण भी प्रमाण माने जाते हैं। ये सब वेदों के व्याख्या ग्रन्थ हैं। श्रुति स्मृति तथा पुराणो में जहाँ परस्पर विरोध होता है। वहाँ श्रुति ही बलवती मानी जाती है। जहाँ स्मृति तथा प्रमाणो में विरोध प्रतीत हो वहाँ स्मृति बलवती मानी जाती है।[1] इसी प्रकार सांख्य योग न्याय वैशेषिक, वसिष्ठ रामयणादि ग्रन्थो के संबाधंश ही प्रमाणिक माने गये है। तन्त्रों को भी श्रुति के अविरोध से प्रमाण की गणना में किया जाता है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण शब्द प्रमाण की तुलना में निर्बल माने जाते हैं। क्योकि ईश्वर की अपेक्षा लौकिक पुरूषो में आविद्यान्धकार के कारण अल्पज्ञता होती है।, भ्रम प्रमाद तथा विप्रलिप्सा आदि लौकिक पुरुषों के अविघाजन्य दोष के कारण उससे भी हीन प्रमाण माने जाते हैं। प्रसिद्ध लौकिक अर्थ के ज्ञापक शब्द गौण रूप में ही प्रमाण होते है। इस प्रकार अदृष्टार्थवादी वक्ता के वाक्यों के अप्रामाणिकता होने पर भी प्रमेय बल द्वारा वे प्रामाणिक माने जाते हैं। अतः वेद ही मूर्धन्य प्रमाण है। वेदों का अर्थ निर्णय करने के लिए तथा सन्देह का निवारण करने के लिए स्मृति,पुराण,मीमासां आदि भी प्रमाण माने गये है। वेदों मे सन्देह उत्पन्न

---

1. श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते।
   तत्र श्रौतं बलिष्ठं स्यात् तयोर्द्वयोः स्मृतिर्वरा।। प्रस्थान रत्नाकर– 105

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने पर श्रीमद्भागवत गीता के वाक्यो से निर्णय सम्भव है। श्रीमद्दभगवत गीता में सन्देह उत्पन्न होने पर। व्यास सूत्रों और जैमिनि सूत्रों से निर्णय करना चाहिए। जैमिनि सूत्रों में भी सन्देह उत्पन्न होने पर श्रीमद्दभागवत द्वारा सन्देह का निवारण करना चाहिए।[1] यही भाव बल्लभाचार्य ने तत्वदीपनिबन्ध नामक ग्रन्थ में प्रकट किया है। कि वेद श्रीमद्भगवत गीता,ब्रहम सूत्र और श्रीमद्भावगत इन चारो प्रमाणो में से प्रत्येक उत्तरवर्ती प्रमाण अपने अपने पूर्ववर्ती प्रमाणो में उत्पन्न होने वाले सन्देह का विशेष रूप से निराकरण करने वाला होता है।[2] इस प्रकार एक के पश्चात दूसरे का विरोध उत्पन्न होने पर जो अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार भासित होता है। वही अर्थाभास कहलाता है। अर्थाभास होने पर चारो में जहाँ एक वाक्यता (वेद गीता, ब्रहमसूत्र, भागवत) हो वहाँ जिज्ञासा दशा में प्रामाणिक होता है। इन चारों प्रमाणों के अविरोध प्रमाण भी अप्रमाणिक नही है। इनके विरोधी आर्ष या अनार्ष वाक्य किसी भी अवस्था में प्रमाण नही माने जा सकते। मनु आदि के वाक्य भी वेद आदि से अविरोध होने पर ही प्रमाण माने जा सकते है। वेदादि से कही विरोध और कही अविरोध होने पर भी वेद विरूद्ध होने के कारण उन्हे प्रमाण नही माना जा सकता। बल्लभाचार्य ने धर्म के विषय में श्रुति व स्मृति दोनो को प्रमाण माना है। परन्तु भागवत् रूप के विषय में मनुस्मृति आदि तदनुकुल होने पर ही प्रमाण है। विद्वत्दशा में समस्त वांमय ही वेद के तुल्य ही है।

---

1. अतो गौण मुख्य भावस्य सत्वाद् वेदे सन्देहे भगवद्गीतावाक्यैनिर्णयः तत्र सन्देहे व्याससुत्रैः तदविरूद्धैः जैमिनीयेश्च। तत्रापि सन्देह श्रीभागवते समाधावनूभूय भगवदवतारेण व्यासेनोक्तत्वात्। प्र० र० पृ० 105।
2. उत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वस्य सन्देहवारकं प्रकर्षेण कीर्तितम। – तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः एक शब्द ज्ञान अर्थात शब्द द्वारा शब्द से उत्पन्न होने के कारण परोक्ष का निश्चायक ज्ञान होता है।

इस प्रकार वेद, श्रीमद्भगवत गीता,व्यास सूत्र और श्रीमद्भागवत एक ही अर्थ के बोधक होने पर प्रमाणणिक ज्ञान की उत्तपति करते है। पूर्व ज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात नाम एवं लीला भेद से समस्त वाक्यों के रूप में भगवान के द्वारा ही प्रकाशित होने के कारण समस्त वाक्य अर्थात वाङ्मय ही प्रमाण होते है। अर्थात भगवान ही एक मात्र सत्व है जो नियत रूप से सर्वत्रं अशं मे ही प्रकट होते है। अतः समस्त वाक्य वाङ्मय प्रमाण है।[1] भगवान जिस अशं से जहाँ प्रकट होते है, वहाँ उसी पदार्थ की प्रतीति होती है। जिस प्रकार सर्प कभी ऋजु,कभी कुण्डालाकार और कभी भिन्न आकारो वाला हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप भी सब प्रकार का होते हुए भी भक्त की इच्छा के अनुरूप विशेष रूपो में प्रकट होता है।[2] इसी प्रकार समस्त शब्द सारे अर्थो की प्रतीति कराते है क्योकि समस्त शब्द भगवान के ही वाचक है किन्तु भगवदिच्छा से एक शब्द में एक ही अर्थ प्रकट होने के कारण शब्दविशेष अर्थ विशेष का वाचक हो जाता है।अतः शब्द को ही पुरोषत्तम ने सबसे बलवान प्रमाण माना है।

सांख्य के अनुसार शब्द प्रमाणः—

साख्यं ने तीन प्रमाण माने है—प्रत्यक्ष,अनुमान और शब्द सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान से अतीन्द्रिय या अप्रत्यक्ष विषयो की प्रतीति या सत्ता की सिद्धि होती है।

---

1. अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदतः।
विरुद्धंशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि।। तत्व० शा०प्र०का० 9
2. यथा सर्पः ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्व प्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति। ब्र०सू०अणु०भा० 3/2/27

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उससे भी अज्ञात या अप्रत्यक्ष विषय यथार्थ प्रतिपादन करने वाले आगम प्रमाण से सिद्ध होता है।[1]

आप्त अर्थात् प्रमाणिक या यथार्थ बात कहने वाले व्यक्ति या शास्त्र के सुने हुए वचन के अर्थ का ज्ञान आप्तवचन अर्थाद शब्द या आगम प्रमाण होता है।2 आप्त वचन लक्ष्य निर्देश है। आप्त का अर्थ प्राप्त या युक्त अर्थात यथार्थ है। श्रुति शब्द का अर्थ वाक्य से उत्पन्न होने वाला वाक्यार्थ ज्ञान है।

महर्षि व्यास ने भी योग दर्शन में आगम को आप्त पुरूष द्वारा कहा गया या अनुमिति किया गया माना है। वह दूसरे पुरूष को ज्ञान के संक्रमण के लिए शब्द से कहा जाता है। शब्द से उस अर्थ के विषय की वृत्ति को ही आगम कहते हैं। जो वक्ता पदार्थ को न जानता हैं और नही उसने देखा है, वह अश्रद्धेय है अर्थात आप्त नही है। परन्तु मूलवक्ता अर्थात परमेश्वर में यह नही घटता है। क्योकि वह सभी को साक्षात देखता है और श्रुति के माध्यम से कथन करता है। अतः श्रुति आगम प्रमाण के अन्तर्गत है।[3]

---

1. सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
   तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्।। सा०का० 6
2. आप्तश्रुतिरातवचनं तु। सा० का० 5
3. आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृतिः श्रोतुरागमः। यस्याश्रद्वेयार्थो वक्तृ न दृष्टानुमितार्थः स आगम प्लवेत मूलवक्तारि तु दृष्टानुमितं निर्विप्लवः स्यात्। यो०द०सू०व्या० भा०सू० 6

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समालोचना

शब्द प्रमाण को प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने स्वीकार किया है, नास्तिक कहे जाने वाले चार्वाक बौद्ध और जैन भी किसी न किसी रूप में अपने पूर्वजो के लिखित ग्रन्थो को प्रमाण रूप में स्वीकार करतें हैं। वास्तव में यह शब्द या आगम अपने से अधिक ज्ञानवालों के द्वारा लिखे हुए ग्रन्थ ही हैं। प्रायः सभी दार्शनिकों ने थोडे बहुत परिर्वतन के साथ शब्द प्रमाण का मिलता जुलता लक्षण स्वीकार किया है। इस शब्द प्रमाण का पर्यवसान आस्तिक दर्शनो में वेदादि शास्त्र और पुराण स्मृति आादि ग्रन्थो में होता है।

जो लोग अपने से पहिले विद्वानों के द्वारा तथा आप्त कहे जाने वाले ऋषियों के द्वारा लिखित ग्रन्थों को प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं उनके उपर प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि इन ग्रन्थों को साक्षी तो स्वीकार किया जा सकता है किन्तु उन्हे चिरन्तन सत्य नही कहा जा सकता। वस्तुतः आगम है क्या ? दूसरे अनुभवो का लिखित रूप ही तो है और वह अनुभव किसी न किसी प्रमाण से ही हुआ है। उन प्रमाणो में प्रत्यक्ष और अनुमान ही हो सकता है। ये दो प्रमाण तो शाश्वत हो सकते हैं किन्तु आगम अनादि नही हो सकता। क्योकि पहले अनुभव फिर लेख यही क्रम हुआ करता है। पहले लेख और फिर अनुभव ऐसा किसी लौकिक व्यवहार में नही देखा जाता। अब वेदों पर अत्यन्त विचारहीन श्रद्धा रखने वाले आस्तिक कहते है कि पहले वेद बने उसके बाद ही समस्त व्यवहारिक ज्ञानो का उद्‌गम हुआ किन्तु यह बात अत्यन्त आस्थावान लोग तो स्वीकार कर सकते है किन्तु समीक्षक लोग इस मत में रूचि नही रखते। बौद्ध दार्शनिक तो कहते है कि–

ताल्वादिजन्माननुवर्णवर्गो वार्णात्मको वेद इतिस्फुटचं।
पुंश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरूषैयौअयमिति प्रतीतिः।

अर्थात वेद वर्णो का समुदाय रूप है वर्ण ताल्वादि स्थानों के प्रयत्नो से ही उत्पन्न होते हैं और यह भी निश्चित है कि यह तात्वादि स्थानों की शक्ति केवल पुरूषों को ही प्राप्त हुई है तो फिर यह बात

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैसे स्वीकार कर ली जाय कि वेद पौरूषेय नही हैं।

वस्तुतः उक्त आक्षेप निराधार नही है। आगम को प्रमाण भले ही स्वीकार किया जाये किन्तु वह शाश्वत नही हो सकता। वेदादि शास्त्र पूर्व ऋषियों के अनुभवों का सग्रहं है इसलिए यही मानना उचित प्रतीत होता है कि आगम प्रमाण से पहले भी प्रमा विद्यमान थी। भले ही ब्रह्म शास्त्रयोनी हो किन्तु उत्पत्ति के स्तर पर शास्त्रों का जन्म अनुभव के बाद ही हुआ है। वह अनुभव भले ही पुरूष विशेष रूप ईश्वर के चित्त में विद्यमान हो। लोक में जो अनुभव आया है वह भी नित्य है। प्रमा का कारण तो प्रमाण है किन्तु यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में ही सत्य प्रतीत होता है शाब्दी प्रमा के विषय में नहीं। यद्यपि ऐसी बात नही है कि शब्द प्रमाण से प्रमा उत्पन्न न होती हो शब्द से भी प्रमा उत्पन्न होती है किन्तु वह उन्ही के लिए होती है जो दूसरो के अनुभव से लाभ उठाना चाहते है। इसलिए शब्द को प्रमाण मानना युक्ति युक्त भी है किन्तु जो लोग स्वयं केवली अथवा दूसरों के अनुभव से लाभ उठाने में विश्वास नही रखते यदि वे लोग आगम को प्रमाण नही मानते तो उन्हें भी असाधु या अयुक्त नही माना जा सकता।

अब रही वेदों के नित्यत्व और अनित्यत्व की बात तो इस विषय में भी दोनों ही मंत न्याय्य है। न्याय और अद्वैत वेदान्त जैसे उत्कृष्ट दर्शन भी वेदों को अनित्य मानते हैं जबकि वे घोर वेदवादी दर्शन हैं। एक पूर्व मीमासां ही वेद को नित्य स्वीकार करती है। जबकि वह वेद को ईश्वर कृर्तक नही मानती। इसलिए इस विवाद में उलझने से कोई विशेष लाभ प्रतीत नही होता है। हमें तो इस बात से मतलब है कि वे प्रमाण हैं या नहीं ? तो इस विषय में हमारा स्पष्ट मन्तव्य है कि वेद प्रमाण है भी ओर नही भी। चूकि वेदों से गोपनीय रहस्यों का ज्ञान होता है इसलिए वे प्रमाण भी है और चूकि वेदों का ज्ञान भी पूर्व ऋषियों का अनुभव ही है। इसलिए उनके लिए वह प्रमाण नही हैं। किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में सभी का मत है कि वे तो शाश्वत प्रमाण है।

वेदो को पौरूषेय और अपोरूषेय मानने के विषय में भी पर्याप्त वैमत्य है। न्याय दर्शन ईश्वर को पुरूष कहता है इसलिए ईश्वर कर्तृक होने के

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण वह वेदो को पौरूषेय कहता है। अद्वैत वेदान्ती भी वेदों को ईश्वर निर्मित कहते हैं किन्तु वे इसे अपौरूषेय मानते हैं। मीमासां ईश्वर की सत्ता को भी नही मानता इसलिए वह वेदो की रचना न पुरूष से मानता है न ईश्वर से। अद्वैत वेदान्तियो का तर्क यह है कि पुरूष निर्मित या पुरूषोच्चरित होने से वेदों को पौरूषेय नही मानना चाहिए। वस्ततुः वेदो को अपौरूषेय ही मानना चाहिए। पुरूषोच्चरितत्व पौरूषेय तो नही होता या पुरूषानुच्चरितत्व भी अपौरूषेतत्व नही होता अपितु पूर्वोच्चारण की अपेक्षा करके जिनका उच्चारण किया गया है ऐसे ग्रन्थ अपौरूषेय होते है और जो पूर्व उच्चारण की अपेक्षा न करके उच्चरित होते है पौरूषेय कहा जाता है। चूँकि जैसा उच्चारण पूर्व कल्प में था वैसा ही उच्चारण इस कल्प में भी है और प्रत्येक कल्प में भी ऐसा ही रहेगा। अर्थात उनके पौर्वापर्य मे अन्तरं नही आता इसलिए वेद अपौरूषेय है। क्योंकि यदि ये पौरूषेय होते तो पूर्व के उच्चारण से वर्तमान उच्चारण में कुछ न कुछ भेद अवश्य होतां। यह वेदान्त की पौरूषेयत्व और अपौरूषेयत्व की अपनी परिभाषा है जो युक्ति–युक्ति भी प्रतीत होती है। वेदों को ईश्वर कर्तृक तो मानना ही चाहिए क्योकि जो कार्य होता है वह सकर्तृक ही होता है। पूर्व मीमासां का यह कहना कि शब्द नित्य है इसलिए वेद भी नित्य है यह बात समझ में नही आती। यह भी स्पष्ट नहीं होता कि कौन सा शब्द नित्य है ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक ? ध्वन्यात्मक शब्द नित्य अथवा अनित्य होने से आगम प्रमाण का कोई संबंध नही शब्द की उत्पत्ति हो या अभिव्यक्ति हो उससे हमारा क्या प्रयोजन। हमारी जिज्ञासा तो यह है कि अग्निमिडे पुरोहितम् "क्या यह वर्णों का पौर्वापर्यरूप मन्त्र भी नित्य है या नही और यह पौर्वापर्य उत्पन्न होता है या नही। यदि पूर्वाग्रहो को छोड़ दिया जाये तो विवेकशील चित्त वर्णात्मक वेदो को अन्नीश्वर कर्तृक और नित्य मानने को तैयार नही होता । अतः हमारा मन्तव्य यह है कि ज्ञानरूप वेद को भले ही नित्य और अनीश्वर कृत स्वीकार कर किया जाये किन्तु वर्णात्मक वेदो को अनित्य और ईश्वरकृत ही मानना चाहिए।

शब्द प्रमाण के सन्दर्भ में आप्त शब्द भी विवाद का विषय बना हुआ है। न्याय आप्त पुरुषों के वाक्यों को शब्द प्रमाण कहता है। किन्तु अद्वैत

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्ती प्रमाणन्तर से अवाधित तात्पर्यार्थ युक्त वाक्य को शब्द प्रमाण कहता है। उसमें आप्तत्व का अथवा अनाप्तत्व का झगडा नहीं है। विचारणीय यह है कि पूर्व आप्त किसे कहा जाय। कुछ लोग जिस पर विश्वास करते है उन्हें ही आप्त कहा जाये तब तो चार्वाक, बौद्ध आदि नास्तिक और नैयायिक आदि आस्तिको के आप्त पुरूष भिन्न–भिन्न हो जायेगें और सभी को आप्त कहा जायेगा। तब जो सभी दर्शन सत्यान्वेषण में प्रमाण ही माने जाने चाहिए। फिर यह कलह क्यों ? आस्तिको और नास्तिको का भी विवाद क्यों ? यदि किसी ऐसे आप्त पुरूष की कल्पना की जाये कि जिस पर सभी विश्वास करते हों और जो सर्वदा यथार्थ भाषण ही करता हो तो ऐसे पुरूष की खोज करना असम्भव है। इसलिए शब्द प्रमाण के लक्षण में से आप्त शब्द को हटाकर अद्वैतवेदान्तियो ने ठीक ही किया है। वही वाक्य प्रमाण माना जाना चाहिए जो तीनों कालों में किसी भी प्रमान्तर से बाधित न हो सके।

नैयायिक ईश्वर को ही सबसे बड़ा आप्त कहते है। चूँकि ईश्वर को किसी ने देखा नही इसलिए उनके बाद ऋषियो को आप्त कहा जाता है। किन्तु प्रश्न यह है। कि ऋषि भी अनेक हैं और वे परस्पर विरोधी वाक्य कहते हैं तो फिर उन्हे आप्त कैसे माना जाये। इसलिए यही मानना उचित है कि अपने से पहले उत्पन्न हुए अपने से अधिक ज्ञानवान पुरुषों के अनुभव से हम कभी–कभी जो लाभ उठा लिया करते है। उन्हीं को प्रमाण मान लिया जाता है। और यह बात हम पहले कह चुके है कि पूर्वजो के लिखित अनुभवों को प्रमाण माना भी जा सकता है और नही भी।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशम अध्याय
अर्थापत्ति और अनुपलब्धि

अद्वैतवाद में अर्थापत्ति–

अर्थापत्ति नामक प्रमाण मीमांसक व अद्वैत वेदान्ती ही स्वीकार करते हैं। अन्य इसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण के अन्दर करते हैं। अर्थापत्ति से तात्पर्य है "अर्थ की आपत्ति करना" आपत्ति से यहां "ग्रहण" लेना चाहिए। अर्थात् किसी ऐसे कार्य को देखकर जो किसी विशेष कारण से बिना उत्पन्न नहीं हो सकता हो, इस कार्य से उस कारण रूपी अर्थ का ग्रहण करना, आपत्ति करना ही अर्थापत्ति कहलाती है। जैसे – कदाचित् कोई पुरुष दिन में भोजन नहीं करता किन्तु उसका शरीर पुष्ट दीखता है। भोजन के बिना ऐसी पुष्टि असंभव है। इससे यह निश्चित है कि वह पुरुष रात्रि में अवश्य ही भोजन करता होगा। इस प्रकार पीनत्व रूप कार्य से रात्रि भोजन रूप कारण की कल्पना की जाती है यही अर्थापत्ति प्रमा है और इस प्रमा के प्रमाण को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं। अर्थात् उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति प्रमाण है। इन दोनों ज्ञानों में से उपमाद्य ज्ञान प्रमाण है, और उपपादक का ज्ञान प्रमा है। जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है वह उपपाद्य और जिसके अभाव से जिसकी अनुपपत्ति होती है वह वहां उपपादक होता है जैसे रात्रि भोजन के बिना दिन में भोजन न करने वाले पुरुष का पीनत्व की अनुपपत्ति है, इस कारण रात्रि भोजन उस पुष्टि का उपपादक है।[1]

---

1. तत्रोऽपपाद्यज्ञानेनोपपादक कल्पनमर्थापत्तिः। तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम्। उपपादकज्ञानं फलम्। येन बिना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम् यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्रोपपादकम्। यथा रात्रिभोजनेन बिना दिवा भुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशपीनत्वस्यानुपपत्तिरिति रात्रिभोजनमनुपपादकम्। वे०परि०अर्थो०परि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदार्थ की आपत्ति उस षष्ठी तत्पुरुष समास से अर्थापत्ति शब्द रात्रि भोजन कल्पना रूप प्रमा अर्थ में रहता है और जिससे पदार्थ की कल्पना होती है। वह अर्थापत्ति प्रमाण, इस बहुब्रीहि समास से अर्थापत्ति शब्द, उस कल्पना के साधन भूत पीनत्वादिज्ञान रूप अर्थ में रहता है। इस कारण प्रमा और प्रमाण दोनों अर्थो में "अर्थापत्ति संज्ञक एक ही शब्द का प्रयोग होता है।

यह अर्थापत्ति दो प्रकार की है। दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। उनमें से दृष्टार्थापत्ति का उदाहरण जैसे "यह रजत है" इससे आगे दीखने वाली वस्तु में ज्ञात होने वाले रजत का उसी पदार्थ में यह रजत नहीं है। यह निषेध उस रजत में सत्यत्व होने पर अनुपपन्न होता है। इस कारण उस रजत में सद्भिन्नत्व या सत्यत्वात्यन्ताभाववत्व रूप मिथ्यात्व की कल्पना करा देता है।[1] जिस अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होता है। उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं। जैसे सामने दीखने वाले पदार्थ का प्रथम यह रजत है। ऐसा ज्ञान होता है। परन्तु किसी आप्त के कहने पर अथवा स्वयं वहां जाकर उसे हाथ में लेकर देखने के पश्चात् "यह रजत नही है" ऐसा ज्ञान होता है। वास्तव में वह रजत यदि सत पदार्थ होता है तो उसका निषेध कैसे होता। अतः ऐसी कल्पना की जाती है कि यहाँ पर वास्तव में रजत की सत्ता नही अर्थात् रजत सत्य नही है। वह सद्भिन्न अर्थात् असत है। अथवा इस रजत में सत्यत्व का अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार उसके सत्यत्वात्यन्ताभावत्वरूप मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। यह मिथ्यात्व की कल्पना निषेध के कारण होती है और रजत तथा शुक्ति दोनो विषय दृष्ट

---

1. सा चार्थापत्तिर्द्विविधा–दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्चेति। तत्र दृष्टार्थापत्ति–यथा–इदं रजतमिति पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्य नेदं रजतमिति तत्रैव निषिध्यमानत्वं सत्यत्वेअनुपपन्नमिति रजतस्य सदभिन्नत्वं सत्यत्वत्यान्ताभाववत्वं वा मिथ्यात्वं कल्पयतीति। ———— तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस कारण रजत की इस मिथ्यात्वकाल्पना को दृष्टार्थापत्ति कहते हैं।

सुने हुए वाक्य के मुख्य अर्थ का असम्भव होने पर उस अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिए जो अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। जैसे–"आत्मवेत्ता पुरूष समस्त शोक को पार कर जाता है। "इस श्रुति में शोक शब्द वाच्य समस्त बन्धों में बताये हुए ज्ञान निवर्त्य की अन्यथा उपत्ति का संभव न होने से समस्त बन्धों में मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है अथवा "जीवित देवदत्त घर में नही हैं इस वाक्य के सुनने पर जीवित पुरूष का घर में न होना उसके बहिःसत्व की कल्पना कराता है। उस रीति से श्रुति अर्थात् शब्द से ज्ञान होने वाले अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिए उपादक अन्य अर्थ की कल्पना करना ही श्रुतार्थापत्ति कही जाती है।

श्रुतार्थानुपपत्ति के दो भेद होते हैं अभिधानानुपत्ति और अभिहितानुपपत्ति। उनमें से जब हम वाक्य का एक देश सुन लेते हैं किन्तु उस एक पद के या कुछ भाग के अन्वय की अनुपपत्ति होने पर उस पद के साथ अन्वित होने योग्य किसी दूसरे पद की कल्पना करते हैं उसे अभिधानानुपपत्ति कहते हैं। जैसे हम "द्वार" को सुनकर "बन्द कर दो" पद का अध्याहार करते हैं या विश्वजित याग करे "इस विधि के श्रवण करने पर "स्वर्गकाम

---

1. श्रुतार्थानुपपत्ति–यत्र श्रूयमाणवाक्यस्य स्वार्थानुपपत्तिमुखेनार्थान्तर– कल्पनम् यथा तरति शोकमात्मवित्" इत्यत्र श्रुतस्य शोकशब्दवाच्यबन्धजातस्य ज्ञाननिवर्त्मत्वास्या न्याथानुपपत्या बन्धस्य मिथ्यात्वं कल्पते। यथा वा जीवो देवदत्तो गृहे नेति वाक्य श्रवणानन्तरं जीविनो गृहासत्वं वहिसत्वं कल्पयति। तदैव।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद'' का अध्याहार करते हैं यही अभिधानानुपपत्ति कहलाती है[1]।

जहां पर वाक्य से ज्ञात हुआ अर्थ अनुपपन्न है यह ज्ञात होने पर वाक्य अन्य अर्थ को कल्पना करता है, वहां पर अभिहितानुपत्ति संज्ञक अर्थापत्ति होती है। जैसे स्वर्गेच्छुक पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे ''इस वाक्य में क्षणिक ज्योतिष्टोम याग गतत्वेन अवगत हुए स्वर्ग साधनत्व की अनुपपत्ति होने से वणिक् याग–यह साधन है और स्वर्ग प्राप्ति यह फल है। इसके मध्यवर्ती अपूर्व की कल्पना की जाती है।[2]

अद्वैतवेदान्त में अनुपलब्धि प्रमाण :–

ज्ञानरूप करण से उत्पन्न न होने वाला जो अभावानुभव का असाधारण करण हो वही अनुपलब्धि रूप छठा प्रमाण है।[3] अनुमान प्रमाणजन्य जो अतीन्द्रिय अभाव का अनुमिति रूप अनुभव कारण अनुमानादि होता है। उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिए अनुपलब्धि लक्षण में अजन्यान्त अर्थात् ज्ञानकरणजन्य पद आवश्यक है। एवं साधारण कारणों में अतिव्याप्ति न हो इसलिए ''असाधारण'' पद आवश्यक है। अभाव स्मृति का असाधारण कारण जो संस्कार उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिए अनुभव पद आवश्यक है।

---

1. श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा–अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपतिश्च। यत्र,यत्र वाक्येकदेशश्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्याऽन्वभिधानोपयोगी पदान्तरं कल्पयते तत्राभिधानानुपपत्तिः। यथा द्वारमित्यत्र ''पिधेहि'' ''इत्यध्यहारः यथा वा'' विश्वजितो यजेत ''इत्यत्र'' स्वर्गकाम'' इति पदाध्याहारः तदैव।
2. अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽन्नुपपन्नत्वेन ज्ञातः सन्नर्थान्तरं कल्पयति, तत्र द्रष्टव्या। यथा ''स्वर्गकामो ज्योतिष्ठोमेन यजेत ''इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वस्य क्षणिक ज्योतिष्टोमयाग गततयाऽवगतस्यानुपपत्या मध्ववर्त्यपूर्ण कल्पयते।– तदैव
3. ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकरणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्। वे०परि०अनु०परि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतीन्द्रिय पदार्थ के अभावानुमिति स्थल में भी अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से ही माना जाय, क्योंकि अतीन्द्रिय भाव पदार्थ की अनुपलब्धि और अभाव से ही माना जाय, क्योंकि अतीन्द्रिय भाव पदार्थ की अनुपलब्धि और अभाव की अनुपलब्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि धर्माधर्म की अनुपलब्धि होने पर भी उनके अभाव का निश्चय नही हो पाता। इसलिए योग्यानुपलब्धि ही अभावग्राहक है, अर्थात् वही अभाव की ज्ञापिका है।[1]

प्रश्न होता है कि यह योग्यानुपलब्धि क्या है ? अर्थात उसका स्वरूप क्या है। योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि को योग्यानुपलब्धि कहते हैं। अथवा योग्य प्रत्यक्षयोग अधिकरण में प्रतियोगी की अनुपलब्धि को। इनमें से प्रथम पक्ष तो संभव नही है।, क्योंकि वैसा मानने पर स्तम्भ में पिशाचादि के भेद की अप्रत्यक्षत्वापत्ति होगी। इसी तरह अधिकरण योग्य'' यह द्वितीय पक्ष भी संभवन नही है। क्योकि वैसा मानने पर आत्मा में धर्माधर्मादि अभाव का भी प्रत्यक्ष होने लगेंगा। अतः दोनों पक्ष संभव न होने से योग्यानुपलब्धि का निरूप़ण नही किया जा सकता है। यदि ऐसा आक्षेप करते हैं तो यह उचित नही है। क्योंकि अद्वैत वेदान्त में योग्य जो अनुपलब्धि वह योग्यानुपलब्धि ऐसा कर्मधारय समास का आश्रय किया है।[2] जैसे स्पष्ट प्रकाश से युक्त भूतल पर घटाभाव का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह अनुपलब्धि से नहीं

---

1. न चातीन्द्रियाभावानुमितिस्थलेऽप्यनुपलब्धयैवाभावो गृह्यता विशेषभावादिती वाच्यम्। धर्माधर्माधनुपलब्धिसत्त्वेऽपि। तदभावानिश्चयेन योग्यानुलब्धेरेवाभाव ग्राहकत्वात्।–तदैव
2. योग्याचासावनुपलब्धिश्चेति कर्मधारयाश्रयणात्। तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता। इसी कारण पिशाच का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर भी ''स्तम्भ में यदि वह होता तो उसका स्तम्भ के समान ही प्रत्यक्ष हुआ होता परन्तु वह होता नहीं इसलिए स्तम्भ में भी पिशाच का अभाव अनुपलब्धि प्रमाणगम्य है। किन्तु आत्मा में धर्माधर्मादि यदि होते तो दिखाई देते ऐसा ज्ञानापदन नहीं हो सकता इसलिए उन जैसे परोक्ष पदार्थों का अभाव अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है।

जिस इन्द्रिय से पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान होता है उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है अतः अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे नील घट में पीत रूप के अभाव का जो ज्ञान होता है, वह चक्षुरिन्द्रिय से ही होता है क्योंकि नील घट में पीत रूप है या नहीं यह जानने के लिए नेत्र से ही देखना पडता है, चक्षुभिन्न किसी इन्द्रिय से रूप का रूपाभाव प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

अतः इन्द्रिय का अधिकरण के साथ सन्निकर्ष होने पर उस इन्द्रिय से ही सन्निकृष्ट अभाव का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि यह भूतलघटाभाववत् है ''इस प्रकार हमें भूतल का ज्ञान होता है। क्योंकि वहां इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक का अनुपिधान रहता है। इन्द्रिय होगी तो अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होगा और वह न हो तो नहीं होगा। इन्द्रिय के इस अन्वयव्यतिरेक का अनुरोध अनुभूत होता है। ऐसा यदि कहें तो ठीक नहीं क्योंकि अभाव प्रत्यक्ष के प्रतियोगी की उपलब्धि तो कल्पित है। अब तो केवल करणत्व को ही कल्पना करनी पड़ती है। यदि कहीं इन्द्रिय को ही कल्पना की जाये तो ठीक नहीं क्योंकि इन्द्रिय का अभाव के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। इस कारण से अभाव ज्ञान में इन्द्रिय का हेतुत्व भी नहीं है।

भूतल पर घट नहीं है। इस अभावानुभव स्थल में भूतल का प्रत्यक्ष तो अभावादि सिद्ध है। अतः भूतल पर वृत्ति का निर्गमन तो अवश्य ही है। अतः भूतलावाच्छिन्न चैतन्य के समान भूतलनिष्ठ अभावावच्छिन्न चैतन्य भी प्रमाण से अभिन्न होने के कारण सिद्धान्त में घटाभाव में भी प्रत्यक्षता

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ही। ऐसा कहो तो आपका कथन सत्य है। अभाव प्रतीति प्रत्यक्ष होने पर भी उसमें करण अनुपलब्धि सञ्ज्ञक पृथक् प्रमाण ही है। क्योंकि फलभूत ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसका करण प्रत्यक्ष ही हो यह नियम नहीं। तू दशवाँ है। इत्यादि वाक्य से उत्पन्न हुए ज्ञान में प्रत्यक्षत्व होने पर भी उसका कारण जो वाक्य है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न प्रमाण है। ऐसा हमने माना हैं।

फलों में वैजात्य अर्थात् भिन्नता के बिना रहे उनके प्रमाणों में कैसे भेद होगा? यह शंका भी उचित नहीं है। क्योंकि वृत्ति में भिन्नता होने से ही प्रमाणों में भेद उत्पन्न होता है। इसलिए घटाभावाकार वृत्ति इन्द्रिय जन्य नहीं है। क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय का घटाभावादि विषयों के साथ सन्निकर्ष नहीं होता अपितु घट की अनुपलब्धि प्रमाण से ही वह जन्य है। इसलिए अभावाकारवृत्ति का जनक अनुपलब्धि संज्ञक पृथक् प्रमाण है।

यह अभाव चतुर्विध है। अर्थात् प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव इस रीति से अनुपलब्धि प्रमाण के प्रमेयभूत अभाव के चार भेद होते है। उनमें से प्रागभाव का स्वरूप इस प्रकार है –

प्राक् कार्य उत्पन्न होने के पूर्व उस कार्य का जो अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं। जैसे घट रूप कार्य उत्पन्न होने से पूर्व जो घटाभाव है वह घट प्रागभाव है।[2] प्रागभाव कार्य के उपादान करण में रहता है। घट रूप कार्य का अभाव मृतिपिण्डरूप कारण में रहता है। क्योंकि प्रागभाव की प्रतीति "भविष्यति" यहां कार्य होगा। इस प्रकार के मृत्पिण्ड में ही होती है। उस प्रतीति की उत्पत्ति के लिए ही प्रागभाव को स्वीकार करना

---

1. फलवैजात्यं बिना कथं प्रमाणभेद इति चेत्। न वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः, तथा च घटाद्यभावाकार वृत्तिनेन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेणा सन्निकर्षात्। किन्तु घटानुपलब्धिरूप मानान्तरजन्या इति भवत्यनुपलब्धेर्मानान्तरत्वम्–तदैव।
2. स चाभावाश्चतुर्विधः – प्रागभावः प्रवंसाभांवऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति। तत्र मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादे उत्पत्तेः पूर्वं यो भावः स प्रागभावः, स च भविष्यतीति प्रतीतिविषयः। तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता है। कार्यनाश के अनन्तर जो उसका अभाव होता है। वह प्रध्वांसाभाव है। प्रागभाव के समान ही प्रध्वंसाभाव का भी अधिकरण कार्य का उपादान कारण ही होता है जैसे उसी मिट्टी के घट पर एक मुद्गर मारने पर वह फूट जाता है अर्थात् उस मृत्तिका को जो घट का आकार प्राप्त हुआ था वह नष्ट होता है। घटादिकों के नाश होने पर नाश होता है इस प्रकार ध्वंस का भी अपने अधिकरण भूत कपाल के नष्ट होने के कारण पुनः घट उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा। परन्तु यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि घट ध्वंस होता है वह घट प्रतियोगिक ही रहता है अर्थात् उसका प्रतियोगी घट ही होता है। अन्यथा प्रागभाव ध्वंस रूप जो घट उसका विनाश होने पर पुनः घट का प्रागभाव मानना पड़ेगा।[1]

ऐसा मानने पर भी जहां ध्वंस का अधिकरण नित्य होता है वहां उस ध्वंस का नाश कैसे होता है? परन्तु यह शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि वैसा अधिकरण चैतन्य के अतिरिक्त यदि हो तो उसमें नित्यत्व असिद्ध है। क्योंकि ब्रह्म से भिन्न समस्त जगत् के ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्व है और वह ध्वंसाधिकरण यदि चैतन्य ही हो तो उस ध्वंस में नित्यत्व की असिद्धि है। क्योंकि जिसका प्रतियोगी आरोपित होता है, ऐसे अधिष्ठान में प्रतीयमान ध्वंस, अधिष्ठान स्वरूप रहता है। कहा भी है कि कल्पित वस्तु का नाश अधिष्ठानावशेष रहता है। इस प्रकार शुक्तिरुप्य का विनाश भी

---

1. तत्रैव घटस्य मुद्गरपातानन्तरं योऽभावः स प्रध्वंसाभावः ध्वंसस्यापि स्वाधिकरणकपालनाशे नाश एव। न चैवं घटोन्मज्जनापत्तिः घटध्वंसस्यापि घटप्रतियोगिक ध्वंसत्वात्। अन्यथा प्रागभावध्वंसात्मक घटस्य विनाशे प्रागभावोन्मज्जनापित्तः। तदैव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इदमवृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य ही है। जिस अधिकरण में जिसका कालत्रय में भी अभाव रहता है उस अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है वह भी घटादि के समान ध्वंस का प्रतियोगी ही होता है।

यह, यह नहीं ऐसा प्रतीति का विषय जो अभाव वह अन्योऽन्याभाव है। विभाग, भेद, पृथक्त्व शब्दों से इसी का व्यवहार होता है क्योंकि विभागादिकों को अन्योऽन्याभाव से पृथक् मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस अन्योन्याभाव का अधिकरण यदि उत्पत्तिमत् हो तो वह उत्पत्तिमान् होता है। जैसे घट में पट का भेद परन्तु अधिकरण यदि अनादि हो तो वह भी अनादि ही होता है। जैसे जीव में ब्रह्म का भेद या ब्रह्म में जीव का भेद। यह दोनों प्रकार का भेद ध्वंस का प्रतियोगी होता है क्योंकि मूल अविद्या की निवृत्ति होने पर उसके अधीन रहने वाले भेदों की निवृत्ति होना अवश्यम्भावी है।[1]

यह अन्योऽन्याभाव दो प्रकार का होता है।[2] सोपाधिक और निरुपाधिक। उन दोनों में से जिसकी सत्ता उपाधि की सत्ता से व्याप्त होती है। वह सोपाधिक भेद है और उपाधि की सत्ता से रहित जो भेद है वह निरुपाधिक भेद है। घट में घट का भेद निरुपाधिक है।

---

1. यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावः सोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रुपात्यन्ताभावः। सोऽपि घटादिवद् ध्वसंप्रतियोगी। वे०परि०
2. इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योन्याभावः। अयमेव विभागे भेदः पृथक्त्वं व्यवह्रियते। भेदातिरिक्तविभागादो प्रमाणाभावात्। अयं चान्योन्याभावो-ऽधिकरणस्य सादित्वे सादिः यथा घटे परभेदः। अधिकरणस्यानादित्वेऽनादिरेव यथा जीवो ब्रह्मभेदः, ब्रह्मणि वा जीवभेदः। वे०रि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामानुज मत में अर्थापत्ति

मीमांसक आदि अर्थापत्ति नामक एक अतिरिक्त प्रमाण स्वीकार करते हैं। जबकि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में अर्थापत्ति को अतिरिक्त प्रमाण नहीं स्वीकार किया जाता। अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया जाता है। देवदत्त पुष्ट है किन्तु दिन में भोजन नहीं करता है। यह सुनकर श्रोता अनुमान करता है कि जो जो हृष्ट–पुष्ट रहता है। वह कभी न कभी भोजन अवश्य करता है। देवदत्त हृष्ट–पुष्ट है किन्तु दिन में भोजन नहीं करता है। इससे पता चलता है कि वह रात्रि में पर्याप्त भोजन अवश्य करता है। इस प्रकार देवदत्त आदि के रात्रि के भोजन आदि की कल्पना को ही अर्थापत्ति कहते हैं। इस कल्पना का आधार अनुमान है। अतः एवं सिद्धान्त में अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया है।[1]

अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव भी अनुमान प्रमाण में ही हो जाता है।

वल्लभ मत में अर्थापत्ति प्रमाण

पुरुषोत्तम ने अर्थापत्ति प्रमाण का पृथक् प्रमाणत्वेन खण्डन किया है। उन्होने वेदान्त सम्मत परिभाषा को ठीक नही ठहराया है। क्योकि कल्पना तो सम्भावनास्वरूप होती है। अतः उससे प्रमिति नही हो सकती। उपपाद्य जो पीनत्व है, वह तो मेंदो रोग से अथवा तृणविशेष के भोजन से अथवा चावल तथा खीर के भोजन से भी उत्पन्न हो जाता है। ऐसा व्यक्ति यदि एक पक्ष पर्यन्त भोजन न करे तो भी मोटा रहता है।

---

1. अर्थापत्तिर्नाम दिवा अभुंजानस्य पुरुषस्य पीनत्वदर्शनाद् रात्रि भोजन कल्प्यते एवस्यानुमानेन्तर्भावः । तर्को नाम व्याप्यांगीकारेण व्यापकानिष्टप्रसंजनम्। तद्यथा पर्वतो वन्हिमान् धूमवत्वादित्यनुमाने धूमोऽस्तु वन्हिमास्तु यदि वन्हिर्न स्यात तर्हि धूमोऽपि नस्यादिति। एतस्य प्रमाणानुगाहकत्वात्। य०म०दी०दि०अ०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्त परिभाषा में प्रतिपादित अर्थापत्ति के दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति इन दो भेदों का विवेचन करके पुरुषोत्तम ने श्रुतार्थापत्ति के भी अभिधानुपपत्ति तथा अभिहितनुपपत्ति का वेदान्त परिभाषानुसार व्याख्यान प्रस्तुत किया है। वेदान्त का युक्तिसंगत खण्डन करते हुए पुरुषोत्तम ने प्रस्थानरत्नाकर में सर्वथा स्पष्ट यह लिखा है कि दोनों प्रकार की अर्थापत्ति का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष तथा शब्द में ही हो जाता है क्योकि यह तो प्रत्यक्षादि द्वारा ज्ञातपदार्थ के ज्ञान की दृढ़ता का हेतु मात्र है, अभ्यास के समान प्रमाणन्तर नही है। क्योकि अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानने में कोई भी बलवान तर्क प्राप्त नहीं होता।[1] इस प्रकार यह करतलामलकवत् स्पष्ट है कि पुरुषोत्तम ने अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना बल्कि उसका सर्वथा खण्डन किया है। डा0 सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का यह कथन सत्य नहीं है कि पुरुषोत्तम ने पार्थसारथिमिश्र के अनुसार अर्थापत्ति को स्वीकार किया है।[2] वल्लभ वेदान्त में कही भी अर्थापत्ति को स्वन्तत्र प्रमाण नही माना गया।

इसी प्रकार अनुपलब्धि को भी वल्लभ मत में स्वन्तत्र प्रमाण स्वीकार नही किया जाता है।

---

1. एवं द्विविधापीययमर्थापत्तिः यथायथं प्रत्यक्षशब्दायोरनुग्राहिका। प्रत्यक्षादि प्रमितार्थज्ञानतदाढ़र्यहेतुत्वात्। अभ्यासादिवत्। न तु प्रमाणान्तरम् तदगमकस्य बलीयसो भावात्। प्रस्थानरत्नाकर–पृ0 152
2- "Purushottam also admits arthapatti or implication as seperate pramann, in the manner of Parthsarthimisres-Indian phiVol. lv p. 345.

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वैतवादी आचार्यों के मत में अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का अन्य प्रमाणों में अन्तर्भाव

महर्षि गौतम ने केवल चार ही प्रमाण स्वीकार किये हैं। अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं चार प्रमाणों में किया है। उनके अनुसार ऐतिह्य का शब्द में, अर्थापत्ति सम्भव और अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है।[1] भाष्यकार लिखते हैं कि प्रतिपक्ष युक्तियुक्त नहीं हैं कैसे? आप्तों का वचन शब्द प्रमाण है और यह शब्द का लक्षण ऐतिह्य से व्यावृत्त नहीं है। वह यह भेद समानता के कारण संगृहीत हो जाता है।

प्रत्यक्ष के द्वारा उससे सम्बन्ध रखने वाले अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान है। उसी प्रकार अर्थापत्ति संभव और अभाव है। वाक्य के अर्थ के विश्वास से विरुद्ध होने वाले अनुक्त अर्थ का ग्रहण अर्थापत्ति है। वह अनुमान ही है। अविनाभाव संबंध से संबंध रखने वाले समुदाय और समुदायी में से समुदाय के द्वारा दूसरे समुदायी का ग्रहण सम्भव है, वह भी अनुमान है। इसके होने पर यह नहीं हो सकता। इस प्रकार विरोध प्रसिद्ध होने पर कार्य की उत्पत्ति न होने से कारण के प्रतिबन्धक का अनुमान किया जाता है। अतः वह यह चार प्रमाणों का निर्देश ठीक ही है।[3]

---

1. शब्दऐतिह्यानर्थन्तरभावादनुमानेऽर्थापत्ति सम्भवाभावानार्थांतरभा-वाच्चाप्रतिषेधः। न्या०सू० 2/2/2
2. अनुपपन्नः प्रतिषेधः कथम्? आप्तोपदेशः शब्द इति। न च शब्दलक्षणमैतिह्याद् व्यावर्तते। सोऽयं भेदसामान्यात् संगृह्यत इति। न्या०भा०2/2/2
3. प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानम् तथा चार्थापत्तिसम्भभावः। वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद् ग्रहण मर्थापत्तिरनुमानमेव। सोऽयं यथार्थ एवं प्रमाणोद्देशइति

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्तिककार भी इससे पूर्ण सहमत है। अन्तर्भाव दिखाने के लिए ही यह सूत्र है। शब्द में ऐतिह्य का अन्तर्भाव होता है, दोनों का समान लक्षण होने से शब्द का लक्षण ऐतिह्य से व्यावृत्त नही होता।[1] अनुमान में अर्थापत्ति सम्भव और अभाव का अन्तर्भाव होता है समान लक्षण होने से। यदि यह कहा जाये कि अर्थापत्ति का अनुमान से सग्रंह कैसे हो जाता है तो उत्तर है कि दोनों में से एक का प्रतिरोध दूसरे की स्वीकृति का विषय होने से जहाँ–जहाँ दो सम्बद्ध वस्तुओं में से एक का प्रतिरोध किया जाता हैं वहाँ–वहाँ दूसरी वस्तु की स्वीकृति देखी गई है। जैसे दिन में नही खाता इस कथन से "रात्रि में खाता है" यह प्रतीत हो जाता है।[2] सम्भव और अभाव भी अनुमान में आ जाते है। इनका अन्तर्भाव सामान्यतो दृष्ट अनुमान में होता है। इस प्रकार अन्तर्भाव हो जाने से उनका पृथक् उपदेश नही किया गया।

तर्कभाषाकार केशव मिश्र चार ही प्रमाणों का वर्णन कर अन्यों का इन्हीं में अन्तर्भाव दिखालाते हैं। उनके अनुसार अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण नही है। उन्होंने अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण पूर्वक खण्डन किया है। उनके अनुसार उत्पन्न न होने वाले अर्थात् अनुपपद्यमान अर्थ को जानकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना अर्थापत्ति नामक प्रमाण कहलाता है। जैसे कि "देवदत्त पुष्ट है।

---

1. शब्द ऐतिह्यमन्तर्भवति समानलक्षणत्वात्। न्या०वा० 2/2/2
2. अनुमानेअर्थापत्तिसंभवाभावानामन्तर्भावः। कथं अर्थापत्तिरनुमानेन संगृह्यते? द्वयोरेकतरप्रतिषेध्स्य द्वितीयाभ्यनुज्ञाविषयत्वात्–यत्र यत्र द्वयोर्वस्तुनारेकतरद् वस्तु प्रतिषिध्यते तत्र तत्र द्वितीयाभ्यनुज्ञा दृष्टा, यथा दिवा न भुङ्क्ते इत्यभिधानाद् रात्रौ भुङ्क्ते इति गम्यते। ——तदैव।——

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु दिन में नहीं खाता" यह देखने या सुनने पर उसके रात्रि भोजन की कल्पना कर ली जाती है। दिन में न खाने वाले व्यक्ति का पुष्ट होना रात्रि भोजन के बिना उत्पन्न नहीं होता इसलिए पीनत्व की अन्य प्रकार से अनुपपत्ति से होने वाली अर्थापत्ति ही रात्रि भोजन में प्रमाण हो जाती है और वह अर्थापत्ति प्रत्यक्ष आदि का विषय नहीं है। यदि ऐसा कहते हैं तो यह कथन ठीक नही है। क्योंकि रात्रि भोजन अनुमान का विषय है। जैसे कि देवदत्त रात्रि में खाता है यह प्रतिज्ञा है, क्योंकि दिन में न खाने पर वह पुष्ट है यह हेतु है। जो रात्रि में नही खाता वह दिन में न खाने पर भी पुष्ट नही होता। जैसे दिन तथा रात्रि में न खाने वाला व्यक्ति पुष्ट नही है यह उदाहरण है और यह देवदत्त वैसा अपुष्ट नही है, यह उपनय है इसलिए यह दिन तथा रात्रि में न खाने वाला नही है यह निगमन है। इस प्रकार केवल व्यतिरेकी अनुमान से ही रात्रि भोजन की प्रतीति हो जाने से अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण नही माना जा सकता । अतः अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है।[1]

---

1. अनुपपघमानार्थदर्शनात् तदुपपदकी भूतार्थान्तरकल्पनं अर्थापत्तिः। तथाहि, पीनो देवदत्तो दिवा न भुड.क्ते "इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते।--- पीनत्वाऽन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम्। नैतत्। रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात्। तथाहि अयं देवदत्तो रात्रौ भुङक्ते दिवा अभुंजानत्वे सति पीनत्वात्। यस्तु न रात्रौ भुड.क्ते नासौ दिवाअभुञ्जानत्वे सति पीनो यथा दिवारात्रौ चाभुञ्जानोअपीनो न चायं तथा तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात्। किमर्थमर्थापत्तिः पृथक्त्वेन कल्पनीयाः। तर्कभाषा अ० वि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभाव नाम का भी एक पृथक् प्रमाण है, ऐसी अनेकों की अवधारणा है क्योकि उस अभाव प्रमाण को अभाव का ग्रहण करने के लिए मानना ही होगा, क्योंकि घट आादि की अनुलब्धि से घट आादि के अभाव का निश्चय किया जाता है और उपलब्धि का अभाव ही अनुपलब्धि है। अतः अभाव प्रमाण के द्वारा घट आदि के अभाव का ग्रहण होता है। ऐसी उनकी अवधारणा उपयुक्त नही है। क्योकि यदि यहाँ घट होता तो भूतल के समान दिखलाई देता इत्यादि तर्क के साथ अनुपलब्धि से युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अभाव का ग्रहण हो जाता है। उसको भिन्न प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है।[1]

यहाँ पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है–भूतल में घट का अभाव है, इस प्रकार का अनुभव हुआ करता है। इस अनुभव में घट आदि के अभाव का ग्रहण होता है। इस अभाव के ग्रहण की प्रक्रिया यह है कि जब घट आदि पदार्थ की उपलब्धि के सभी साधन होते हैं किन्तु घट आदि नही है। उदाहरणार्थ उचित प्रकाश में चक्षु तथा भूतल का संयोग होने पर भूतल का प्रत्यक्ष हो रहा है किन्तु वहाँ घट का ग्रहण नही हो रहा। उपलब्धि के समस्त साधन प्रकाश, इन्द्रिय व्यापार आदि के होने पर भी प्रत्यक्ष योग्य घट की उपलब्धि नहीं होती तो हम निश्चय करते है कि भूतल में घट का अभाव है। यहाँ घट आदि की अनुपलब्धि ग्रहण न होने से घट आदि के अभाव का निश्चय होता है और अनुपलब्धि का अर्थ है उपलब्धि का अभाव। इसलिए यहाँ उपलब्धि का अभाव ही घटाभाव के ज्ञान का साधन है। अथवा अभाव ही ऐसा प्रमाण है जिसके द्वारा घटाभाव का ग्रहण होता है।

---

1. नैतत्। यद्यत् घटोऽवभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यदित्यादि तर्क–सहकारिणाअनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणेवाभावग्रहणात्। तर्कभाषा अ० वि०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस घटाभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों में से किसी के द्वारा भी नही हो सकता। क्योंकि इन्द्रिय का व्यापार तो भूतल आदि अधिकरण के ग्रहण में क्षीण हो जाता है किंच अभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी नही हो सकता। अतः प्रत्यक्ष द्वारा अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। अनुमान के द्वारा भी इसका ग्रहण सम्भव नही क्योकि अभाव के साथ व्यक्ति नही होता। इसी प्रकार उपमान तथा शब्द प्रमाण का भी विषय अभाव नही हो सकता। अतः अभाव नामक एक पृथक् प्रमाण है।

इसका निराकरण इस प्रकार हो जाता है कि हमारे यहाँ अर्थात् न्याय मत में घट आदि के अभाव का ग्रहण करने वाला अभाव नाम का कोई पृथक् प्रमाण नही है। अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष के द्वारा ही हो जाता है। इतना भेद अवश्य है कि अभाव के ग्रहण में दो ही सहकारी कारण होते हैं। एक तो यह तर्क कि यादि यहाँ घट होता तो भूतल के समान वह भी दिखा लाई देता। दूसरे प्रकाश,इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि सभी उपलब्धि के साधनों के होते हुए भी प्रत्यक्ष योग्य घट का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। इस प्रकार की अनुपलब्धि। फलतः घटाभाव आदि के ग्रहण में प्रकृष्ट कारण तो चक्षु आदि इन्द्रिय ही है क्योकि उसके बिना अभाव का ग्रहण नहीं होता, उसका व्यापार होने पर अभाव का ग्रहण हो जाता है। उपर्युक्त तर्क तथा घट आदि की अनुपलब्धि में दोनों चक्षु आदि इन्द्रिय के सहकारी होते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा ही घट आदि के अभाव का ग्रहण हो जाया करता है। उसके लिए अभाव नाम का पृथक् प्रमाण मानना युक्ति संगत नहीं है। अतः सिद्ध है कि प्रमाण चार ही होते हैं। अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का अन्तर्भाव इन्हीं चार में हो जाता है।

मध्ववमत में अर्थापत्ति और अभाव –

मध्वाचार्य के संम्प्रदाय में जयतीर्थ ने अपनी प्रमाणपद्धति में

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया है। उसने तीन प्रमाण स्वीकार किये हैं। अनुपपद्यमान अर्थ के दर्शन से उसके उपपादक की बुद्धि करना अर्थात् ज्ञान होना ही अर्थापत्ति है। जैसे चैत्र जीवित है और घर में नहीं है ऐसा ज्ञान होने पर उसका घर से बाहर होना उचित होता है। जो अनुमान का विषय है क्योंकि चैत्र जीवित भी है। और घर में भी नहीं है तो इसका अर्थ है कि वह कहीं अन्यत्र है क्योंकि जीवित है और घर में नहीं है, जैसे मैं जीवित हूं और अन्यत्र हूं। जीवित का और गृह में अभाव का मिलकर लिंगउत्पन्न होता है अतः यह पृथक् प्रमाण न होकर अनुमान ही है।[1]

अभाव नामक प्रमाण का अन्तर्भाव भी अनुमान में ही हो जाता है। जैसे यहां घट नही है इससे घट की अनुपलब्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। क्योंकि उपलब्धि के सभी साधन उपस्थित हैं यदि यहां घट होता तो उपलब्ध होना चाहिए था परन्तु घट उपलब्ध नहीं है। अतः घट का अभाव है। इस प्रकार यह अनुमान की ही प्रक्रिया है।

---

1. एतेष्वेवार्थापत्यादीनामन्तर्भावः तथाहि अनुपपद्यमानार्थदर्शनात्तदुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिः यथा जीवंश्चैत्रो गृहे नास्तीति ज्ञाने सति वहिर्भावज्ञानम्। अत्र यद्यप्येकैकस्य बहिर्भावलिंगत्वं नोपपद्यते व्यभिचारात्। तथाऽपि चैत्रोबहिरस्तु जीवनवत्वे सति गृहेऽसत्वात्। यो जीवन् यत्र नास्ति स ततोऽन्यत्रस्ति। यथाऽहमिति। मिलितयोर्जीवनगृहाभावयोर्लिंगत्वमुमपद्यत एव। प्र०प०श०प०

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समालोचना

अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने के प्रसंग में पूर्व मीमांसा और वेदान्तियों का ही विशेष आग्रह दृष्टिगत होना है। इसे यदि कुछ दार्शनिक दुराग्रह भी कहते हैं तो उसे भी अकारण या निराधार नहीं कह सकते। क्योंकि हम ऐसा कोई भी प्रयोजन नहीं देखते जिसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से और प्रत्यक्ष प्रमाण से न हो सकती हो। प्रायः पूर्व मीमांसक अपूर्ण वाक्यों की पूर्ति के लिए कुछ उपयोगी शब्दों की कल्पना कर लिया करते हैं और कभी–कभी अदृष्ट संस्कार जैसे अतीन्द्रिय तत्वों की कल्पना करने के लिए अर्थापत्ति को मानते हैं। इसी प्रकार अभाव ग्रहण के लिए कल्पना करने के लिए अर्थापत्ति को मानते हैं। इसी प्रकार अभाव ग्रहण के लिए अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानते हैं।

यहां विचारणीय यह है कि क्या कल्पना को प्रमाण माना जा सकता है? हम समझते हैं कि लौकिक व्यवहार में मुनष्य अनेक नई–नई प्रकार की कल्पना करता है उनमें से कुछ कल्पनाओं का आधार तो समझ में आता है और कुछ निराधार और व्याधि से प्रसूत होती हैं। जिन कल्पनाओं को कोई कुछ निराधार और व्याधि से प्रसूत होती है। जिन कल्पनाओं का कोई सुदृढ़ आधार होता है तो ऐसी कल्पनाओं को अनुमिति ज्ञान के अन्दर रखा जा सकता है। और उनका प्रमाण अनुमान से ही मानना युक्तियुक्त है जो कल्पनाएं हेतु के आधार से रहित होती हैं तो ऐसी कल्पनाओं को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

दूसरी बात यह है कि अनुपपद्यमान अर्थ की उपपत्ति के लिए जिस अर्थ की कल्पना की जाती है क्या उसका ज्ञान अनुमान से नहीं हो सकता। हम समझते हैं कि यह कथन करने का ही एक दूसरा प्रकार है। यह प्रमाण का प्रकार नहीं है। देवदत्तः रात्रौ भुङ्क्ते दिवा भुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्'' ऐसा अनुमान करके अभिप्सित की सिद्धि की जा सकती है। क्योंकि हमें देवदत्त के स्थूल होने का कारण ढूंढना है और वह रात्रि भोजन ही है उस रात्रि भोजन में पीनता ही हेतु है। इसमें अर्थापत्ति और क्या उपकार कर सकती है हम नहीं समझ पाते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुपलब्धि को भी पृथक् प्रमाण सिद्ध करने के लिए एक विशेष प्रयास किया गया है और वह कल्पित तर्कों का अवलम्बन लिया गया है वह भी पुतिकूष्माण्ड के तुल्य ही त्याज्य है भला जो आंखें घट की सत्ता को बता सकती है क्या वे घट के अभाव को नहीं बता सकती। भाव और अभाव सदा रहते हैं। यदि घट का एक स्थान पर भाव है तो उससे थोड़ी दूरी पर उसका अभाव भी है। तो इसके लिए अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है? यदि इसे पृथक् प्रमाण माना जायेगा तो संसार में जितनी वस्तुऐं है उन सभी के अभाव का ग्रहण करने के लिए पृथक् पृथक् अनुपलब्धि प्रमाण की आवश्यकता पड़ेगी। इस विषय में हमें न्याय का सिद्धान्त ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि घटाभाव भूतलम् यह ज्ञात करने के लिए विशेषण विशेष्य भाव से ही काम चल जाता है। विशेषण विशेष्य भाव प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत ही एक सन्निकर्ष है। जब उसी से घटाभाव का ग्रहण हो रहा है तो उसके लिए अनुपलब्धि प्रमाण मानकर गौरव क्यों किया जाय। जब हम दर्पण में केशों के कृष्णत्व को आंखों से देख सकते हैं तो क्या श्वेत केशों को देखने के लिए आंखों से भिन्न किसी ओर इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। कृष्ण केशों में जो श्वेतत्व का अभाव है और श्वेत केशों में कृष्णत्व का अभाव है। पासूंलपाद साधारण कृषक भी दपर्ण में देखकर यह बता सकता है कि मेरे केश काले हैं श्वेत नहीं या श्वेत है काले नहीं। यदि इन छोटे–छोटे वैषम्य से प्रमाणों की संख्या बढाई जायेगी तो प्रमाण असंख्य हो जायेगें। अतः अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकादश् अध्याय

प्रामाण्यवाद

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों एवं सभी प्रकार का ज्ञान उपलब्ध होता है। ज्ञान मीमांसा क्षेत्र में इसके बाद यह समस्या होती है कि जो ज्ञान हमें प्राप्त हो रहा है वह यथार्थ है अथवा अयथार्थ। इन ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा कैसे की जाये? इस प्रकार की अनेक शंकाये उत्पन्न होती हैं। इन शंकाओं के सम्बन्ध में न्याय, वैशेषिक, मीमासा, वेदान्त, सांख्य, योगादि भाष्यकारों एवं टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है। इस विषय में न्याय, वैशेषिक दर्शन का मत है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त जितने भी प्रयक्ष है उन सब को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। यथार्थ ज्ञान एवं अयथार्थ ज्ञान। यथार्थ ज्ञान का साधन ही प्रमाण है। इसे ही प्रमा आदि एवं विषय आदि नामों से पुकारा जाता है। हमें जो ज्ञान प्राप्त हो रहा है उसका प्रामाण्य या अप्रामाण्य का साधन कोई अन्य प्रमाण है। यह प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही व्यवसाय के आश्रयभूत बनते हैं। यह व्यवसाय प्रतिकूल परिस्थिति न होने पर अनुव्यवसाय नाम के मानस प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत होता है। इन दोनों का अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान अनुव्यवसाय से गृहीत होकर अनुमान से ग्रहण किया जाता है। जैसे तालाब से जल ज्ञान प्राप्त होता है, हम वहां जाकर जल पीते हैं। जब जल से प्यास बुझ जाती है तो संतोष होता है कि जो जल ज्ञान हमें प्राप्त हुआ था, वह प्रामाण्य संयुक्त अर्थात् यथार्थ रूप है। हमने अनुमान से जाना था। कभी-कभी इससे विपरीत दशा भी हो सकती है कि जब कोई व्यक्ति रेगिस्तान में जल ज्ञान प्राप्त करता है वह अपनी प्यास बुझाने के लिए वहाँ

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है किन्तु जल न होने की वजह से निराश लौटाता है, वह उस समय विचारता है कि जो जल ज्ञान प्राप्त हुआ था वह अयथार्थ अप्रामाण्य युक्त है।

इस प्रकार जल का ज्ञान प्रमात्मक हो चाहे अप्रमात्मक वह स्वयं अनुव्यवसाय नाम के मानस प्रत्यक्ष से गृहीत होता है।

वेदान्त में प्रत्यक्षादि छः प्रमाण है। उन छः प्रमाणों से छः प्रकार की प्रमा होती है। ये प्रमाएं यथार्थ (वास्तविक सत्य) हैं या अयथार्थ (अवास्तविक असत्य) हैं अर्थात् भ्रम रूप हैं ? इसे जानने का जो साधन है, उसके विषय में शास्त्रकारों में मतभेद है।नैयायिकों का कहना है कि "प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तिकः "प्रमात्व (प्रमा का यथार्थतत्व–सत्यत्व) स्वतोग्राह्य नहीं होता अर्थात् उस ज्ञान की साधन सामग्री से ही उसका ग्रहण नहीं होता क्योकि ज्ञान की सत्यता या असत्यता चक्षुरादि से ही ज्ञात होती है। मन्द प्रकाश में स्तम्भ आदि के विषय में "यह स्तम्भ है या पुरुष है–इत्यकार संशय तो अनुभवसिद्ध है। इसलिए ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः (ज्ञान ग्राहक सामग्री से ही) ज्ञात नहीं होता। किन्तु प्रामाण्य, उसका ग्राहक प्रमाण अनुमान है। अतः ज्ञान प्रामाण्य, अनुमान रूप पर प्रमाण से ग्राह्य होने के कारण ग्राह्य है।[1]

मीमांसकों का प्रामाण्य स्वतः और अप्रमाण्य परतः है। नैयायिकों को यह माननीय नही है। उनका कहना है कि प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः क्यों माना जाना चाहिए। नैयायिकों ने प्रमाणों का परतः प्रमाणता वा अप्रमाणता का सिद्धान्त ही अपनाया है।

---

1. एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रामाण्यं (स्वतएवोत्पद्यते ज्ञायते च "तथा हि स्मृत्यनुभव–साधारण) ....तच्च ज्ञानसामान्य–सामग्री प्रयोज्यं, नत्वधिकं गुणमपेक्षते प्रमामात्रे अनुगत गुणाभावात्। अद्वैतवेदान्त परिभाषा, पृ० 314

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार प्रमाणार्जित ज्ञान को भी सन्दिग्ध मानकर उसकी प्रमाणान्तरता से यथार्थता सिद्ध करने वाले परतः प्रामाण्यवादी नैयायिक है। उस ज्ञान को प्रामाणान्तर सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नही है। एक स्वतः सत्य सिद्ध मानने वाले मीमांसक लोग स्वतः प्रामाण्यवादी कहलाते हैं। साक्षेपं में एक प्रमाण से अर्जित ज्ञान को दूसरे प्रमाण के बल से सत्यता निर्धारित करना "परतः" प्रामाण्य" और किसी प्रमाण से अर्जित ज्ञान को स्वतः सिद्ध समझ लेना "स्वतःप्रामाण्य" कहलाता है।

प्रभाकर

यह ज्ञान को स्वतः प्रकाशमान मानते हैं। इनके मत में ज्ञान और मिथ्या दो विरोधी बाते हैं। जो ज्ञान है वह मिथ्या है ही नही यथार्थ है। इसलिए प्रमाणार्जित ज्ञान स्वयं प्रकाशवाला होने से यथार्थ है इसलिए उसकी यथार्थता में कोई सन्देह नहीं । अतः स्वतः प्रमाण है।

कुमारिल भट्ट

इनके यहाँ "ज्ञातता" के आधार पर स्वतः प्रामाण्य माना गया है। जब इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से ज्ञान होता है तब उसको "अयं घटः –यह घड़ा है– इस प्रकार का ज्ञान होता है। यह वैशेषिक ज्ञान अतीन्द्रिय है।

इस विषय में वेदान्त और मीमांसा का मत है कि ज्ञान की उत्पादक सामग्री में इसके प्रामाण्य की यथार्थता निहित रहती है। अतः प्रमाणों से गृहीत ज्ञान के प्रामाण्य की सिद्धि कहीं बाहर से नही आती अपितु जिस इन्द्रियादि से जो ज्ञान होता है उससे प्रामाण्य भी गृहीत हो जाता है। यथार्थ ज्ञान का नाम प्रमिति है। वह अपनी यथार्थता की परीक्षा की अपेक्षा नही रखता अपितु वह तो स्वतः प्रामाण्यवाद है। इसके लिए यह कहना उचित होगा कि जिस प्रकार कांच के तोडने से उसकी पैनी धार स्वतः उत्पन्न हो जाती है यह धार बनानी या पैनी करनी नही पड़ती। उसी प्रकार स्वतः प्रामाण्यवाद को किसी तर्क का सहारा नही लेना पड़ता। अतः जिस इन्द्रियादि से ज्ञान होता है उससे उसका प्रामाण्य भी गृहीत होता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय के अनुसार

न्याय के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही परतः माने गए हैं। इनका सिद्धान्त है कि ज्ञान का ग्रहण मानस प्रत्यक्ष द्वारा होता है।[1] तथा उसका प्रामाण्य अनुमान द्वारा,यहाँ पर ज्ञान का अर्थ यथार्थानुभव प्राप्ति की प्रक्रिया हो जाने पर जब हम अपने मत में उस ज्ञान की सत्ता का समर्थन करने लगते हैं तब शब्दों की शाब्दिक अभिव्यक्ति होती है। नैयायिक विद्वानों का कहना है कि ज्ञान का प्रामाण्य समर्थ प्रवृत्ति के आध ार पर है। किसी ज्ञान के अनन्त पुरुष की ज्ञानोपानुभवी प्रवृत्ति अवश्यंभावी समझनी चाहिए। यह प्रवृत्ति दो प्रकार की हो सकती है– एक सफल प्रवृत्ति दूसरी निष्फल। उपरोक्तोदाहरणों को देखकर स्पष्ट है कि एक जलाशय को देखकर प्रवृत्ति सफल होती है, जल से सम्पूर्ण कार्य की सिद्धि हो सकती है तथा दूसरे को देखने पर निराशा हाथ लगती है और मृगमरीचिका के सदृश प्रतीति होती है।

सारांश यह है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य के आधार पर क्रमशः फलवती प्रवृत्ति और निष्फलप्रवृत्ति होती है। फलवती प्रवृत्ति को ही समर्थ प्रवृत्ति कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार इन्ही प्रवृत्ति के आधार पर ज्ञान के प्रामाण्याप्रामाण्य का निश्चय करना युक्ति संगत होगा।

---

1. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। न्या० 1—15

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमान प्रयोग

अनुमान का प्रयोग निम्न प्रकार का है– विवादग्रस्त जल का ज्ञान प्रमाण है। क्योंकि उससे सफल प्रवृत्ति (समर्थ–प्रवृत्ति) उदय होती है, जो प्रमाण नहीं अप्रमाण है, उससे समर्थ प्रवृत्ति नहीं होती।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सभी ज्ञान उपलब्ध होता है। मीमांसा क्षेत्र में तो यह समस्या उत्पन्न हो गई जो ज्ञान हमें प्राप्त हो रही है वह यथार्थ है अथवा अयथार्थ। उस ज्ञान से प्रामाण्य की परीक्षा कैसे की जाय। न्याय,वैशेषिक,सांख्य योगादि भाष्यकारों एवं टीकाकारों में बहुत मतभेद है। यथार्थ ज्ञान अयथार्थ ज्ञान का साधन ही प्रमाण है। इसे ही प्रमादि नामों से पुकारा जाता है। यह प्रमाण और अप्रमाण्य दोनों ही व्यवसाय के आश्रयभूत बनते हैं। यह व्यवसाय प्रतिकूल परिस्थिति न होने पर अनुव्यवसाय नाम से मानस प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत होता है। अर्थात् दोनों का ज्ञान अनुव्यवसाय गृहीत अनुमान से ग्रहण किया जाता है। जैसे तालाब के पास जाकर जल प्राप्त किया उससे कार्य सिद्धि होने के बाद संतोष मिला और यह ज्ञान हुआ कि यह प्रमाण्य से युक्त यथार्थ है। यह यथार्थ रूप हमने अनुमान से जाना है। इसकी विपरीत दशा भी हो सकती है।

प्रमाण्यवाद की समस्या पर जिन दार्शनिकों ने विचार किया है उन्हें हम पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं।

1. सांख्य का मत स्वतः प्रामाण्याप्रमाण्य है।
2. नैयायिकों का मत परतः प्रामाण्याप्रामाण्य है।
3. स्वतः प्रामाण्य परतः अप्रामाण्य का पक्ष मीमांसक एवं वेदान्तियों का है।
4. बौद्ध दार्शनिकों का पक्ष स्वतः अप्रामाण्य है एव परतः प्रामाण्य।
5. सदैव सद्–सत्स्यात्सदितिनेव प्रामाण्यवाद प्रसिद्धार्थ ख्याति आदि जैन दार्शनिकों का।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्धों का मत परतः प्रामाण्य है। इन मतों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण मत न्याय, मीमांसा दर्शनों के मत माने जाते हैं। ये दोनों मत शास्त्रार्थ के विषय रहे हैं।

बौद्ध दर्शन में प्रामाण्यवाद

बौद्ध दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वान् अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः मानते हैं उनका कहना है कि कोई भी ज्ञान तब तक अप्रामाण्य ही माना जाता है जब तक उससे प्रेरणा पाकर मनुष्य ज्ञात वस्तु को प्राप्त नहीं कर लेता। प्रमाण ज्ञान तभी समझा जाता है जब वह विषय का प्रापक हो जाता है। अन्य शान्तिरक्षित आदि बौद्ध विद्वानों का मत है इस उक्त मान्यता के विपरीत है, उनका कहना है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः और अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों परतः हैं।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में मीमांसा और न्याय की मान्यताओं की विस्तृत समीक्षा प्राप्त होती है। न्यायदर्शन में वस्तु–स्थिति यह मानी जाती है कि कोई मनुष्य तो घट आदि में प्रामाण्य का निश्चय होने पर उसके ग्रहण करने या छोड़ने के लिए प्रयत्न करता है और अन्य मनुष्य घटादि के ज्ञान में प्रामाण्य के सन्देह की अवस्था में भी उसके ग्रहणादि के निमित्त प्रयत्नशील होता है। वहां प्रामाण्य का निश्चय तो तब होता है, घटादि के ग्रहण का लाभ होने पर, उस ज्ञान के आधार पर किया गया प्रयास सफल हो जाता।

---

1. प्रामाणत्वाअप्रमाणत्वे स्वतः सांख्यासमाश्रिताः।
   नैयायिकास्तेपरतः सोगताश्चरमामं स्वतः।
   प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
   प्रमाणत्वमस्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्। सर्वदर्शन संग्रहः।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन मतों में न्यायदर्शन के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः ग्राह्य नहीं है अपितु परतोग्राह्य है। यह स्पष्ट है कि प्रामाण्य ज्ञान के लिए सफल प्रवृत्ति जनक हेतु अनुमान रूप अन्य कारण की अपेक्षा होती है।[1]

प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में मीसांसा दर्शन के तीन आचार्यों में प्रथम प्रभाकर द्वितीय कुमारिल भट्ट और तृतीय मुरारि मिश्र के मत अधिक विख्यात हैं। मीमांसा दर्शन की मान्यता पर प्रामाण्य तो स्वतोग्राह्य है और अप्रामाण्य परतोग्राह्य। प्रामाण्य स्वतोग्राह्य का अर्थ है कि जिस सामग्री से प्रामाण्य का ज्ञान हो जाता है तब अन्य ज्ञान सामग्री की आवश्यकता ही नहीं।

सांख्यमत के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य है। बौद्ध दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। कुछ बौद्ध विद्वान् अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः मानते हैं। उनका कहना है कि जब तक कोई भी ज्ञान अप्रामाण्य माना जाता है तब तक उनसे प्रेरणा पाकर मनुष्य ज्ञान वस्तु को प्राप्त नहीं कर लेता। प्रमाण ज्ञान तभी समझा जाता है जब वह विषय का प्रापक हो जाता है।[2] शान्तिरक्षित आदि बौद्ध विद्वानों का मत है कि अभ्यास दशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः और अनभ्यास दशापन्न ज्ञान में दोनों परतः हैं।[3]

---

1. न्यायमंजरी में विस्तृत व्याख्या द्रष्टव्य है। पृ० 160–174
   कन्दली टीका का वर्णन द्रष्टव्य है। पृ० 213–220
2. सौगताश्चरमं स्वतः। सर्वदर्शनसंग्रह बौद्धदर्शन।
3. तत्वसंग्रह में यह संकेत प्राप्त होता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञातता नाम से धर्म की उत्पत्ति होती है। इसकी अभिव्यक्ति है। (मया घटो ज्ञातः) मैंने घड़ा जान लिया है। यह ज्ञातता बिना ज्ञान के पैदा नहीं होती इसलिए इसे अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान से उत्पन्न मानते हैं। इसी ज्ञातता के उत्पादक होने से ये लोग ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। "ज्ञातता" की उत्पत्ति के पश्चात् सिद्धि होने वाले ज्ञान के अस्तित्व को स्वतः प्रामाण्य मानते हैं अतः यह भी प्रामाण्यवाद का समर्थन करते हैं।

मुरारि मिश्र

नैयायिकों की ज्ञान प्रक्रिया को सम्मुख रख कर मीमांसकों के समर्थित स्वतः प्रामाण्यवाद को मानने वाले मुरारि मिश्र सबसे अनोखे हैं इसके सिद्धान्त का अध्ययन करने से स्पष्ट आभास होता है कि उनका मन्तव्य "आधा बगुला आधा सुआ" है इनके विषय में प्रसिद्ध मुरोरेस्तृतीयः पन्थाः की लोकोक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है। इनका स्वतः प्रामाण्य नैयायिकों का आधार लेकर खड़ा किया गया है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान का भान हमें अयं घटः इत्यादि व्यवसाय से होता है। व्यवसाय के पश्चात् यही अनुव्यवसाय कहलाता है मुरारिमिश्र अनुव्यवसाय से उत्पन्न "अयं घटः" इस ज्ञान के मान को प्रामाण्य के साथ–साथ उदित मानते हैं। प्रभाकर में मत के स्वयं प्रकाश रूप में ज्ञान यथार्थतः स्वतः प्रमाण होने का अधिकारी है।

---

1. डा0 उमेश मिश्र भारतीय दर्शन पृ० 247

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनर्घराघव में ब्रह्म मीमांसा शब्द का प्रयोग दिखाते हुए लिखा है, यत्र त्वं "ब्रह्ममीमांसा" तत्तवज्ञो दण्डधारकः। पुराधाश्चैव यस्याषवडिगरः प्रपितामहः। मुरारि का ज्ञान भी प्रामाण्य के लिए अनुव्यवसाय का मुखापेक्षी है। हाँ नैयायिकों की अपेक्षा ये तीनों किसी न किसी अंश में स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। न्यायकुसुमांजलि में उदयन ने प्रामाण्य की परतः उत्पत्ति को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उत्पत्तिगत परतस्तव अनुमान द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि प्रमा, ज्ञान उत्पादक हेतु से अतिरिक्त हेतु के आधीन है न्यायदर्शन और मीमांसादर्शन के प्रामाण्यवाद सम्बन्धी शास्त्रार्थ के विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। न्याय मत के अनुसार वास्तविक स्थिति ये है कि कोई मनुष्य घटादि के ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होने पर उसके लेने या त्यागने में यत्नशील होता है। दूसरा अन्य कोई व्यक्ति घटादि के ज्ञान में प्रामाण्य की संदेहावस्था में भी उस वस्तु के ग्रहणादि के लिए यत्न करता है। उस ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय तब होता जब घटादि का लाभ होने पर उस ज्ञान के आधार पर किया गया प्रयत्न सफल हो जाता है।[1]

"मया घटो ज्ञातः"' मैंने घड़े को जान लिया है यह कहकर प्रकट करता है। बाद में उसके कारण रूप में ज्ञान का अधिज्ञान होता है। उसका क्रम यह कहा जा सकता है कि जब मनुष्य को ज्ञातता का दर्शन होता है तब वह विचार करता है कि घटादि में ज्ञातता उसे दिखाई दे रही है। वह किसी अन्य कारण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि यदि उसे घटादि का स्वाभाविक धर्म का स्वाभाविक धर्म या कारण ज्ञान अधर्म माना जायेगा तब घटादि में सदा दृष्टिगत होने की आपत्ति होगी।[2]

---

1. जलादि ज्ञाने तस्य जलादि ज्ञाने ज्ञाते तस्य प्रामाण्यवक्षार्थं कश्चित् जलादौ प्रवर्तते........वस्तु गतिः। तर्क भाषा प्रमाण्यवाद प्रकरण।
2. तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेस्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य.....प्रामाण्यमप्यर्थापत्वेव गृहयते। तर्कभाषा प्रामाण्यवाद प्रकरण।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान का ज्ञान तो मानस प्रत्यक्ष से ही होता है।[1] वास्तव में ज्ञान न्यायानुसार एक गुण है। गुण सदा द्रव्याश्रयी रहता है। विषय के बिना ज्ञान शून्य होता है। अतः ज्ञान और उसके विषय का प्रतिबिम्ब होना आवश्यक है। तभी ज्ञान में प्रामाणिकता आ सकती है।

समालोचना

ज्ञानाधिगत करने के लिए हमें प्रमाणों की आवश्यकता होती है। किसी भी प्रकार के ज्ञान को हम प्रमाणों के माध्यम से ही ग्रहण कर सकते हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र में विभिन्न दार्शनिकों ने प्रमाणों की संख्या को अपने अभिमत के आधार पर स्वीकार की है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ये प्रमाण अपनी प्रमाणता के लिए स्वयं पर निर्भर हैं या इनकी प्रमाणता किसी अन्य प्रमाणों पर निर्भर है।

इस विषय में भी दार्शनिकों में मतभेद है। इनमें अद्वैत वेदान्त की मान्यता ही उचित प्रतीत होती है। ज्ञान का याथार्थ्यरूप अर्थात् प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है। एवं अप्रामाण्य परतः उत्पन्न होता है। जो इस प्रकार है स्मृति एवं अनुभव के साधारण और संवादिप्रवृत्ति के लिए अनुकूल प्रमात्व अर्थात् तद्वान् पदार्थ में तत्प्रकारक ज्ञान होना है और वह

---

1. स्वभावादेव विषयर्षियितोपपत्तेः अर्थज्ञानयोरेतादृश एक स्वाभाविक.............. विषयमत्वं न स्यात्। तर्क प्रामाण्यवाद करण अनेन तु केवल व्यतिरेक्यनुमानेन अभ्यासदशापन्न ज्ञानस्य प्रमाण्ये अवबोधिते......तस्मात् परत एवं प्रमाणयम्। तर्कभाषा प्रामाण्यवाद प्रकरण
द्रव्यश्रयी गुणः न्याय दर्शन।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान सामान्य की सामग्री का ही कार्य है। इसके लिए अधिक गुण की अपेक्षा नहीं होती है। स्वतोग्राह्यत्व का अर्थ है। दोष का अभाव रहते हुए यावद् स्वाश्रय का ग्रहण करने वाली सामग्री के द्वारा ग्रहण किया जाना। स्वाश्रय का अर्थ है – वृत्तिज्ञान उसका ग्राहक साक्षिज्ञान होता है। उसके द्वारा वृत्ति ज्ञान के ग्रहण करते समय वृत्तिज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य भी माना जाता है।

अप्रामाण्य ज्ञान सामान्य सामग्री का कार्य नहीं है। स्वयं उत्पन्न नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने पर प्रमा में भी अप्रामाण्य प्राप्त होगा। अतः वह दोष प्रयोज्य है। वैसे ही अप्रामाण्य यावत्स्वाश्रय ग्राहक साक्षिज्ञान से भी ग्राह्य नहीं है। क्योंकि अप्रामाण्य लक्षण के घटकों की वृत्ति ज्ञान से उपस्थिति नहीं होती। इस कारण साविज्ञान के द्वारा उसका ग्रहण होना सम्भव नहीं। अप्रामाण्य तो विसंवादि आदि हेतुओं से होने वाली अनुमिति आदि ज्ञानों का विषय है। अतः अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है और परतः ही जाना जाता है।

इस प्रकार निर्गलितोऽयमर्थः, कि प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न होता है और स्वतः ही जाना ज़ाता है तथा अप्रामाण्य परतः ही उत्पन्न होता है और परतः ही माना जाता है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वादश अध्याय

उपसंहार एवं निष्कर्ष

यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति की पिपासा प्रत्येक तत्वान्वेषी जिज्ञासु को होती है। जब हम किसी ज्ञान को अधिगत करते हैं तो यही सोचते है कि हमारा यह ज्ञान यर्थाथ ही हो, अयथार्थ नहीं। इसी यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हेतु भारतीय मनीषियों ने गहन चिन्तन किया है। भारतीय दर्शन की ज्ञानमीमांसा इसी पर विचार करती है कि क्या हमें यथार्थ ज्ञान हो सकता है? यदि यह संभव है तो इस यर्थाथ ज्ञान प्राप्ति के क्या–क्या साधन हो सकते हैं? यदि नहीं तो उसे प्राप्त करने में क्या व्यवधान हैं? भारतीय आस्तिक और नास्तिक दोनों ही प्रकार के दर्शनिक सम्प्रदाय के आचार्यों ने ज्ञान मीमांसा सम्बन्धी समस्त समस्याओं पर गहन चिन्तन कर उस सम्बन्ध में अपनी शेमुषायीनी का महत्व पूर्ण प्रदर्शन किया है।

भारतीय चिन्ताकों की यह ज्ञान प्राप्त करनके साधनों की पद्धति उनके तत्वमीमासा के सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण से भारतीय चिन्ताकों में महदन्तर है। न्याय दर्शन अपने तत्वमीमांसा में जिन जानने योग्य तत्वों का परिगणान करता है। वह उसे द्वादश प्रमेयों के नाम से जानता है। उसके अनुसार प्रमाणों की आवश्यकता इन्हीं प्रमेयों की सिद्धि के लिए है। प्रमाणों के अभाव में प्रमेयों की सिद्धि कथमपि संभव नहीं है। ये प्रमेय है आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, और अपवर्ग। मध्व मत में ईश्वर, जीव और प्रकृति हैं, सांख्य में पुरुष और प्रकृति

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही हैं, योग में ईश्वर को भी सम्मिलित किया गया है। जबकि अद्वैत वेदान्त में केवल एक मात्र ब्रह्म ही प्रमेय है। और यह सब विश्व उसी का विवर्त है। रामानुज इससे सहमत नहीं हैं उनके अनुसार ईश्वर, चित् और अचित् में तीनों ही प्रमेय हैं।

प्रमेयों के विषय में न्याय दर्शनकार महर्षि गौतम तथा अद्धैतवादी आचार्यों में विवाद है। पुनरपि न्याय दर्शन के अध्ययन से पता चलता है। कि वहां पर भी एक स्थान पर सोलह त्ववों का परिगणन किया गया है, दुसरे स्थान पर बारह प्रमेयों का कहीं उन्हीं के परवर्ती आचार्यो ने या समान तन्त्र वैशेषिक में सात पदार्थों का वर्णन उपलब्ध होता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है। कि क्या तत्व और पदार्थ प्रमेय नहीं है? यदि नहीं है तो इनका प्रतिपादन क्यों किया गया है और यदि है तो इनको प्रमेयों के अन्तर्गत क्यों नहीं रखा? बारह ही प्रमेय क्यों माने गये हैं। इसके उत्तर में महर्षि वात्स्यायन और उद्योतकर कहते हैं कि यद्यपि ये भी प्रमेय हैं परन्तु मोक्ष की भी प्राप्ति में इन बारह प्रमेयों के ज्ञान की ही आवश्यकता होती है। अतः मुख्यरूप से प्रमेयों के अर्न्तगत इन्हीं का परिगणन किया गया है। इन्हीं बारह प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है। पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रमाण का स्वरूप क्या होना चाहिए? अर्थात् प्रमाण का क्या लक्षण हो सकता है जिससे हम यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति कर सकने में समर्थ हो सके। विभिन्न दार्शनिकों ने प्रमाण का लक्षण किया है जो इस प्रकार है– विवाद निर्णय के साधन को प्रमाण कहते हैं। द्वितीय व्यापरवत्त सम्बन्ध से प्रमिति विभाजक उपाधि से अवछिन्न असाधारण कारण को प्रमाण कहते हैं तृतीय असन्दिग्ध अविपरीत, अनधिगत विषय के बोधरूप प्रमा के प्रति करण को प्रमाण कहते हैं। चतुर्थ अनधिगत ज्ञान के प्रति जो कारण हो उसे प्रमाण कहते हैं। पचंम सम्यक अनुभव के साधन को प्रमाण कहते है। षष्ठ प्रमा के

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण हो उसे प्रमाण कहते है। सप्तम् दोषो से असहकृत ज्ञान के प्रति जो करण हो उसे प्रमाण कहते हैं।जब हम उपर्युक्त प्रमाण के लक्षणों को सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं। तो यह पाते हैं। कि प्रत्येक दर्शनकार ने या तत्–तत् दर्शनानुयायियों ने अपने दर्शन के सिद्धान्त पर आपति न आये तदनुसार ही प्रमाण के लक्षण किये हैं। कोई भी दार्शनिक अपने सिद्धान्त के विपरीत अपने मुख से बात नहीं कर सकता। इसलिए उन्होंने अपने प्रमाण के लक्षण को अपने सिद्धान्तों की दृष्टि से रखकर ही बनाया है। तो भी विप्रतिपत्ति से बच नहीं सकते। पुनरपि अद्वैत वेदान्तियों ने प्रमाण का लक्षण अन्य दार्शनिकों से सर्वथा नूतन और गौरवादि दोषों से रहित किया है। वेदान्तियों के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों के लक्षण में गौरव आदि अनेक विप्रातिपत्तियां आ जाने से और उनका निराकरण भी असंभव होने से ग्रहणीय नहीं है।

अद्वैत वेदान्तियों ने प्रमाण का लक्षण किया है। कि " प्रमाकरणम् प्रमाणम्'' इस लक्षण में प्रत्येक पद सार्थक है। इस लक्षण में ''मा'' पद जो किया गया है। वह द्वैधी भाव के प्रति जो कुठारादि करण हैं उनमें अतिव्याप्ति न हो इसलिए दिया गया है। भ्रम ज्ञान के प्रति जो काच–कालादि दोषों से दूषित चक्षुरादि इन्द्रियाँ करण हैं उनमें अतिव्याप्ति न हो इसलिए लक्षण में ''प्र'' पद दे दिया है। प्रमाण का लक्षण केवल ''प्रमाणम्'' करने पर असभंव नामक दोष आ जाता है। अतः असंभव दोष के निवारणार्थ ''करण'' पद भी आवश्यक समझा।

प्रमाणों के भेद के विषय में भी दार्शनिकों में पर्याप्त वैमत्य दृष्टिगोचर होता है। चार्वाक् मतानुयामी एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं, वैशषिक, बौद्ध और जैन प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं। माध्वाचार्य, सांख्य योग, वल्लभ प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द तीन प्रमाण मानते हैं, नैयायिक उपमान को मिलाकर चार

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण स्वीकार करते हैं, प्रभाकर मीमांसक अर्थापत्ति को प्रमाण मानते हैं। कुमारिल भट्टानुयायी मीमांसक तथा अद्वैतवादी आचार्य अनुपलब्धि को भी मिलाकर छः प्रमाण स्वीकार करते हैं। इनमें से सांख्य व योग दर्शन का ही दृष्टिकोण उचित प्रतीत होता है। इन तीन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य तीन उपमान, अर्थापति और अनुपलब्धि प्रमाण को मानना युक्ति युक्त नहीं है। इनका अन्तर्भाव इन्हीं तीनों प्रमाणों में हो जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों का उपजीव्य है। न्याय दर्शन के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के साथ साक्षात सन्निकर्ष होने से जो ज्ञान होता है। वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। यहां पर अर्थ के ज्ञान के लिए इन्द्रियों से मन का और मन से आत्मा का संयोग अपेक्षित है। ज्ञान आत्मा को होता है। क्योंकि आत्मा ही ज्ञान का आश्रय न्याय ने माना है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उद्भूत, असन्दिग्ध और निश्चित ज्ञान जो प्रत्यक्ष है, उसमें प्राचीन नैयायिकों ने छः प्रकार का सन्निकर्ष स्वीकार किया है।

1. संयोग, 2 संयुक्त समवाय, 3 संयुक्त समवेत, समवाय, 4 समवाय, 5, समवेत समवाय 6. विशेषण विशेष्यभाव। यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद से दो प्रकार का होता है। निर्विकल्पक सविकल्पात्मक प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद किये गये हैं लौकिक ओर अलौकिक प्रत्यक्ष। इस लौकिक प्रत्यक्ष को न्याय शास्त्र में जन्य प्रत्यक्ष के नाम से भी जाना जाता है। यह जन्य प्रत्यक्ष घ्राणज, रासन, चाक्षुस, स्पार्शन, श्रोत्र और मानस भेद से छ' प्रकार का माना गया है। अलौकिक प्रत्यक्ष पुनः तीन प्रकार का है, सामान्य लक्षण प्रत्यासति, ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति और योगज प्रत्यासत्ति।

सांख्य व योग में विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रिय पर आश्रित बुद्धि व्यापार को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अथवा विषयसन्निकृष्ट इन्द्रिय से

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने वाले वृत्ति रूप ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। सांख्यमत में वृत्ति अर्थात व्यापार केवल सन्निकर्ष या सम्बन्ध के रूप में स्वीकारा गया है।

शंकर मत में प्रत्यक्ष का प्रयोजक तो प्रमाण चैतन्य का विषयाभावाच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद होना ही ज्ञानगत प्रत्यक्ष कहलाता है। विषयगत प्रत्यक्ष तो विषय का प्रमाता से अभिन्न हो जाना ही विषयगत प्रत्यक्षता का कारण है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रिय जन्यता और मन से विषयवृत्ति की बुद्धि के सम्मुख करना प्रत्यक्ष के प्रति कारण न होकर विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृचैतन्याभिन्न होना ज्ञानगत प्रत्यक्ष के प्रति कारण है, "प्रत्यक्ष प्रमा के प्रति जो करण हो वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। शंकराभिमत प्रत्यक्ष का लक्षण और उसकी कारणता समीचीन होने के कारण ग्रहणीय है।

इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ संशय विपर्ययादि से युक्त, अव्यवसायत्मक, व्यभिचारी ज्ञान भ्रम कहलाता है। जैसे सीप में चांदी की भ्रान्ति तथा बालू रेत में जल की भ्रांन्ति। इसी को विर्पय ज्ञान कहते है। यही अज्ञान भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद के नाम से विख्यात है।

न्यायदर्शनकार विपर्यय का लक्षण करते हुए कहते हैं कि विपरीतार्थ निश्चय जहां पर नहीं हो उसे विपर्यय जानना चाहिए। न्यायमंजरी में भ्रम की परिभाषा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि यदि किसी वस्तु में ऐसे गुण का वर्णन किया जाये जो उसमें न हो तो वह प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रान्तिमूलक ही होगा। न्याय दर्शन में ख्याति को दो भागों में विभक्त किया है विपरीत ख्याति तथा अन्यथा ख्याति सत् सर्प को देखा है वह अन्यत्र विद्यमान है अथवा पर्याप्त ग्राहक सामग्री के अभाव में कभी–कभी विपरीतख्याति अर्थात विपरीत ज्ञान भी उत्पन्न होता है।

बौद्ध दर्शन में असत् अथवा आत्मख्याति को स्वीकार किया है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असतख्याति शून्यवादी बौद्धों का मत है। तथा आत्मख्याति विज्ञानवादी बौद्धों का मत है। शून्यवादी मध्यामिक दृश्य प्रपंच को एवं विज्ञान को असत् कहते है। इनके अनुसार ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान तीनों ही असत्है। भ्रमस्थल में भी भ्रमाधिष्ठान शुक्ति असत् है। विज्ञानवादी बौद्ध आत्मख्याति वाद को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि विज्ञान या विज्ञप्ति के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ है ही नहीं। आत्म शब्द का यहां विज्ञान अर्थ गृहीत है। मीमांसा दर्शन में ख्यातिवाद को अख्याति नाम से जाना जाता है। प्रभाकरादि के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ है। इसलिए मीमांसको के अनुसार "इदं रजतम्" यहां "इदं" का प्रत्यक्ष भी सत्यज्ञान है और रजत की स्मृति भी सत्यज्ञान है।

अद्बैत वेदान्त में ख्यातिवाद को अनिर्वचनीय ख्याति के नाम से जाना जाता है। अद्बैत मतानुसार अविद्या अनिर्वचनीय है क्योंकि न उसको सत् कह सकते हैं और नही असत्। इसलिए यह अनिर्वचनीय है। भ्रमस्थल में भी न तो हम सर्प को सत् कह सकते है। क्योंकि प्रकाश के आने पर उसका बाध देखा जाता है। जबकि सत् का बाध नहीं होता और न ही असत् कह सकते हैं क्योंकि उसकी प्रतीति हमें हो रही है। जबकि असत् की प्रतीति नहीं होती है। अतः यह ज्ञान अनिर्वचनीय ही है।

रामानुज दर्शनानुयायियों ने सत्ख्यातिवाद को स्वीकारा है। उनके अनुसार सारा संसार सत् है और उसकी सत्ता यथार्थ है। उनके मत में कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं होता है। ज्ञान सदैव सत्य होता है और ज्ञान का विषय भी सत्य होता है। त्रिवृत्करण और पंचीकरण के सिद्धन्तों के अनुसार यह सत्य है कि समस्त पदार्थो में भिश्रण है। अतः ज्ञान असत् नहीं हो सकता। अतः ये सत्ख्यातिवादी माने जाते हैं।

विज्ञानभिक्षु ने भ्रम की व्याख्यामें सदसत्ख्यतिवाद का समर्थन किया

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। ''इदं रजतम्'' इस प्रकार भ्रम ज्ञान को विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चक्षुदोष के कारण शुक्ति स्वरूप विशेष धर्म की प्रतीति न होने के कारण ''इदं'' रूप जो शुक्ति का ज्ञान होता है वह प्रमा ज्ञान है क्योंकि वह सत्य वस्तु का ज्ञान है। अतः ज्ञान भासत्व है रजत ज्ञान सत्य नहीं है, क्योंकि ''इदं'' में ज्ञान अनुपस्थित है। जो वहां ज्ञान अनुपस्थित है उसका वहां ज्ञान सत्य नहीं हो सकता। रजतज्ञान असत्य होने के कारण असत् है। भ्रम स्थल में सर्वत्र यही दशा है। यदि कहा जाये कि सदसत् एकाधिकरण में दोनों कैसे रह सकते हैं? इसके उत्तर में विज्ञानभिक्षु का कहना है कि जैसे स्फटिक लोहित्य में विभवात्मना लौहित्य सत्य होता है। और स्फटिक प्रति बिम्बात्मना असत् होता है। वैसे यहां संभव है कि जिस प्रकार रजत् दुकान में स्थित सत् और शुक्त्यस्थ अध्यस्त रूप में असत् हैं यही मत समीचीन प्रतीत होता है।

जहां प्रत्यक्ष की गति नहीं होती वहां–वहां अनुमान प्रमाण उपयोगी होता है परन्तु यह अनुमान प्रत्यक्ष पर ही आधारित होता है। अनुमिति का कारण अनुमान कहलाता है – परामर्श ज्ञान में जन्य जो ज्ञान होता है वह अनुमान होता है। न्याय के अनुसार अनुमान तीन प्रकार का है – पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। कारण को देखकर कार्य के अनुमान को पूर्ववत् अनुमान कहते हैं जैसे मेघोच्छन्न घटा से वर्षा होने का अनुमान/कार्य को देखकर कारण के अनुमान को शेषवत् अनुमान कहते हैं जैसे गन्दा पानी तथा तीव्र युक्त धारा के प्रवाह को देखकर वर्षा का अनुमान किया जाता है। जिसकी गति नहीं देखी जाती यदि उसको अन्य स्थान में देखते है तो उसकी गति का अनुमान सामान्योदृष्ट अनुमान कहलाता है। आगे चलकर नव्य नैयायिकों ने इसी को, अन्वयी, व्यतिरेकी और केवल अन्वयव्यतिरेकी के भेद से तीन प्रकार का माना है और इस अनुमान के स्वार्थ व परार्थ के भेद से

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनः दो भाग किये हैं। स्वार्थानुमान का प्रयोग अपने लिए किया जाता है तथा परार्थानुमान का प्रयोग दूसरों के लिए। परार्थानुमान पंचावयवयुक्त होता हैं। प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन पंच अवयव है। अनुमान को मध्वदर्शन में निर्दोष का कारण माना है। समवृत्तिक, न्यूनाधिकवृतिक, परस्परपरिहारक तथा कुछ कहीं समाविष्ट और कही परस्पर परिहार के भेद से रहने वालों धर्मो को चार प्रकार का बताया है। इसमें अनुमान के तीन भेद किये हैं। कार्यानुमान कारणानुमान और अकार्यकरणानुमान। इसके पुनः दो भेद किये हैं। साधानानुमान और दूषणानुमान।

आचार्य शंकर मतानुयायिनों ने अनुमितिकरण को अनुमान कहा है और यह अनुमिति प्रमा व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञान जन्य है। अशेष साधनों का जो आश्रय तदाश्रित जो साध्य, उससे हेतु का जो सामानाधि ाकरण्य है वह व्याप्ति है। अद्वैत वेदान्त में अनुमान अन्वयीरूप एक ही है न केवल अन्वयी और नहीं केवल व्यतिरेकी। यही अनुमान स्वार्थ और परार्थ रूप से दो प्रकार का होता है। रामानुजाचार्य के मत में व्याप्त के व्याप्यत्वानुसंधान हेतु के द्वारा व्यापक विशेष की प्रमा को अनुमति कहते हैं और यही अनुमिति ज्ञान अनुमान है। रामानुजमत में अनुमान एक ही प्रकार का होता है – स्वार्थानुमान।

न्याय दर्शन में अनुमान का प्रयोजन केवल ईश्वर की सिद्धि के लिए किया है। क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार प्रत्यक्ष के माध्यम से नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष अपेक्षित होता है। जबकि ईश्वर के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय की पंहुच संभव नहीं है। इसलिए न्याय ने लिंग परामर्श को अनुमान कहा है। लिंग परामर्श से ही ईश्वर तक पहुंचा जा सकता हैं संसार की विचित्रता ही ईश्वर के ज्ञान में एक मात्र लिंग है किन्तु शंकर वेदान्त में अनुमान का यह लक्ष्य नहीं है। वहां ईश्वर की सिद्धि आगम प्रमाण से होती है।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमान का लक्ष्य है संसार का मिथ्यात्व सिद्ध करना।

अनुमान प्रमाण को निर्दुष्ट करने के लिए न्याय ने हेत्वाभासों को सूक्ष्म कल्पना की है। हेतु के लक्षण से रहित अहेतु जो हेतु के सदृश्य से हेतु के समान प्रतीत होते हैं हेत्वामास कहलाते हैं। हेतु और हेत्वाभासों में साधकत्व और असाधकत्व का भेद है। हेतु समस्त लक्षणों से युप्त होकर साधक होता है जबकि हेत्वाभास हेतु के समस्त लक्षणों से शून्य होकर असाधक होता है। महर्षि गौतम ने हेत्वाभास के पांच भेद किये हैं – सव्यभिचार, विरूद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत। ये हेत्वाभास अनुमान को निर्दुष्ट करने में पूर्णतः सहायक है।

ज्ञान के साधर्म्य से ज्ञेय की सिद्धि करना उपमान कहलाता है। अतिदेश वाक्य के स्मरण करने के साथ गौ की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान ही उपमान प्रमाण है। यह वाक्य सुनकर कि जैसी गाय वैसी नीलगाय वन में जाता है और वहां इस वाक्य के अर्थ का स्मरण करते हुए गौ की समानता से युक्त पिण्ड को देखता है, तब उस वाक्यार्थ के स्मरण के साथ गौ की समानता से युक्त पिण्ड का ज्ञान ही उपमान प्रमाण कहलाता है। क्योंकि वह उपमिति का कारण है।

अद्वैत वेदान्त में भी उपमान को पृथक् प्रमाण माना है। सादृश्य प्रमा के कारण के करण को उपमान कहते हैं जिस व्यक्ति ने शहर में गौ व्यक्ति को देखा हो, वह अरण्य में जाकर जब "गवय" को देखता है उस समय उसे "यह पिण्ड गाय जैसा है" ऐसा ज्ञान होता है। इन दोनों में से अन्वय और व्यतिरेक के बल से गवय में होने वाला जो गो सादृश्य है वह उपमान है।

उपमान प्रमाण को न्याय और मीमांसा के अतिरिक्त दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा शब्द प्रमाण के अर्न्तगत ही स्वीकार किया

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, जो उचित भी है।

जब प्रत्यक्ष और अनुमान भी कहीं–कहीं अगम्य हो जाते है, तो आगम का आश्रय लेना पड़ता है। आप्त पुरुषों द्वारा उच्चरित वाक्य को ही आगम कहते हैं। यथार्थ वक्ता आप्त कहलाता है शब्द–बोध के प्रति पदज्ञान करण है। पदार्थ ज्ञान व्यापार शब्दबोध फल और शक्ति सहायक है। अर्थात् शक्तिज्ञान से जन्य पदार्थ की उपस्थिति के द्वारा शब्द बोध रूपी फल उत्पन्न होता है। पद के साथ पदार्थ के सम्बन्ध विशेष का नाम शक्ति है। न्याय के अनुसार शक्ति सम्पन्न पद चार प्रकार के होते हैं योगिक, रूढ़ि योगरूढि और यौगिक रूढ़ि। इन पदों की वृत्ति दो प्रकार की होती है। शक्ति और लक्षण शब्द बौध के प्रति पदज्ञान और पदजन्यपदार्थोपस्थिति के चार कारण भी नैयायिक मानते हैं। वे हैं आकांक्षा, योग्यता आसत्ति तथा तात्पर्यज्ञान/माध्वमत में निर्दोष शब्द आगम कहलाता है। निरभिधेयता या अन्वयभावेन बोधकत्व विपरीतबोधकता, ज्ञातज्ञापकता, अप्रयोजनता, अनभिमतप्रयोजनता और अशक्य साधन प्रतिपादन आदि दोष रहित शब्द ही आगम है। यह दो प्रकार का होता है – अपौरूषेय और पौरुषेय। वेद अपौरूषेय है और इससे भिन्न पौरूषेय है।

अद्वैत वेदान्त में शब्द प्रमाण एक महत्वपूर्ण प्रमाण हैं इनके अनुसार जिस वाक्य से तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता वह वाक्य या आगम प्रमाण होता है। वाक्यज्ञान में आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान ये चार कारण होते हैं। शब्द जन्य पदार्थोपस्थिति शब्दबोध में कारण है। वह पदार्थ शक्य और लक्ष्य भेद से दो प्रकार का होता है। आगम के दो भेद किये हैं। लौकिक और वैदिक। लौकिक पौरुषेय है और वैदिक अपौरूषेय।

वेंकटनाथ के अनुसार जो अनाप्त व्यक्ति के द्वारा नहीं कहा गया हो, उस वाक्य से उत्पन्न अर्थ का ज्ञान ही शब्द प्रमाण है। अथवा

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कारणदोष एवं बाधक प्रत्यय से रहित होता है वही वाक्य शब्द प्रमा का जनक होता है। बल्लभ सम्प्रदाय में भी आप्तवाक्य को शब्द प्रमाण माना है। इनके यहां ईश्वर ही परम आप्त है।

वस्तुतः आप्त वाक्य ही शब्द प्रमाण है और आप्त पुरुष साक्षात्कृतधर्मा होता है उन्हीं साक्षात्कृतधर्मा व्यक्तियों अथवा ऋषियों के द्वारा किया गया कथन ही आप्त वाक्य आगम प्रमाण के रूप में स्वीकृत है।

अर्थापत्ति प्रमाण मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती ही स्वीकार करते हैं उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति है। जैसे कोई पुरूष दिन में भोजन नहीं करता किन्तु उसका शरीर पुष्ट दीखता है, भोजन के बिना ऐसी पुष्टि असंभव है। उससे यह निश्चित है कि वह पुरुष रात्री में अवश्य ही भोजन करता होगा। इस प्रकार पीनत्व रूप कार्य से रात्री भोजन रूप की कल्पना की जाती है यही अर्थापत्ति प्रमा है इस प्रमा के प्रमाण को अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं। यह अर्थापत्ति दो प्रकार की होता है – दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। श्रुतार्थापत्ति के दो भेद है – अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति।

इस प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण के अर्न्तगत हो सकता है। इसलिए इसको पृथक प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अनुपलब्धि को अद्वैतवादियों ने एक पृथक् प्रमाण माना है। ज्ञानरूप करण से उत्पन्न न होने वाला जो अभावानुभव का असाधारण कारण हो वही अनुपलब्धि रूप छठा प्रमाण है। यह अभाव चतुर्विध है – प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव। अन्योऽन्याभाव के दो भेद है। सोधाधिक और निरुपाधिक।

अन्य सभी दार्शनिकों ने अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान या प्रत्यक्ष प्रमाण में किया है। भाव और अभाव सदा साथ रहते हैं यदि घट का एक स्थान पर भाव है तो उससे थोड़ी दूर पर उसका अभाव

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

24.	कुमारिल भट्ट	श्लोकवार्तिक
25.	गंगेश उपाध्याय	तत्वचिन्तामणि
26.	पाणिनि	पाणिनि अष्टाध्यायी
27.	चरकाचार्य	चरक
28.	लोकाक्षि भास्कर	तर्ककौमुदी
29.	वात्स्यायन	न्याय भाष्य
30.	विश्वनाथ	न्यायसूत्रवृत्ति
31.	धर्मराजध्वरीन्द्र	वेदान्त परिभाषा
32.	वर्धमान	न्यायलीलावती
33.	गौतम मुनि	न्यायसूत्र
34.	गंगानाथ झा	न्याय खद्योत
35.	कणाद	वैशेषिक सूत्र
36.	कपिल	सांख्यसूत्र
37.	चिन्न भट्ट	तर्कभाषा प्रकार
38.	माध्वाचार्य	सर्वदर्शनसंग्रह
39.	सुश्रुताचार्य	सुश्रुत
40.	ईश्वकृष्ण	सांख्यकारिका
41.	विज्ञानभिक्षु	सांख्यप्रवचन भाष्य
42.	विज्ञानभिक्षु	विज्ञानामृत भाष्य
43.	विज्ञानभिक्षु	योगसार संग्रह
44.	विज्ञानभिक्षु	योगवार्तिक
45.	पंतललि	योगसूत्र
46.	व्यासदेव	योगभाष्य
47.	व्योमशिवाचार्य	व्योमवती
48.	शंकराचार्य	शारीरिक भाष्य

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

49.	" "	उपनिषद भाष्य
50.	आचार्य रामानुज	श्रीभाष्य
51.	चित्सुखाचार्य	तत्वदीपिका
52.	आनन्दबोध	न्यायमकरन्द
53.	वाचस्पति मिश्र	न्याय तात्पर्यपरिशुद्धि
54.	रामकृष्ण	वेदान्तशिरोमणि (टीका)
55.	सदानन्द	वेदान्तसार
56.	मधुसूदन सरस्वती	अद्वैत सिद्धि
57.	ब्रह्मानन्द	न्यायरत्नावली (टीका)
58.	न्यायतीर्थ	लघुवयाख्या
59.	आनन्दगिरी	न्यायनिर्णय
60.	वल्लभाचार्य	वेदान्त भाष्य
61.	वेंकटनाथ	न्यायपरिशद्धि
62.	"	न्यायसिद्धांजन
63.	श्रीनिवास	यतीन्द्रमतदीपिका
64.	लोकाचार्य	तत्वत्रय
65.	निम्बार्काचार्य	वेदान्तपारिजात
66.	गिरिधरमहाराज गोस्वामी	शुद्धाद्धैत मार्तण्ड
67.	बालकृष्ण भट्ट	प्रेमरत्नापर्व
68.	कुन्दकुन्दाचार्य	समयभृतम्
69.	शंकरानन्द	न्यायमाला

127857

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंगलभाषा ग्रन्थ संदर्भ सूची

1. Windolbend W.	History of Ancient Philosophy
2. Copelstion Frederick	A History of Philosophy
3. Grant Prscls	Oriental Philosophy
4. Magill Frank G.M.	Masterpices of World Philosophy Ist Summary (London)
5. Garus Paul	Cannon of Rerson & Virtues
6. Bernard Thess	Hindu Philosophy
7. Fuller Mc Murrin	A History of Philosophy
8. Channekegsevon	The concept of Mind in Indian Philosophy
9. R.C. Jain	Vedantic and budhist Reality
10. Edward Conne	Budhists Thoughts in India
11. Reith	Buddhists Philosophy
12. Bover Half	H istory of Modern Philosophy
13. Chicago	Philosophy of Ancient India
14. Lord Ceogr Allomend Union Govinda Lame	Outlline of Indian Philosophy
15. Vidya Bhushan	History of Indian Logic
16. Kuppuswami	A premier of indian Logic
17. S.C. Chatterjee	Nyaya Theory of knowledge
18. Datta	Six ways of Knowing.

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक परिचय

स्वामी मुक्तानन्द पुरी एक अद्‌भुत विलक्षण व्यक्तित्व के धनी हैं। आपका जन्म एक उच्च शिक्षाविद् तथा श्रीसम्पन्न घराने में हुआ। बाल्यकाल से ही आपके हृदय में ईश्वरप्राप्ति की भावना जागृत हुई। माता पिता तथा सम्बन्धियों के अत्यधिक अनुरोध पर आपने राजस्थान शिक्षाबोर्ड से हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर ली किन्तु हृदय में परम वैराग्य होने से आपने चौदह वर्ष की अल्पायु में ही सन्यास ग्रहण कर हरिद्वार की पर्वतगुफाओं की ओर प्रस्थान किया। कई वर्षों तक यहां आपने एकान्तवास कर जहां दर्शनशास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया वहां लोकोपकार की भावना से हौम्योपैथी के माध्यम से जनसाधारण का रोगोपचार भी किया। इसी काल में आपने संस्कृत, अंग्रेजी, पञ्जाबी, गुजराती तथा भारतीय विभिन्न भाषाओं का गहनतम अध्ययन कर भाषा के मर्म को अच्छी तरह गृहीत किया। वेद, संस्कृतव्याकरण, दर्शन, योग, वेदान्त, धर्मशास्त्र, स्मृति तथा नीतिशास्त्रों का भी आपका चिन्तन अद्‌भुत है। इसी का परिणाम है कि आपको संस्कृत भाषण प्रतियोगिताओं के विभिन्न मञ्चों पर प्रथमस्थान प्राप्तकर्ता के रूप में सम्मानित किया गया। आपकी योग्यता एवं प्रतिभा को देखकर हरिद्वारस्थ गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय ने आपको शिक्षा की उच्चतम् उपाधि पी-एच०डी० से अलंकृत किया। कई वर्षों तक आप पर्वत की गहनतम गुफाओं में योग की सतत साधना करते रहे तथा सम्प्रति भी समय समय पर आप उन्हीं गिरिकन्दराओं में समाधिस्थ होकर उस परमतत्त्व की ओर अग्रसर रहते हैं। जगद्‌हिताय स्थान स्थान पर भ्रमण कर अपना यौगिक उपदेश तथा योगशिविर के आयोजनों का कार्यक्रम करते हैं। आपके शिष्य प्रशिष्य भारत ही नहीं अपितु विश्वभर में व्याप्त हैं। योग की जिन उच्चतम विभूतियों को आपने अत्यल्प आयु में प्राप्त किया है, उन्हें बहुत कम सन्तजन प्राप्त कर पाते हैं।

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar